महाकवि

ग्रन्थावली

–: रचयिता :–
महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज

–: प्रकाशक/प्रकाशन :–
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)
श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी, सांगानेर (जयपुर)

प्रेरक प्रसंग : चारित्र चक्रवर्ती परम् पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के सुशिष्य आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि श्री सुधासागरजी महाराज एवं क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज व क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज के 1996 जयपुर वर्षायोग के सुअवसर पर प्रकाशित ।

संस्करण : 1996

मूल्य : रुपये 100/- मात्र

प्राप्ति :

- ▲ आचार्य ज्ञानासागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर (राज)
- ▲ श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी सांगानेर-जयपुर (राज.)

मुद्रक : निओ ब्लॉक एण्ड प्रिन्ट्स
पुरानी मण्डी, अजमेर
फोन : 422291

महाकवि

ग्रन्थावली

-: आशीर्वाद एवं प्रेरणा :-

पू. मुनि श्री सुधासागरजी महाराज
क्षु. श्री गंभीरसागरजी महाराज
क्षु. श्री धैर्यसागरजी महाराज

-: पुण्यार्जक :-

श्रेष्ठी श्री गणेश कुमार जी राणा
प्रिमियर ग्लास कम्पनी
जयपुर

प्रोत्साहन : श्री प्रदीप लुहाडिया, शास्त्री नगर, जयपुर

-: प्रकाशक/प्रकाशन :-

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र, ब्यावर (राज.)
श्री दिगम्बर जैन मंदिर अतिशय क्षेत्र संघीजी, सांगानेर (जयपुर)
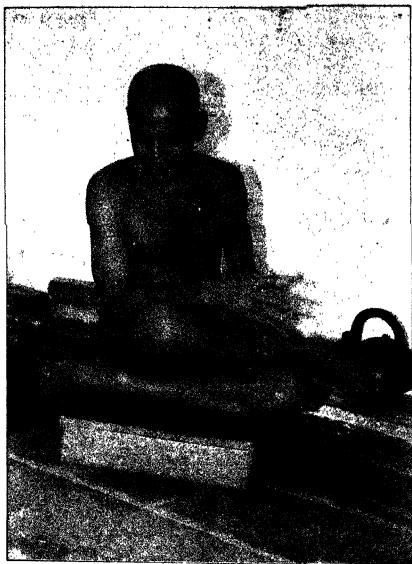
परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी

प्रकाशकीय समर्पण

पंचाचार युक्त
महाकवि, दार्शनिक विचारक,
धर्मप्रभाकर, आदर्श चारित्रनायक, कुन्द-कुन्द
की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज के कर कमलों में
एवं
इनके परम सुयोग्य
शिष्य ज्ञान, ध्यान, तप युक्त
जैन संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर कमलों में
आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र
ब्यावर (राज.) की ओर से
सादर समर्पित ।

प्रकाशकीय

चिरंतन काल से भारत मानव समाज के लिये मूल्यवान विचारों की खान बना हुआ है। इस भूमि से प्रकट आत्मविद्या एवं तत्व ज्ञान में सम्पूर्ण विश्व का नव उदात्त दृष्टि प्रदान कर उसे पतनोमुखी होने से बचाया है। इस देश से एक के बाद एक प्राणवान प्रवाह प्रकट होते रहे। इस प्रणावान बहूलमून्य प्रवाहों की गति की अविरलता में जैनाचार्यों का महान योगदान रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी में पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विश्व की आदिम सभ्यता और संस्कृति के जानने के उपक्रम में प्राचीन भारतीय साहित्य की व्यापक खोजबीन एवं गहन अध्यनादि कार्य मम्पादिक किये गये। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ तक प्राच्यवाङ्मय की शोध, खोज व अध्ययन अनुशीलनादि में अनेक जैन-अजैन विद्वान भी अग्रणी हुए। फलत: इस शताब्दी के मध्य तक जैनाचार्य विरचित अनेक अंधकाराच्छादिक मूल्यवान ग्रन्थरत्न प्रकाश में आये। इन गहनीय ग्रन्थों में मानव जीवन की युगीन समस्याओं को सुलझाने का अपूर्व सामर्थ्य है। विद्वानों के शोध-अनुसंधान-अनुशीलन कार्यों को प्रकाश में लाने हेतु अनेक साहित्यिक संस्थाए उदित भी हुई, संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में साहित्य सागर अवगाहनरत अनेक विद्वानों द्वारा नवसाहित्य भी सृजित हुआ है, किन्तु जैनाचार्य-विरचित विपुल साहित्य के सकल ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ/अनुशीलनार्थ उक्त प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। सकल जैन वाङ्मय के अधिकांश ग्रन्थ अब भी अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित भी हो तो सोधार्थियों को बहुपरिश्रमोपरान्त भी प्राप्त नहीं हो पाते हैं। और भी अनेक बाधायें/समस्याएँ जैन ग्रन्थों के शोध-अनुसन्धान-प्रकाशन के मार्ग में है, अत: समस्याओं के समाधान के साथ-साथ विविध संस्थाओं-उपक्रमों के माध्यम से समेकित प्रयासों की आवश्यकता एक लम्बे समय से विद्वानों द्वारा महसूस की जा रही थी।

राजस्थान प्रान्त के महाकवि ब्र भूलामल शास्त्री (आ ज्ञानसागर महाराज) की जन्मस्थली एवं कर्म स्थली रही है। महाकवि ने चार-चार महाकाव्यों के प्रणयन के साथ हिन्दी संस्कृत में जैन दर्शन सिद्धान्त एवं अध्यात्म के लगभग 24 ग्रन्थों की रचना करके अवरुद्ध जैन साहित्य-भागीरथी के प्रवाह को प्रवर्तित किया। यह एक विचित्र संयोग कहा जाना चाहिये कि रससिद्ध कवि की काव्यरस धारा का प्रवाह राजस्थान की मरुधरा से हुआ। इसी राजस्थान के भाग्य से श्रमण परम्परोन्नायक सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागर जी महाराज के सुशिष्य जिनवाणी के यर्थाथ उद्घोषक, अनेक ऐतिहासिक उपक्रमों के समर्थ सूत्रधार, अध्यात्मयोगी युवामनीषी पू मुनिपुंगव सुधासागर जी महाराज का यहाँ पदार्पण हुआ। राजस्थान की धरा पर राजस्थान के अमर साहित्यकार के समग्रकृतित्व पर एक अखिल भारतीय विद्वत/संगोष्ठी सागानेर में दिनांक 9 जून से 11 जून, 1994 तथा अजमेर नगर में महाकवि की महनीय कृति "वीरोदय" महाकाव्य पर अखिल भारतीय विद्वत् संगोष्ठी दिनांक 13 से 15 अक्टूबर 1994 तक आयौजित हुई व इसी सुअवसर पर दि जैन समाज, अजमेर ने आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण 24 ग्रन्थ मुनिश्री के 1994 के चार्तुमास के दौरान प्रकाशित कर/लोकार्पण कर अभूतपूर्व ऐतिहासिक काम करके श्रुत की महत् प्रभावना की। पू. मुनि श्री सान्ध्यि में आयोजित इन संगोष्ठियों में महाकवि के कृतित्व पर अनुशीलनात्मक-आलोचनात्मक, शोधपत्रों के वाचन सहित विद्वानों द्वारा जैन साहित्य के शोध क्षेत्र में आगत अनेक समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गई तथा शोध छात्रों को छात्रवृत्ति प्रदान करने, शोधार्थियों को शोध विषय सामग्री उपलब्ध कराने, ज्ञानसागर वाङ्मय सहित सकल जैन

विद्या पर प्रख्यात अधिकारी विद्वानों द्वारा निबन्ध लेखन-प्रकाशनादि के विद्वानों द्वारा प्रस्ताव आये। इसके अनन्त मास 22 से 24 जनवरी तक 1995 में ब्यावर (राज.) में मुनिश्री के संघ सानिध्य में आयोजित "आचार्य ज्ञानसागर राष्ट्रीय संगोष्ठी" में पूर्व प्रस्तावों के क्रियान्वन की जोरदार मांग की गई तथा राजस्थान के अमर साहित्यकार, सिद्धसारस्वत महाकवि ब्र. भूरामल जी की स्टेच्यू स्थापना पर भी बल दिया गया, विद्वद् गोष्ठि में उक्त कार्यों के संयोजनार्थ डॉ. रमेशचन्द जैन बिजनौर और मुझे संयोजक चुना गया। मुनिश्री के आशीष से ब्यावर नगर के अनेक उदार दातारों ने उक्त कार्यों हेतु मुक्त हृदय से सहयोग प्रदान करने के भाव व्यक्त किये।

पू मुनिश्री के मंगल आशिष से दिनांक 18.3 95 को त्रैलोक्य महामण्डल विधान के शुभप्रसंग पर सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में जयोदय महाकाव्य (2 खण्डों में) के प्रकाशन सौजन्य प्रदाता आर. के. मार्बल्स किशनगढ़ के रतनलाल कंवरीलाल पाटनी श्री अशोक कुमार जी एवं जिला प्रमुख श्रीमान् पुखराज पहाड़िया, पीसांगन के करकमलों द्वारा इस संस्था का श्रीगणेश आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के नाम से किया गया।

सन् 1995 का वर्षायोग किशनगढ़-मदनगंज में हुआ वहाँ पर महाकवि आ ज्ञानसागर कृत मुख्य महाकाव्य जयोदय पर शताधिक जैन अजैन अन्तराष्ट्रीय संस्कृत विद्वानों की सहभागिता में संगोष्ठा हुई 29 9.95 से 3.10.95 को सम्पन्न हुई जिस संगोष्ठी में जयोदय महाकाव्य को वृहद चतुष्टयी संज्ञा से संज्ञित किया गया था इसी दौरान महाकवि भूरामल ब्रह्मचारी का ऐतिहासिक आकर्षित स्टेच्यू दिगम्बर जैन श्रेष्ठी श्री निहाचन्द, यज्ञेशचन्द, सुशीलकुमार, राकेशमोहन, चन्द्रमोहन पहाड़िया परिवार द्वारा के डी.जैन महाविद्यालय के प्रांगण में स्थापित किया गया। तदुपरांत 1996 के एतिहासिक जयपुर वार्षायोग की सहभागिता में पंचम संगोष्ठी हुई। इसी दौरान जयपुर में ज्ञानसागर छात्रावास की स्थापना हुई।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र के माध्यम से जैनाचार्य प्रणीत ग्रन्थों के साथ जैन संस्कृति के प्रतिपादक ग्रन्थों का प्रकाशन किया जावेगा एवं आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय का व्यापक मूल्यांकन-समीक्षा-अनुशीलनादि कार्य कराये जायेंगे। केन्द्र द्वारा जैन विद्या पर शोध करने वाले शोधार्थी छात्र हेतु 10 छात्रवृत्तियों की भी व्यवस्था की जा रही है।

केन्द्र का अर्थ प्रबन्ध समाज के उदार दातारों के सहयोग से किया जा रहा है। केन्द्र का कार्यालय सेठ चम्पालाल रामस्वरूप की नसियाँ में प्रारम्भ किया जा चुका है। सम्प्रति 10 विद्वानों की विविध विषयों पर शोध निबन्ध लिखने हेतु प्रस्ताव भेजे गये, प्रसन्नता का विषय है 25 विद्वान अपनी स्वीकृति प्रदान कर चुके हैं तथा केन्द्र ने स्थापना के बाद निम्न पुस्तकें प्रकाशित की -

प्रथम पुष्प - इतिहास के पन्ने - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
द्वितीय पुष्प - हित सम्पादक - आचार्य ज्ञानसागर जी द्वारा रचित
तृतीय पुष्प - तीर्थ प्रवर्तक - मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के प्रवचनों का संकलन
चतुर्थ पुष्प - लघुत्रयी मन्थन - ब्यावर स्मारिका
पंचम पुष्प - अञ्जना पवनंजयनाटकम् - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
षष्टम पुष्प - जैनदर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप - डॉ. नरेन्द्रकुमार द्वारा लिखित
सप्तम पुष्प - बौद्ध दर्शन पर शास्त्रीय समिक्षा - डॉ. रमेशचन्द्र जैन, बिजनौर
अष्टम पुष्प - जैन राजनैतिक चिन्तन धारा - डॉ. श्रीमति विजयलक्ष्मी जैन

नवम पुष्प - आदि ब्रह्मा ऋषभदेव - बैरिस्टर चम्पतराय जैन
दशम पुष्प - मानव धर्म - पं. भूरामलजी शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागरजी)
एकादशं पुष्प - नीतिवाक्यामृत - श्रीमत्सोमदेवसुरि-विरचित
द्वादशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन - डॉ. कैलाशपति पाण्डेय
त्रयोदशम् पुष्प - अनेकान्त एवं स्याद्वाद विमर्श - डॉ. रमेशचन्द जैन, बिजनौर
चर्तुदशम् पुष्प - Humanity A Religion - मानव धर्म का अंग्रेजी अनुवाद
पञ्चदशम् पुष्प - जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अध्ययन- डॉ. आराधना जैन
षोडदशम् पुष्प - महाकवि ज्ञानसागर और उनके काव्य:एक अध्ययन- डॉ किरण टण्डन
सप्तदशम् पुष्प - **महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली** - रचयिता प.पू. आचार्य श्री विद्यासागरजी महाराज - महाकवि आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली चार खण्डों में प्रकाशित की जा रही है, आचार्य श्री स्वानुभवि कवि हैं श्रमण संस्कृति के उन्नायक बनकर कुन्द-कुन्द की निर्दोष परम्परा को प्रभावमान कर रहे हैं, आध्यात्मिक साधना के आप सिद्ध साधक हैं ही साथ ही शब्द साधना के भी आप कुशल साधक है, शब्दों के नाना नये अर्थ निकालने में कुशल शिल्पी हैं, आपकी शब्द साधना से मूकमाटी महाकाव्य सहित संस्कृत हिन्दी में अनेकों काव्य ग्रन्थ प्रसूत हुए हैं। साथ ही स्वपर प्रकाशित चारित्र साधना से लगभग 125 चेतन रत्नत्रय को धारण करने वाले श्रमणरत्न श्रमण संस्कृति को उपलब्ध हुए हैं। अर्थात 125 श्रमण व श्रमण जैनेश्वरी दीक्षा प्रदान कर श्रमण संस्कृति की परम्परा को जीवंत किया है। आपकी काव्य साधना से शब्दों में लालित्य, ओज, प्रसाद गुण सहजता से देखे जाते हैं, जो अध्यात्म दर्शन और साहित्य की त्रिवेणी प्रवाहित करते हैं, मूकमाटी, महाकाव्य को छोड़कर शेष रचित समस्त काव्य ग्रन्थों को हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम खण्ड में संस्कृत काव्य, द्वितीय खण्ड में हिन्दी काव्य, तृतीय खण्ड में पद्यानुवाद और चतुर्थ खण्ड में प्रवचनावली को निबद्ध किया गया है। पूर्व मे आचार्य श्री का साहित्य अनेक स्थानों से प्रकाशित किया गया है, लेकिन शोधार्थियों के लिए एक साथ सरलता से साहित्य उपलब्ध ना होने के कारण इनको एक साथ संकलित करके चार खण्डों में हमारे केन्द्र से प्रकाशित किया जा रहा है। पूर्व प्रकाशकों को साधुवाद प्रधान करते हुए यह अपूर्व साहित्य निधि, साहित्य उपासकों के लिए पिपासा शांत करने के लिए एवं संसार जगत के पाठकों के लिए सादर समर्पित।

पं. अरूणकुमार शास्त्री
ब्यावर (राज.)

मनोभावना

विगत बीस मास पूर्व की बात है, राजस्थान स्थित अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी में महावीर जयन्ती के शुभवसर पर मंच में उपस्थित था। उस समय 'समण सुत्तम्' का, जो सर्व सेवा संघ वाराणसी से प्रकाशित है, विमोचन हुआ। यह एक सर्व मान्य संकलित ग्रन्थ है। इसके संकलनकर्ता ब्र. जिनेन्द्र वर्णी, जो स्व. क्षु. गणेशप्रसाद जी वर्णी के अनन्य शिष्यों में एक हैं। आपने जैन सिद्धान्त का अवलोकन करके यह नवनीत समाज के सामने प्रस्तुत किया है। आपका यह कार्य प्रेरणाप्रद एवं स्तुत्य है।

इस ग्रन्थ में चारों अनुयोगों के विषय यथास्थान चित्रित हैं। अध्यात्मरस से ओत-प्रोत ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, अष्टपाहुड़, पंचास्तिकाय, द्रव्य संग्रह, गोमटसार आदि ग्रन्थों की गाथायें इसमें प्रचुर रूप से संकलित हैं। यह ग्रन्थ आद्योपान्त प्राकृत गाथाओं से संपादित है। पं. कैलाशचन्द सिद्धान्ताचार्य ने इस ग्रन्थ का संक्षेप किन्तु सुन्दर गद्यानुवाद किया है। जो जन प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ हैं उन्हें यह ग्रन्थगत-विषय को समझने में सम्पूर्ण सहायक है।

'समणसुत्तं' के मूल प्रेरणा-स्रोत समाज सेवी, सर्व सेवा-संघ के निर्माता विनोबा जी (बाबा) हैं। पच्चीससौवें वीर निर्वाण महोत्सव के उपलक्ष में जैन समाज से आपने माँग की थी कि यद्यपि जैन साहित्य विपुल मात्रा में है, तथापि उससे सब लोग लाभ ले नहीं पा रहे हैं। अतः समाज के सम्मुख एक ऐसी कृति प्रस्तुत की जाय जिससे कि जैनेतर भी जैन दर्शन से आत्मोन्नति कर सकें। वह कार्य आज सानन्द सम्पन्न हुआ।

मन में बहुत काल से विचार करवटें ले रहा था कि एक ऐसा काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया जाय कि आबाल-वृद्ध उस ग्रन्थ को संगीत के माध्यम से अल्प काल में ही पाठकर, जैन दर्शन की उपयोगिता एवं ध्रुव बिन्दु के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त कर सकें और जीवन को समुन्नत बना सकें। किन्तु काल-लब्धि के बिना भी कोई कार्य नहीं हो सकता और पुरुषार्थ से मुख मोड़कर काल-लब्धि की प्रतीक्षा करने से भी काल-लब्धि नहीं आ सकती है। इसी बीच बनारस के दो पत्रों के माध्यम से **'समणसुत्तम्' के पद्यानुवाद के लिए प्रेरणा प्राप्त हुई।** एक पत्र था श्रीमान् पं. जमनालाल जी शास्त्री का एवं दूसरा था श्रीमान् कृष्णराज जी मेहता का।

"शुभस्य शीघ्र" इस सूक्ति को चरितार्थ करते हुये, गुरु स्मृति के साथ ग्रन्थ का पद्यानुवाद प्रारम्भ किया। तीन चार स्थलों में गाथागत रहस्य को समझने में, पंडित कैलाशचन्द जी कृत गद्यानुवाद ने दीपक का काम किया है। किन्तु यह अनुमान नहीं था कि अनुवाद (पद्यानुवाद) इतने अल्प काल में सम्पन्न होगा। **पद्यानुवाद** में केवल साढ़े सात मास लगे और सिद्धक्षेत्र कुण्डलगिरि पर सानन्द सम्पन्न हुआ जो पाठकों के सम्मुख 'जैन गीता' के रूप में प्रस्तुत है।

जैन यह शब्द आज तक कई श्रीमानों, धीमानों एवं संतों की दृष्टि में भी जाति वाचक ही रहा है, जबकि वह उस सहज अजर अमर अमूर्त आत्मा की ओर मुमुक्षुओं को आकृष्ट करता है। विषय कषायों से ऊपर उठाकर उन्हें परम शांति पथ का प्रदर्शन कराता है। जैन इस शब्द की उत्पत्ति इस प्रकार है :- जयति स्वकीयानि इन्द्रियाणि आत्मनं स जिन:, जिन एव जैन इति। जो महापुरुष अपनी इन्द्रियाँ एवं आत्मा को पूर्णरूपेण जीतता है, उन्हें कुमार्ग से बचाता है वह 'जिन' है, 'जिन ही जैन' है जैन की गी: अर्थात् वाणी और उस गी: का भाव या सार के अर्थ में ता प्रत्यय का प्रयोग करने से गीता शब्द की निष्पत्ति होती है। अत: यह सुस्पष्ट हुआ कि उन जिनेन्द्र भगवान की वाणी के सार का नाम ही **"जैन गीता"** सिद्ध है।

पौद्गलिक परणतिरूप शब्दों में ही न उलझकर शब्दावबोध से अर्थावबोध एवं अर्थावबोध से उस परम सत्तारूप केन्द्र का भी अवगम प्राप्त कर, उस तक जाने का साधकों को, सतत् प्रयास करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्य को अपनी दृष्टि में रखकर साधनापथारूढ़ साधकों संतों ने स्व-पर कल्याण हेतु हित, मित, मिष्ट वचनों से हमें उस सहज चेतनामय सत्ता का उपदश दिया है और आजीवन उस परमसत्ता का मनन-मंथन कर नवनीत के रूप में विपुल साहित्य का निर्माण किया है।

झर झर झरता झरना,
कहता चल 'चल' चलना ।
उस सत्ता से मिलना,
पुनि पुनि पड़े न चलना ॥

लखना तज कर लिखना सहज शुद्धात्मा को अभीष्ट नहीं था, तथापि चिरानुभूत संकल्प-विकल्प के संस्कार ने चंचल मन को लिखने के विकल्प की ओर आकृष्ट किया, फलस्वरूप आभ्यन्तर परणति छूटी और बहि: परणति प्रवाहित हुई। छद्मस्थ का मनोबल इतना निर्बल है कि वह अन्तर्मुहूर्त के उपरान्त अपने चंचल स्वभाव का परिचय दिये बिना नहीं रहता। इसी से इस मन ने प्रस्तुत कृति लिखने का विकल्प किया। यह भी समयोचित ही हुआ। आगमोल्लेख है कि विषय-कषाय रूप अशुभोपयोग से बचने के लिये सहज स्वभाव शुद्धोपयोग की उपलब्धि के लिये तत् साधनभूत शुभोपयोग का आलंबन लेना मुनियों, सत्पथ साधकों एवं संतों के लिये भी सामयिक उपादेय है ही। **अत: मनोभावना यही है कि अध्यात्मरस से परिपूरित इस कृति का मनोयोग से आस्वादन कर भव्य पाठक परम तृप्ति का अनुभव करें!**

समता अरुणिमा बढ़ी,
उन्नत शिखर पर चढ़ी।
निज दृष्टि निज में गड़ी,
धन्यतम है यह घड़ी।

यह सब स्व. वयोवृद्ध तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागर महाराजश्री के प्रसाद का परिणाम है कि परोक्ष रूप से उन्हीं के अभय चिह्न चिह्नित कर-कमलों में जैन गीता का समर्पण करता हुआ ....।

गुरु चरणारविंदचंचरीक

ॐ शुद्धात्मने नम:

ॐ निरंजनाय नम:

ॐ श्री जिनाय नम:

ॐ निजाय नम:।

- आचार्य विद्यासागर

महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना

लेखक – मुनि श्री सुधासागर जी महाराज

अनादि अनन्त प्रवहमान दिगम्बर जैन धर्म की श्रमण संस्कृति, भारतीय संस्कृति में प्रधान एवं आदर्श संस्कृति रही है। भारतीय दर्शन की सरणि में (चिन्तनशीलता में) जैन दर्शन विशिष्ट स्थान रखता है। जैन दर्शन के सारस्वत साधकों ने जहाँ चारित्र एवं अध्यात्म साधना में सर्वोच्च स्थान प्राप्त किया है, वहीं पर राष्ट्र, समाज एवं साहित्य जगत् में भी अपना अमूल्य योगदान दिया है, श्रमण संस्कृति अध्यात्म प्रधान संस्कृति है। लगभग 2000 वर्ष पूर्व अध्यात्म जगत् के महान सूर्य आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी हुए हैं, जिन्होंने जैन दर्शन के यथार्थ अध्यात्म को अपनी प्रमा का प्रमेय बनाकर ज्ञान चेतना के पर्यावरण को परिमार्जित कर, विशुद्ध पर्याय रूप परिणत किया तथा शुद्धोपयोग में लीन होकर जीवनपर्यन्त अध्यात्म गंगा में डुबकी लगाते रहे। अध्यात्म रस को आपने खूब छक कर पिया। आप इसके आनन्द में इतने लवलीन हो गए कि यह अध्यात्म आपके जीवन का / द्रव्य का / गुण का पर्याय बन गया। शुद्ध / विशुद्ध पर्याय में परिणत होकर आपने भारत व्यापी पद-विहार किया तथा उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना से यथार्थ अध्यात्म गंगा प्रवाहित कर दीर्घकाल तक भारत वसुन्धरा के जन-जन के पाप, ताप और सन्तापों को शमित किया है।

समयान्तर में अध्यात्म मन्दाकिनी की यह निर्मलधारा सारहीन-क्रियाकाण्डों, मणि-मन्त्र-तन्त्रादि के प्रचाररूपी सिकता-प्राचुर्य से क्षीण सी होने लगी। अध्यात्म-शिखरों का स्पर्श करने वाली जैन संस्कृति को बाहर से और भीतर से भी अनेक-विध प्रहारों को झेलना पड़ा। इन प्रहारों से जर्जरित जैन संस्कृति कराहने लगी। विषम दु:खम काल में आचार्य कुन्दकुन्द और समन्तभद्र सदृश आगमानुकूल श्रमण सन्तों के दर्शन की संभावनाऐं हत-प्राय हो गयीं।

ऐसी दुरुह परिस्थितियों में अध्यात्म के तमसावृत गगन में प्राची से एक सहस्रकर दिनकर का उदय हुआ। विविध विद्या-रूपी सहस्रों मुक्ताओं का स्वामी होने के कारण जगत् जिन्हें आचार्य विद्यासागर जी महाराज के नाम से स्मरण करता है। जिनकी चर्या चतुर्थकालीन मुनीशों के तुल्य होने से समस्त जैन जगत् में जो "चौथे काल के महाराज" के विशेषण से विख्यात हैं, जिनकी वीतरागी छवि स्वत: सैकड़ों उपदेशों का सा-असर करने वाली है, उन आचार्यवर्य ने आचार्य कुन्दकुन्द एवं समन्तभद्र की ऊर्जा को अपने जीवन में मानो संचारित कर तथा उनके आदर्श पवित्र मार्ग पर चल कर जर्जरित अध्यात्म-मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है।

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साधना में / चर्या में कुन्दकुन्द प्रतिबिम्बित होते हैं तथा वाणी में आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसी निर्भीकता, नि:शंकता, निश्छलता, नि:शल्यता की छाया परिलक्षित होती है, अत: वे श्रमण संस्कृति के रक्षार्थ एक सजग प्रहरी प्रतीत होते हैं। परम वीतरागी एवं निर्मोही साधक होते हुए भी उनकी चर्या एवं छवि में गजब का सम्मोहन है जिससे लोग उनके दर्शन करते ही उनमें भगवान्

महावीर का प्रतिबिम्ब देखने लग जाते हैं । जिस स्थान या क्षेत्र को उनकी चरण रज का स्पर्श मिलता है, वह क्षेत्र समवशरण की शोभा को अधिगत हो जाता है।

यह संत धर्म एवं साधना के जीवान्त प्रतिरूप हैं, इनकी साधना आत्मोत्कर्ष की सीढ़ियाँ पार करती हुई शाश्वत सत्य एवं लोक मंगल को साधने वाली है, स्वपर कल्याणी स्वानुभूति वाले आचार्य श्री प्राय: चातुर्मास तीर्थक्षेत्र पर ही करते हैं, जिससे आत्मसाधना के साथ-साथ प्राचीन स्थापत्य सुरक्षित एवम् संवर्धित होता है । आपके आशीर्वाद से जहाँ एकत: प्राचीन तीर्थ क्षेत्रों का जीर्णोद्धार हुआ है, वहीं अपरत: नवीन तीर्थक्षेत्रों का निर्माण भी हुआ है, जिनमें सर्वोदय तीर्थक्षेत्र, ज्ञानोदय तीर्थ व पूर्णोदय आदि प्रमुख हैं । धर्माचरण एवं अध्यात्म के प्रचार के साथ-साथ आपकी विचारधारा सामाजिक एवं राष्ट्रहित के लिए प्रवाहित रहती है, आपकी सार्थक प्रेरणा के परिणामस्वरूप ही "प्रशासनिक शोध संस्थान" की स्थापना की गयी । पूज्य आचार्यश्री मूलत: आत्मिक/मानसिक रोगों के चिकित्सक हैं, भव से लिप्त आत्मा के मल को धोने में अनेक आत्माएँ आपके ही आशीष से सफल हो सकी है, चूंकि स्वस्थ देह में ही स्वस्थ मन निवास करता है, अत: देश की जनता के दैहिक स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए आपकी प्रेरणा से "भाग्योदय तीर्थों" की स्थापनाएँ आपके राष्ट्रीय अवदान के रूप में सदा स्मरण की जाती रहेंगी।

श्रमण संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य श्री के जीवन में "थ्री इन वन परसन" ("Three in One Person") की उक्ति को चरितार्थ होते हुए हमने अनुभव किया है क्योंकि आप एक प्रखर दार्शनिक, चारित्र सम्पन्न आध्यात्मिक एवं सरस साहित्यिक रूपी व्यक्तित्वों की त्रिवेणी के पवित्र संगम हैं । अत: आपकी आत्मा का संगीत दर्शन, साहित्य एवं अध्यात्म की त्रिवेणी बनकर प्रस्तुत हुआ है । यदि हम पूज्य गुरुवर के जीवन के विविध सुनहरे पहलुओं पर दृष्टिपात करें तो हम अनगिनत महान् व्यक्तित्वों की प्रतिच्छवि आपश्री में कर सकते हैं ।

आपकी रस-सिद्ध प्रेरणास्पद रचनाओं का काव्य-सौष्ठव यदि एक ओर सहृदय जन को आकर्षित करता है तो वहीं पर आध्यात्मिक और दार्शनिक तत्त्वों का संपुट सोने में सुगन्ध की उक्ति को चरितार्थ कर पाठक को संसार से पार, मोक्ष-सुख की शोभा की झलक देता है । आपने अपनी चारित्र-साधना से अपने आचार्यत्व की उत्कृष्ट सिद्धि को सिद्ध किया है तथा अन्यों को भी यह अनुपम प्रसाद बाँटने के उद्देश्य से 125 श्रमण/ श्रमणियों को साधना-पथ पर अग्रसर कराकर श्रमण संस्कृति को दीर्घ-जीवन धारा प्रदान की है ।

आचार्य श्री सारे भारत में अध्यात्म जगत् के मसीहा माने जाते हैं । आप निर्दोष छत्तीस गुणों का पालन करने वाले आदर्श आचार्य हैं, आप तो बाल-ब्रह्मचारी हैं ही परन्तु आप द्वारा दीक्षित संघ के समस्त तपस्वी भी बाल-ब्रह्मचारी ही हैं ।

इतिहास में मुझे सुनने / पढ़ने में नहीं आया कि कभी किसी आचार्य का सम्पूर्ण संघ बाल-ब्रह्मचारी था / या है । लेकिन हमारे आचार्य श्री ने इस भौतिक युग में भी युवक और युवतियों को संयम का मार्ग दिखाकर संघ को बाल-ब्रह्मचारी बनाकर एक नया स्वर्णमयी इतिहास रच दिया, जो स्वर्णांकन के योग्य है । विशुद्ध दिगम्बर जैन

श्रमण संस्कृति को काल के थपेड़ों एवं साम्प्रदायिकता के मद में चूर सत्ता के प्रहारों ने विकृत कर दिया था, जिससे श्रमण संघ की आदर्श रूप आराध्य-आराधक पद्धति भी अपने उच्चासन से च्युत हो गयी अत: इस विकृत रूढ़ि के निवारणार्थ आप श्री ने स्पष्ट घोषणा की, कि परिग्रह के सद्भाव में कोई भी व्यक्ति अथवा साधक पूजा का पात्र नहीं हैं। निष्परिग्रही मुनि ही पूजा के पात्र हैं अर्थात ऐलक, क्षुल्लक और आर्यिकाएँ, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदि असंयमी जीव परिग्रह के सदभाव होने से परिक्रमा, पाद-प्रक्षालन एवं अष्ट-द्रव्य से पूजन के योग्य नहीं हैं - अत: आपने अपने संघ में ऐलक, क्षुल्लक एवं आर्यिका गण को इस विकृत रूढ़ि से बचाकर आदर्श, आराधक पद्धति को सुरक्षित किया है ।

ऐसे आदर्श आचार्य का जन्म दक्षिण के कर्नाटक प्रान्त के बेलगाँव जिले के सदलगा ग्राम में आश्विन शुक्ला पूर्णिमा (शरद पूर्णिमा) 2003 विक्रम संवत् गुरुवार को रात्रि 11.30 बजे हुआ था । गुरुवारी पूर्णिमा मानो संकेत कर रही हो कि यह बालक गुरु बनकर पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान विश्व को शीतल-किरणें प्रदान करेगा और संसार की उष्णता को शान्त करेगा । इन का जन्म नाम विद्याधर रखा गया, जो इंगित करता है कि विद्याधरों के समान यह सारे भारत में विहार करेगा एवं मुक्ति की सद्विद्याओं का वितान करेगा । आपके पिता का नाम श्री मलप्पा जैन (अष्टगे) था, जो बाद में मुनिवर श्री मल्लिसागर जी महाराज के नाम से जाने गये / माताजी के नाम के शुभाक्षर हैं - श्रीमती ''श्रीमती'' जो पश्चात् काल में आर्यिका समयमती माताजी के नाम से जानी गयीं ।

विद्यालयी औपचारिक शिक्षा मात्र नवमी कक्षा तक थी, महान् पुरुषों की शिक्षा और प्रतिभा स्कूली शिक्षा तक ही सीमित नहीं रहती । उनकी शिक्षा का क्षेत्र तो समस्त संसार होता है । पूरे संसार और उसके यथार्थ का अनुसन्धान करने वाली अनुभव की पाठशाला में वास्तविक शिक्षा प्राप्त करते हैं। मातृभाषा कन्नड़ और स्कूली भाषा मराठी होने पर भी आपका हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत, अपभ्रंश, प्राकृत आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार है । सन् 1967 में आपने आचार्य श्री देशभूषण जी महाराज से ब्रह्मचर्य व्रत लेकर संसार-भ्रमण का मार्ग बन्द कर दिया । तथा मोक्ष मार्ग की ओर चरण बढ़ाने के लिए आप आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के पास रहकर लगभग 3-4 वर्ष तक ज्ञानार्जन किया तथा 30 जून 1968 आषाढ़ शुक्ला पंचमी विक्रम संवत् 2025 को अजमेर शहर में आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज के द्वारा दिगम्बरी दीक्षा धारण की । आपके गुरु ने आपको पूर्ण गुरुपद के योग्य जानकर 22 नवम्बर, 1972 मगसिर कृष्णा 2 संवत् 2029 को नसीराबाद में अपना आचार्य पद आपको देकर आपके ही निर्देशन में लगभग 180 दिन की यम-संल्लेखना धारण कर समाधि ली थी । आचार्य श्री हवा के समान नि:संग, सिंह के समान निर्भीक, मेरु के समान अचल, पृथ्वी के समान सहिष्णु, समुद्र के समान गंभीर, जल के समान निर्मल, सूर्य के समान तेजस्वी हैं । आपने जहाँ शिरोमणी चारित्र की साधना की है वहीं पर आप साहित्य जगत् में शिरोमणीभूत साहित्य साधक भी हैं । आपकी शब्द साधना ने आपको शब्द-वेधा (ब्रह्मा) बना दिया है ।

शब्द आपके नाना अर्थ के अनुरूप इस प्रकार नर्तन करते हैं, मानो आपकी प्रतिभारूपी रिमोट कन्ट्रोल द्वारा संचालित हो रहे हैं । काव्यगत शब्दों के अर्थ तत्त्व को नवीन प्रतिमान प्रदान करते हुए शब्दों के व्यत्पत्तिबल से नवीन अर्थ प्रदान करना आपका वैशिष्ट्य है । आपने कालजयी कृति "मूकमाटी" महाकाव्य सहित हिन्दी एवं संस्कृत में 39 रचनायें की है अतः आप अध्यात्म के विविध विशेषणों से युक्त होते हुए साहित्य जगत् की सर्वोच्च उपाधि "महाकवि" के भी पूर्ण अधिकारी हैं। हिन्दी एवं संस्कृत साहित्य के क्षेत्र में इस बीसवीं शताब्दी में आपका विशिष्ट योगदान है, संस्कृत काव्यों में कुत्रचित् शब्द क्लिष्टता, गरिष्ठता, वरिष्ठता पाठक की प्रमा को द्राविड़ी प्राणायाम करने के लिए बाध्य करती है । लेकिन हिन्दी काव्यों की शब्द सरलता/सहजता के प्रवाह में ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुणों की सरगम ध्वनि की स्वर-लहरी पाठक के हृदय स्थल को आनन्द से भर देती है । आपका साहित्य अनुप्रास एवं द्विसन्धानी अर्थों की विशेषताओं को लिए हुए रहता है । कवि शब्द शिल्पी होते हुए भी शब्दों पर विजय प्राप्त करना कवि का साध्य नहीं है बल्कि अपनी विचारों की भावाभिव्यक्ति कर जनमानस को सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते हुए कर्म एवं इन्द्रिय विजेता बनाना रहा है । शब्द तो मात्र अपनी विचारधारा को प्रवाहित करने के लिए, किनारे बन कर कवि की प्रमा में सहज ही अवतरित हुए हैं । शब्द एवं शब्दार्थ, शब्दकोशों के पन्नों से बलात् नहीं खींचे गये हैं बल्कि जीवन की जीवन्त दैनन्दिनी (डायरी से) से स्वतः प्रसूत हुए हैं । अतः कहीं-कहीं कवि को शब्द कोष प्रेमियों के कोप का भी भाजन बनना पड़ा है ।

शब्द शास्त्री वैयाकरणों से एवं लकीर के फकीरों द्वारा व्याख्यात अर्थों से बेफिक्र होकर महाकवि ने साहित्य जगत के अन्तर्गत नवीन विचार धारा देकर गौरवान्वित किया है । शब्दों के अक्षरों की विलोम प्रक्रिया से एवं शब्दद विच्छेद विधि से अर्थगत आन्दोलन कर तथा जनमानस का अभिनन्दन स्वीकार कर जनप्रिय मोक्षमार्गी नेता के रूप में जगत ख्याति प्राप्त की है । ऐसे ख्यातिलब्ध साहित्यकार महाकवि आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज की साहित्य साधना का (सन् 1996 तक की साहित्य साधना का) संक्षिप्त परिचय यहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा है -

संस्कृत साहित्य

भारतीय संस्कृति में भाषा गत सौष्ठव से संस्कारित/परिमार्जित संस्कृत भाषा, प्रधान भाषा मानी जाती है । व्याकरण की गरिष्ठता के कारण यह पारिवारिक एवं सामाजिक व्यवहार में प्रचुर प्रचलन में न आकर विशेषतया साहित्य क्षेत्र में पल्लवित/पुष्पित होती रही है ।

जैन वाङ्मय में साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से इसका स्थान तीसरा है; क्योंकि इसके पूर्व जैन साहित्यकारों का प्राकृत एवं अपभ्रंश पर सर्वाधिकार सुरक्षित रहा है । लगभग प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी से ही संस्कृत भाषा में जैन साहित्य दृष्टिगोचर होता है । उसके बाद प्राय: संस्कृत भाषा में जैन साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा जाता रहा है ।

बीसवीं शताब्दी के महान संस्कृतज्ञ विद्वान ऋषि, मेरे दादा गुरु महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज ने संस्कृत भाषा में 4-4 महाकाव्यों सहित अनेकों काव्य लिखे हैं । उन्हीं के प्रधान पट्टशिष्य मेरे गुरुवर/पूज्यवर आचार्यश्री विद्यासागरजी महाराज ने भी निम्न साहित्य सृजित किया है :-

श्रमण शतकम्

यह काव्य आपने संस्कृत भाषा में दिगम्बर श्रमणों के सम्बोधनार्थ लिखा है। जिसमें कहा है कि श्रमण को बाहरी प्रवृतियों से हटकर आभ्यंतर चेतना को अपनी अनुभूति का विषय बनाना ही साध्य होना चाहिये । आत्मा और परमात्मा के अलावा समस्त विकल्पों को त्यागकर, इन्द्रिय एवं परिषह विजयी बनना चाहिए रत्नत्रय की सिद्धि कर, निर्विकल्प बन, अपने आत्मस्वरूप में रम कर अपनी आत्मा को भगवान जैसी आत्मा बनाना चाहिये । 36वें श्लोक में कवि ने भावना भायी है कि :- दिगम्बर मुद्रा को धारण करने वाले दिगम्बर साधु शुद्धात्मा एवम् प्रशम भाव का त्याग न करें क्योंकि प्रशम भाव से ही जन्म मृत्यु का क्षय होता है । यथा -

यस्य हृदि समाजातः प्रशम भावः श्रमणो यथाजातः ।
दूरोऽस्तु निर्जरातः कदापि मा शुद्धात्मजातः ।।36।।

परिग्रहवान् मुनि हो या गृहस्थ किसी को भी शुद्धात्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा 48वें श्लोक में कहा है कि निश्चयनय से रहित साधु भी यदि विषयों को त्यागकर संयमाचरण से अलंकृत होता है तो भी परम्परा से मोक्षमार्गी हो सकता है लेकिन किसी भी स्थिति में गृहस्थ एवं असंयमी को मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, यथा

न निश्चयेन नयेन किन्त्वलङ्कृतस्तद्विषयेण येन ।
यस्तं व्रजेन्नयेन मुक्तिरसंयमिनस्तान् ये न ।।48।।

शिथिलाचार का निषेध करते हुए कहा है कि नग्न होने मात्र से मोक्ष मार्ग नहीं होता है क्योंकि नग्न तो पशु भी होते हैं यथा -

न हि कैवल्य साधनं केवलं यथाजातप्रसाधनम्
चेन्न पशुरपि साधनं व्रजेदव्ययमञ्जसा धनम् ।।78।।

श्रमण का परमात्मा से अनुराग किए बिना कल्याण नहीं हो सकता है । कवि ने कहा है कि जो परिग्रहों को त्यागकर, इन्द्रियों को वश में कर अपनी रत्नत्रय रूपी खेती को विशुद्ध भावों से सिंचन करते हैं, ऐसे साधुओं की मैं वन्दना करता हूँ । इस प्रकार इस काव्य में अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध भावों को प्राप्त करने की प्रेरणा दी है । शब्द संचय करने में कवि ने विश्वलोचन कोश का प्रयोग किया है । श्लोकों में शब्दों की कठिनता दृष्टिगोचर होती है । काव्य में अनुप्रास, श्लेष तथा यमक प्रमुखता लिए हुए हैं । क्वचित्, कदाचित्, उत्प्रेक्षायें अभिव्यंजित होती हैं । पद लालित्व ध्वनि तथा अर्थगौरव पदे-पदे विद्यमान है । यह ग्रन्थ आर्याछन्द में लिखा गया है । पाँच श्लोकों में मंगलाचरण है, जिसमें वर्धमान स्वामी, भद्रबाहु, कुन्दकुन्द आचार्य, स्व. गुरु आचार्य ज्ञानसागर एवं सरस्वती का स्तवन किया है । 94 श्लोकों में कवि ने श्रमणों

को आध्यात्मिक दृष्टि से हेय-उपादय का उपदेश दिया है । अन्त में 100वें श्लोक में अपनी लघुता एवं 101वें श्लोक में गुरु ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम श्लेषात्मक ढंग से निबद्ध किया है, 6 श्लोकों में प्रशस्ति दी है, जिसमें कहा है कि ज्ञानसागर के शिष्य विद्यासागर ने विक्रम सम्वत् 2031 वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को यह काव्य पूर्ण किया । इस प्रकार कुल 107 छन्द इस काव्य ग्रन्थ में हैं । प्रशस्ति के पद्य में छन्द भिन्नता भी है, अत: इन्हें ग्रन्थ की मूल संख्या में न जोड़कर अलग से दिया है (101 + 6) मूल श्लोकों का अन्वय एवं वसन्ततिलका छन्द में हिन्दी पद्यानुवाद कवि ने स्वयं किया गया है । यह अनुवाद-शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद है । यह काव्य ग्रन्थ पूर्व में कई स्थानों से प्रकाशित किया जा चुका है ।

निरञ्जन शतकम्

जैसा कि इस ग्रन्थ का नाम है वैसे ही अञ्जन से रहित शुद्ध आत्म तत्त्व का वर्णन करने वाला है । इसमें कवि ने स्वयं के द्वारा स्वयं को उपदेश दिया है, क्योंकि एक आदर्श आचार्य पर-कल्याण के साथ-साथ स्वयं के कल्याण में भी निहित रहते हैं । कवि भी एक सम्यक् आदर्श आचार्य परमेष्ठी हैं । कवि ने संसार पदों को विपदाओं का कारण माना और निजपद को ही विपदाओं से रहित कहा हैं । यथा -

परपदं ह्यपदं विपदास्पदं निपदं च निरापदम्
इति जगाद जनाब्जरविर्भवान् ह्यनुभवन् स्वभवान् भववैभवान् ॥3॥

शुद्ध निरंजन स्वरूप को प्राप्त करने के लिए कवि ने भगवान की भक्ति को निमित्त बनाया है, कवि ने कहा है कि भगवान की प्रसन्न मुद्रा देखने से पता लगता है कि आप के अन्दर आनन्द का सागर लहरा रहा है अत: मैनें भी इस मुद्रा को देखकर आनन्द के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा धारण कर ली है । यथा -

त्वदधरस्मितवीचिसुलीलया विदितमेव सतां सह लीलया ।
त्वयि मुदम्बुनिधिर्हि नटायते अहमिति प्रणतोऽप्यपटाय ते ॥18॥

जिनेन्द्र भगवान् को नाना प्रकार के विशेषणों से सम्बोधन करके भगवान की स्तुति की है । यह काव्य द्रुतविलम्बित छन्द में लिखा गया है । मूल काव्य 100 श्लोकों में है । 6 श्लोकों में प्रशस्ति, जिसमें कहा है कि आचार्य ज्ञानसागर महाराज के शिष्य विद्यासागर ने वीर निर्वाण सम्वत् 2503 ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को अंतिम श्रीधर केवली की निर्वाण स्थली कुण्डलगिरी में यह काव्य पूर्ण किया । प्रशस्ति के 5 पद्य श्रमण शतक से यथावत् लिए गए हैं । श्लोकों का अन्वयार्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद भी स्वयं कवि ने किया है । पद्यानुवाद वसन्ततिलका छन्द में है, जिसे वीर निर्वाण संवत् 2503 प्रथम आषाढ़ की अमावस्या को सिद्ध क्षेत्र कुण्डलगिरी में पूर्ण किया गया है ।

भावना शतकम्

इस काव्य ग्रन्थ में संसार का बीभत्स चित्रण करते हुए जनमानस को संसार से निकलने के उपायों पर विचार किया गया है । कथन की विधा भक्तामर स्तोत्र के अनुसार प्रस्तुत की गई है । अर्थात् प्रश्नवाचक समाधान किऐ गऐ हैं जैसे - उस प्रकार

जब हो सकता है तो इस प्रकार क्यों नहीं हो सकता ? कवि की मान्यता है कि विनयशील व्यक्ति ही संसार से तिर सकता है । तीर्थंकर प्रकृति को बंध कराने वालीं सोलह कारण भावनाओं को ध्यान में रखकर यह काव्य रचा गया है । भावनाओं का कथन करने वाला होने से "भावना शतक" नाम दिया है । ग्रन्थ के प्रथम 3 श्लोकों में देव शास्त्र गुरु का स्तवन, एक श्लोक में ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा तथा सोलह कारण भावनाओं को (प्रत्येक को) 6-6 श्लोकों में लिखा है । अंतिम 101वें श्लोक में लिखा है कि गुरु के आशीर्वाद से यह ग्रन्थ पूर्ण हुआ, अपना नाम भी इसी श्लोक में प्रस्तुत किया है । संस्कृत में कहीं भी समय और स्थान का उल्लेख नहीं किया गया है मात्र हिन्दी पद्यानुवाद में कहा है कि सुहाग नगरी फिरोज़ाबाद में, बाहुबली के चरणों में विक्रम सम्वत् 2032 श्रावण बदी चौथ को पूर्ण किया। अन्वय अर्थ एवं हिन्दी पद्यानुवाद स्वयं कवि द्वारा ही रचित है । हिन्दी पद्यानुवाद का नाम "तीर्थंकर कैसे बनें" यह भी दिया गया है ।

परिषह–जय शतकम्

दिगम्बर जैन श्रमण को 22 प्रकार के परिषह हो सकते हैं, उनका वर्णन करते हुए उनको सहन करने की विधि एवं फल पर कवि ने विचार किया है । परिषह सहन करने वाले श्रमण को अनेक-अनेक सत् शब्दों द्वारा सम्बोधन किया है, जैसे सत्कार पुरस्कार परिषह में कहा है कि हे ! श्रमण तुझे जब गणधर परमेष्ठी आदि नमस्कार करते हैं तो फिर अन्य के नमस्कार से क्या प्रयोजन ? यथा -

गणधरैः प्रणतोऽस्ति यदा स्वयं समितिषूपरतः सुखदा स्वयम् ।
किमु तदाप्यसतां प्रणतेर्नुतेरिति वदन्ति बुधाः सुमते नुते ॥82॥

इस काव्य में मूल में 100 श्लोक है 101वाँ श्लोक निरंजनशतक का यथावत् लिया है । जिसमें स्वयं का एवं गुरु का नाम प्रकट किया है । हिन्दी पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में किया गया है । द्रुतविलम्बित अनुष्टुप् एवं आर्या छन्दों का भी कहीं कहीं काव्य में प्रयोग किया गया है ।

सुनीति शतकम्

नाम के अनुसार इस संस्कृत काव्य में कवि ने नीतियों के माध्यम से भव्य जीवों को धर्म मार्ग की ओर प्रेरित किया है । शास्त्रों से आजीविका चलाने वाले विद्वानों को सावधान करते हुए ज्ञान के फल से रहित कहा है । यथा -

मूल्येन पुष्टं च मलेन तुष्टं नवीन वस्त्रं न हि नीरपायि ।
गुरूपदेशामृतरागहीनः शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि ॥2॥

जिस प्रकार काली गाय का दूध सफेद ही होता है, उसी प्रकार मनुष्य का कुलगोत्र कोई भी हो लेकिन धर्मात्मा व्यक्ति की आत्मा पवित्र ही होती है । नीतियों का प्रयोग प्रायः उपमा एवं उत्प्रेक्षाओं के रूप में प्रस्तुत किया है, इसलिए कुछ उपमाओं ने भी नीतियों का रूप धारण कर लिया है । इस काव्य में सामाजिक, राष्ट्रीय एवं धार्मिक चेतना को जागृत करने वाली नीतियाँ उद्भावित हुयीं है । शृंगार रस के सम्बन्ध में कवि ने कहा है कि 'शृंग' याने शिखर अर्थात् शिखर पर बैठने वाला रस ही शृंगार रस है इसलिए शांत रस ही प्रधान रस है । यथा -

शृङ्गार एवैकरसो रसेषु न ज्ञाततत्त्वाः कवयो भणन्ति ।
अध्यात्मशृङ्गं त्विति रातिशान्तः शृङ्गार एवेति ममाशयोऽस्ति ॥22॥

अन्त में गुरु का नाम ज्ञानसागर तथा स्व नाम विद्यासागर तथा ग्रन्थ का नाम सुनीति शतक दिया है, स्थान-सम्मेदाचल का पाद प्रान्त ईसरी तथा समय-वीर निर्वाण सम्वत् 2509 महावीर जयन्ती पर पूर्ण किया । मूल 101 श्लोक, तीन प्रशस्ति श्लोक चार मंगलकामना श्लोक । इस प्रकार कुल 108 पद्यों वाला यह काव्य है। पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में कवि ने स्वयं किया है ।

हिन्दी साहित्य

हिन्दी भाषा वर्तमान में राष्ट्र भाषा मानी जाती है । इस भाषा का साहित्यिक इतिहास अधिक प्राचीन नहीं है । लगभग 15वीं 16वीं शताब्दी के बाद ही इस भाषा में साहित्य का सृजन किया गया है । लेकिन इस भाषा की सहजता एवं सरलता ने वर्तमान में इसे भारत की राष्ट्रभाषा का सम्मान प्राप्त कराया है । अत: यह पारिवारिक सामाजिक एवं व्यावहारिक बोली की भाषा भी हो गई है ।

प्राकृत अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य को पठनीय बनाने के लिए इस जन प्रिय हिन्दी भाषा में साहित्यकारों को प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में पूर्व रचित साहित्य का इस हिन्दी भाषा में अनुवाद करना उपयोगी / आवश्यक है ।

इस बीसवीं शताब्दी में तो इस हिन्दी भाषा में अपरम्पार साहित्य लिखा गया है क्योंकि साहित्यकार प्राय: जनप्रिय भाषा में ही साहित्य लिखने की भावना रखता है । महाकवि आ. ज्ञानसागर जी महाराज ने भी हिन्दी भाषा में साहित्य सृजित किया है तथा आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने भी इसी भाषा में सन् 1996 तक निम्न रचनायें लिखी हैं ।

मूकमाटी महाकाव्य

यह महाकाव्य आधुनिक मुक्त छन्द में लिखा गया है जिसे अतुकान्त छन्द भी कहते है । आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक आदि अनेक दृष्टिकोण से यह इस शताब्दी का अति महत्त्वपूर्ण महाकाव्य है । इस महाकाव्य में विशेष रूप से सामाजिक उलझे हुए परिवेशों को महाकवि ने आगम तर्क एवं अनुभूति के आलम्बन से सुलझाकर समाज को प्रशस्त मार्ग का दिग्दर्शन किया है । जाति और कुल मद को निर्मद करते हुऐ स्त्री जाति को उनके नामों का शब्द विच्छेद करके समाज में नारी को उच्च स्थान प्रदान किया है । अर्थात कवि का मुख्य लक्ष्य उन तथ्यपूर्ण तत्वों का जीर्णोद्धार करना है जिनको समाज एवं धर्म के ठेकेदारों ने अपनी अहमियत को सुरक्षित करने के लिए उपेक्षित किया था । काव्य की मूल विषयवस्तु से भी यही बात ज्ञात होती है कि यहाँ पद दलित मिट्टी को मंगलकलश रूप प्रदान कर पूज्य बनाया गया है । अर्थात इस विषय को काव्य का विषय बनाने का कवि का यह ध्येय रहा है कि कुल और जाति से व्यक्ति कितना ही हीन क्यों न हो, लेकिन वह व्यक्ति सद् आचार-विचार की साधना से उच्च बन सकता है । मिट्टी से कुम्भ तक की व्यथा-कथा के निमित्त से धर्म-अधर्म, नैतिकता-अनैतिकता, सामाजिक एवं पारिवारिक उत्तरदायित्व, दाम्पत्य जीवन, निमित्त-

उपादन, गृहस्थ-श्रमण जीवन, स्वमत-परमत, राजा-प्रजा, इहलोक-परलोक, संसार एवं मोक्ष मार्ग, आराध्य-आराधक, साध्य-साधक निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध एवं सामाजिक कुरीतियाँ आदि अनेक प्रसंगों पर इस महाकाव्य में प्रकाश डाला गया है । दाता और पात्र के सम्बन्धों का बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुतीकरण किया गया है । वर्तमान के आंतकवाद पर प्रकाश डालते हुए कवि ने कहा है -

मिटने मिटाने पर क्यों तुले हो
इतने सयाने हो
फिर भी
प्रलय के लिये जुटे हो
जीवन को मत रण बनाओ
प्रकृति माँ का व्रण सुखाओ
प्रकृति माँ का ऋण चुकाओ

प्रकृति को उजाड़ने वाले तत्त्वों पर महाकवि ने प्रकृति के द्वारा ही कहलवाया है कि -

मेरे रोने से यदि तुम्हें सुख मिलता है
तो लो मैं रो रही हूँ
रो सकती हूँ ।

उपरोक्त पंक्तियाँ आज के वातावरण के लिये कितनी वात्सल्यमयी करुणामयी हैं, इनमें से करुण रस तथा इसका स्थाई भाव वात्सल्य प्रकट हो रहा है । पुरुषार्थ, उपकार एवं कर्म की नियति स्वभाव को प्रकट करते हुए कहा है कि

जब हवा काम नहीं करती
तब दवा काम करती है
और जब दवा काम नहीं करती
तब दुआ काम करती है
और जब दुआ काम नहीं करती
तब स्वयंभुवा काम करती है ।

इन पंक्तियों में महाकवि ने पुरुषार्थ परोपकार एवं कर्म के नियत स्वभाव का ध्यान रखते हुए वस्तु स्वभाव को स्वतन्त्र रखा है । चौथे खण्ड में अग्नि की भी अग्नि परीक्षा होती है, होनी ही चाहिए, तभी जला हुआ काला कोयला पुन: अग्नि का संस्कार पाकर शुक्ल हो जाता है । अत: काले कोयले की दशा चाँदी सी राख में परिणत हो जाती है ।

इस काव्य में 4 खण्ड हैं । प्रथम खण्ड का नाम ''शंकर नहीं, वर्ण लाभ'' दिया है, इसमें बताया गया है कि निमित्त को स्वीकार करने से उपादान में एवं वास्तु स्वातन्त्र्य में कोई शंकर दोष नहीं आता बल्कि उपादान में छुपी हुई शक्तियाँ उद्घटित हो जाती है । दूसरे खण्ड का नाम 'बोध, सो शोध नहीं' अर्थात शब्द ज्ञान को ज्ञान नहीं कहा जा सकता और ज्ञान मात्र को शोध नहीं कहा जा सकता है, जब तक ज्ञान चारित्र गुण की पर्याय बनकर अनुभव में नहीं आ जाता है ।

तीसरे खण्ड का नाम "पुण्य का पालन पाप का प्रक्षालन" है । इस खण्ड में कहा गया है कि जैसे-जैसे व्यक्ति के अन्तर घट में उफनते हुए पाप के बीजरुप क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह शमन होते हैं, वैसे-वैसे पुण्य का सम्पादन होता है। पुण्य संचय से ही पाप का प्रक्षालन किया जा सकता है । आज के जो तथाकथित अध्यात्मवादी पुण्यक्रिया को हेय मानते हैं उनको इस अध्याय का पठन करके अपनी मिथ्या धारणा का प्रक्षालन कर लेना चाहिये ।

चौथे खण्ड का नाम 'अग्नि सी परीक्षा: चाँदी सी राख' दिया है, अर्थात् व्यक्ति यदि सच्चे रास्ते की कठिनतम घाटियों में उपसर्ग और परिषह को सहन करता हुआ यदि अविरल बढ़ता जाता है तो अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है । उदाहरण दिया है कि पैरों से रौंदी गई मिट्टी एक दिन मंगल कलश रूप धारण करती है और उस मंगल कलश को सारी दुनिया अपना मस्तक झुकाती है । इस काव्य में अनेक रस यथायोग्य स्थान पर समाहित है । काव्य नायक धीरोदात्त है । इस प्रकार यह महाकाव्य साहित्य पिपासुओं की पिपासा शांत करने में पूर्ण सक्षम है । इसका प्रकाशन भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली से किया गया है ।

नर्मदा का नरम कंकर

यह खण्ड काव्य छन्दमुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखा गया है, इसमें 36 कविताएँ हैं, कविताओं में स्व आध्यात्मिक अनुभूति तथा सामाजिक एवं राजनैतिक परिवेशों का चित्रण किया है । इसका प्रकाशन अनेक स्थानों से किया जा चुका है ।

डूबो मत, लगाओ डुबकी

इस खण्ड काव्य में 42 लघु कविताऐं छन्द मुक्त (अतुकान्त छन्द में) लिखी गई हैं । संसार में रहकर शांति का अनुभव कैसे किया जा सकता है, उन उपायों की चर्चा की है अर्थात् कीचड़ में कमल, एवं स्वर्ण की दशा का वर्णन किया है।

तोता क्यों रोता है

यह भी छन्दमुक्त (अतुकान्त) 55 कविताओं को निबद्ध करने वाला खण्ड काव्य है । व्यक्ति वर्तमान के उपलब्ध वैभव से संतुष्ट न होकर भविष्य की महत्त्वाकांक्षाओं को लेकर रोता रहता है, इसी का चित्रण इसमें किया गया है ।

निजानुभव शतक

यह शतक वसन्ततिलका छन्द में 104 पद्यों में लिखा गया है, प्रथम 3 छन्दों में देव शास्त्र गुरु की स्तुति की है तथा 4 छन्द में काव्य लिखने का अभिप्राय व्यक्त किया है । अंतिम 2 दोहों में लिखा है कि काव्य लिखने का स्थान अजमेर जिले का ब्यावर नगर तथा वर्षायोग में सुगन्ध दशमी के दिन पूर्ण किया ।

मुक्तक शतक

102 मुक्तक वाले इस शतक में स्थान समय व गुरु तथा स्व लेखक का नाम कहीं भी अंकित नहीं किया है । प्रवचन आदि के मध्य में इन मुक्तकों को लेने से सरसता आ सकती है ।

दोहा स्तुति शतक

101 दोहों में 24 भगवान् की स्तुति की गई है प्रत्येक भगवान का 4-4 दोहों में गुणानुवाद किया गया है । प्रथम 3 दोहों में शुद्ध भाव को नमन करते हुए स्व गुरु को नमन किया है । भारत राष्ट्र के प्रति मंगलकामना व्यक्त करते हुए कहा है कि -

भार रहित भारत बनें
भाषित भारत भाल ।

अर्थात भारत कर्ज़ से मुक्त हो, विश्व का सिरमुकुट बने । इस दोहा शतक की रचना अतिशय क्षेत्र बीनाबारहा में वीर निर्वाण संवत् 2519 में चैत्र सुदी त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) पर पूर्ण की थी । इस में कवि ने अपने गुरु व स्व का नाम कहीं भी प्रकट नहीं किया है ।

पूर्णोदय शतक

102 छन्दों वाला यह शतक है । प्रथम 6 छन्दों में सिद्ध, अरिहंत, मुनि, गौतम-गणधर, जिनवाणी, गुरु ज्ञानसागर की वन्दना की है, कवि धार्मिक होने के साथ-साथ राष्ट्रप्रेमी भी हैं तथा समाज एवं देश में प्रेम, वात्सल्य देखना चाहते हैं। यथा -

"एक साथ लो बैल दो मिलकर खाते घास
लोकतंत्र पा क्यों लड़ो आपस में करने त्रास" ॥

संसार एवं संसारी प्राणी के स्वभाव का वर्णन इस शतक में है । अन्त के दो काव्यों में इस काव्य को लिखने का स्थान अतिशय क्षेत्र रामटेक तथा समय वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया है ।

सर्वोदय शतक

इस शतक में 102 छंद हैं । प्रथम 4 छंदों में वीर भगवान, पूज्यपाद गुरु एवं जिनवाणी का स्मरण किया है । पाँचवें तथा 101वें छंद में इस शतक का नाम सर्वोदय शतक कहा है । इस काव्य में विभिन्न प्रकार के विषयों को समाविष्ट किया गया है। इस शतक को नर्मदा के उद्‌गम स्थान अमरकंटक में वीर निर्वाण संवत् 2520 में लिखा गया, ऐसा शतक के अन्त के दो छंदों में कहा है ।

विविध स्तुतियाँ एवं भजन

कवि मोक्षमार्ग में प्रवेश होने के साथ ही प्रारम्भ से ही कविता लिखने के जिज्ञासु रहे हैं । अत: पूर्व में आचार्य शांतिसागर महाराज की स्तुति वसंततिलका छन्द में 36 पद्यों द्वारा की है । इसी छन्द में वीरसागर महाराज की स्तुति 42 छन्दों में की है । आचार्य शिवसागर महाराज की स्तुति मन्दाक्रान्ता के 22 छन्दों द्वारा की है । आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति 20 छन्दों द्वारा की गई है । इसके अलावा भजन -(1) "अब मैं मन मंदिर में रहूँगा," पांच छन्दों में लिखा है । (2) 'पर भव त्याग तू बन शीघ्र दिगम्बर' 4 छन्दों में (3) 'मोक्ष ललना को जिया कब वरेगा' 4 छन्दों में लिखा हैं । (4) 'भटकन तब तक भव में जारी' 4 छन्दों में। (5) 'बनना चाहता है अगर

शिवांगना पति' को 4 छन्दों में । (6) 'चेतन निज को जान जरा' 11 छन्दों में । (7) इंगलिश में 'My Self' और (8) 'My Saint' (9) बंगाली भाषा में भी कविता लिखी है, जो अप्राप्त है ।

पद्यानुवाद

द्रव्य, क्षेत्र एवं कालादि की अपेक्षा विश्व में नाना प्रकार की भाषाएँ प्रचलित रहती हैं तथा उसी द्रव्य क्षेत्र एवं कालदि की मर्यादाओं के वातावरण से प्रभावित होकर साहित्यकार तद्रूप भाषा में साहित्य सृजित करते हैं, लेकिन द्रव्य क्षेत्र एवं कालादि की परिणमनशीलता के कारण भाषा भी स्वभावतः परिवर्तित होती है । परिणामस्वरुप पूर्व साहित्यकारों की अनुभूति तथा परम्परागत विषय वस्तु को स्पष्ट, सरल एवं सुबोध रूप में जनमानस तक पहुँचाने के लिए जनप्रिय भाषा में अनुवाद की विधा को अपनाया जाता है । अनुवाद की विधा गद्य एवं पद्यात्मक होती है । वर्तमान में आर्यावर्त में दोनों विधायें विद्यमान हैं । पद्यानुवाद को नाना प्रकार के मात्रिक छन्दों की सूत्रधारा में पिरोकर/ गूंथकर सजाया जाता है । अर्थात् छन्दगत मात्राओं को ध्यान में रखकर सम्पूर्ण विषय को सीमित शब्दों में लिखकर, "गागर में सागर" भर दिया जाता है। आधुनिक अतुकान्त छन्द को भी क्वचित् कदाचित् वर्तमान में अपनाया जा रहा है।

गद्यानुवाद की विधा खण्डान्वय अथवा दण्डान्वय रुप होती है । दोनों अनुवाद छायानुवाद एवं विशेषानुवाद रुप देखे जाते हैं । छायानुवाद में मूल शब्दों को यथारूप में भाषान्तरित कर दिया जाता है तथा विशेषानुवाद में मूल शब्दों की अर्थगत् नाना अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर सापेक्ष विस्तृत कथन किया जाता है । गद्यात्मक विशेषानुवाद को 'टीका' भी कहते हैं ।

20 वीं शताब्दी में महाकवि आचार्य ज्ञानसागर जी ने गद्यात्मक एवं पद्यात्मक दोनों विधाओं में अनुवाद (टीकाएँ) किये हैं । लेकिन पूज्य गुरुवर महाकवि आचार्य विद्यासागर जी ने पद्यानुवाद में ही अनुवाद किये हैं । आचार्यश्री द्वारा आज तक (सन् 1996 तक) निम्न ग्रन्थ अनूदित होकर साहित्य जगत् में अपनी सुरभि विकीर्ण कर रहे हैं -

जैन गीता

विनोबा भावे जी ने 2500 निर्वाण महोत्सव के अवसर पर जैन विद्वानों को प्रेरणा दी थी कि जैनियों का एक सारभूत संकलित ग्रन्थ तैयार होना चाहिए, जिसमें जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्त समाहित हों । जिसे पढ़कर पाठक जैन धर्म को समझ सकें। तद्नुसार ब्र. जिनेन्द्र वर्णी जी ने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियम सार, अष्टपाहुड़, द्रव्य संग्रह, गोम्मट सार आदि अनेक प्रमुख ग्रन्थों से सारपूर्ण गाथाओं का संकलन किया। प्रथम प्रकाशन के समय इस संग्रह ग्रन्थ का नाम "जैन धर्म का सार" रखा गया, लेकिन गाथाओं पर विद्वानों के मतैक्य नहीं होने से कुछ गाथाओं को निकालकर तथा कुछ गाथाओं को जोड़कर नाम दिया गया "जिणधम्म" लेकिन उसके बावजूद भी विद्वद् वर्ग संतुष्ट नहीं हुआ । अतः तीसरी बार विनोबा भावे के सान्निध्य में एक संगोष्ठी रखी गई, जिसमें आचार्य मुनि एवं विद्वानों सहित लगभग 300 लोग एकत्रित हुए तथा

बहुत ऊहापोह के साथ गाथाओं का संग्रह किया गया। गाथाओं की संख्या पर विनोबा भावे जी ने कहा कि 7 एवं 108 का अंक जैन समाज के लिए बहुत प्रिय है अत: दोनों को परस्पर में गुणा करने पर 756 आयेगा। अत: 756 संख्या मान्य की गई ।

इस ग्रन्थ के चार खण्ड किए गए हैं । प्रथम खण्ड में 15 अध्यायों में 191 श्लोक हैं जिसके 1 दोहे में संसार का चित्रण एवं उससे बचने के उपाय, दूसरे खण्ड में 18 अध्याय, गाथा 396 है जिसके एक दोहा में मोक्ष मार्ग की साधना के स्वरूप है । तृतीय खण्ड में तीन अध्याय गाथाऐं 71 है जिसके एक दोहा में सृष्टि एवं सृष्टि में विद्यमान पदार्थों का वर्णन है । चतुर्थ खण्ड में 8 अध्याय एवं गाथा 94 हैं । एक दोहे में जैन दर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया गया है। इसका पद्यानुवाद सर्वप्रथम महाकवि आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने वसन्ततिलका छन्द में 7 माह में पूर्ण किया था । पद्यानुवाद में मूल शब्दों का ध्यान रखने के साथ-साथ कुछ अलग से शब्दों को जोड़ा गया है, जिससे मूल गाथा का अर्थ-गौरव बढ़ गया है, अत: इस पद्यानुवाद को छायानुवाद न कहकर विशेषानुवाद कह सकते हैं । 756 गाथाओं का पद्यानुवाद 756 पद्यों में ही किया गया है । अंत में 10 छंदों में पद्यानुवाद की प्रशस्ति लिखी गई है, जिसमें ग्रन्थ का नाम ''जैन गीता'' गुरु का नाम ज्ञानसागर एवं स्वयं का नाम विद्यासागर व्यक्त किया है तथा अपनी लघुता व्यक्त करते हुए धीमानों को त्रुटियों को सुधारने का अधिकार दिया है । 4 पद्यों में संसारी जीवों को सम्बोधन करते हुए कहा है कि दूसरों के पथ में शूल मत बोओ । सेवा और परोपकार की भावना रखते हुए तमो एवं रजो गुण को त्यागकर सत्त्वगुण का आलम्बन लो, एकान्तवाद का प्रतीक ''ही'' (हठवादिता) को त्यागकर अनेकान्त के प्रतीक 'भी' को स्वीकार करो तो नियम से 3-6 का आंकड़ा समाप्त होकर 6-3 का आंकड़ा हो जायेगा, जिसे विश्व शांति का योग कहा जा सकता है । समस्त पृथ्वी को हरी-भरी देखने की कामना करते हुए इस पद्यानुवाद को श्रीधर केवली की निर्वाण भूमि कुण्डलगिरी में वर्षायोग के समय बड़े बाबा के आशीर्वाद से विक्रम संवत् 2042 भाद्र शुक्ला तीज को भुक्ति मुक्ति का बीज रूप पद्यानुवाद पूर्ण किया ।

कुन्दकुन्द का कुन्दन

महान् आध्यात्मिक ग्रन्थराज समयसार के पद्यानुवाद का नाम 'कुन्दकुन्द का कुन्दन' है । कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा रचित प्राकृत भाषा का यह मूल ग्रन्थ है। कहा जाता है कि बनारसी दास को जब समयसार की हस्तलिखित मूल प्रति भेंट की गई तो वह इतने आनन्दित हुए कि तिजोरी में से दोनों हाथों में रत्नों को भरकर समयसार देने वाले व्यक्ति को भेंट किये तथा बड़े आदर से ग्रन्थ राज को नमस्कार किया । कवि भी अध्यात्म प्रेमी हैं, समयसार ही कवि का जीवन है, कवि को पूरा समयसार कण्ठस्थ होने से वे प्रतिदिन मुखाग्र इसका पाठ करते हैं। मात्र कण्ठस्थ ही नहीं है, अण्टस्थ भी है । आपका जीवन एवं समयसार एक दूसरे के परस्पर पर्यायवाची बन गये हैं । जयसेन स्वामी के द्वारा बताई गई कुन्द कुन्द स्वामी की क्रम संख्या के अनुसार पद्यानुवाद किया गया है, पद्यानुवाद में वसन्ततिलका छन्द है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में देव शास्त्र गुरु, कुन्द कुन्द स्वामी, जयसेन स्वामी तथा आचार्य ज्ञानसागर महाराज की स्तुति की है । एक

छन्द में पद्यानुवाद का प्रयोजन व्यक्त किया गया है ।

इसमें पूर्वरंगाधिकार, जीवाजीवाधिकार, कर्त्ता कर्माधिकार, पुण्य पापाधिकार, आस्रवाधिकार, संवराधिकार, निर्जराधिकार, बन्धाधिकार, मोक्षाधिकार और सर्व विशुद्धि अधिकार हैं ।

मूल ग्रन्थ के 443 छन्द व 12 छन्दों में प्रशस्ति दी गई है, जिसमें एक छन्द में कवि ने अपनी लघुता व्यक्त करते हुए गल्तियों को शोधन करने का अधिकार विद्वानों को दिया है । ग्रन्थ लिखने का स्थान श्रीधर केवली की निर्वाण स्थाली कुण्डलगिरि एवं रचना-काल बड़े बाबा की कृपा से वीर निर्वाण संवत् 2503 शरद पूर्णिमा बतायी गयी है । पद्यानुवाद शब्दानुवाद न होकर भावानुवाद के रूप में किया गया है । गाथा के पूर्ण भाव को कवि ने लेने का प्रयास किया है । कई स्थानों पर गाथाओं में जिन शब्दों का / भावों का उल्लेख नहीं है, लेकिन पद्यानुवाद में उन शब्दों और भावों को समाविष्ट किया गया है । जैसे मंगलाचरण की मूलगाथा में मात्र श्रुतकेवली शब्द लिया है लेकिन अनुवाद में भद्रबाहु श्रुतकेवली ले लिया गया है । इसी प्रकार अनेक स्थलों पर अधिक शब्दों को लिया है, ये विशेषता जरूर है कि कवि ने मूलगाथा का ऐसा कोई भी शब्द नहीं छोड़ा, जिसका पद्यानुवाद नहीं किया गया हो । प्रकाशित पुस्तक में बायें पृष्ठ पर प्राकृत में मूलगाथा एवं संस्कृत में छायानुवाद किया गया है । दायें पृष्ठ पर पद्यानुवाद दिया गया है ।

निजामृतपान

अमृतचंद्र सूरि द्वारा समयसार की आत्मख्याति टीका के अन्तर्गत संस्कृत श्लोक लिये गये हैं, जिन्हें विद्वद् वर्ग ने अलग से निकालकर प्रकाशित किया तथा अमृतकलश नाम दिया । अध्यात्मपिपासु इन कलशों में भरे हुए अध्यात्मरस को अमृत के समान रुचि से पान करते हैं, अमृतचंद्र सूरि के शब्दों में क्लिष्टता होने के बावजूद भी कवि ने पद्यानुवाद बड़ी कुशलता से किया है, इस अनुवाद में भी जो शब्द मूलश्लोक में नहीं है, उन शब्दों को पद्यानुवाद में प्रवेश कराया गया है, जैसे टीकाकार शब्दों के अर्थो को स्पष्ट करने के लिये नये- ये शब्दों का प्रयोग करते हैं, उसी विधा में कवि ने यह पद्यानुवाद ज्ञानोदय छंद में 278 पद्यों में किया है । अन्त में अलग से 2 दोहे तथा एक वसंततिलका छन्द में, पद्य है । जिसमें गुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर नाम व्यक्त किया है, दो दोहों में कुन्दकुन्द स्वामी, अमृतचंद्र सूरि, ज्ञानसागर महाराज के उपकारी भाव को प्रदर्शित किया है । एक दोहे में निजामृत पान की महिमा बताते हुए कहा है कि इसका जो पान करेगा वह नियम से मोक्ष सोपान को प्राप्त करेगा । 7 दोहों में मंगलकामना की है तथा उन दोहों के यदि प्रथम अक्षर को संग्रह किया जाये तो कवि का स्वयं का नाम विद्यासागर निकल आता है । एक दोहे में लघुता व्यक्त करने के उपरान्त दो दोहों में रचना का स्थान कुण्डलगिरि के पास दमोहनगर एवं रचनापूर्ति वीर निर्वाण संवत् 2504 महावीर जयंती के सुअवसर बतायी गयी है । इस ग्रन्थ की प्रस्तावना कवि ने स्वयं चेतना के गहराव के नाम से लिखी है । इस प्रकार 278 ज्ञानोदय छन्द 23 दोहे और 1 वसंततिलका छन्द, कुल 302 छन्द का यह पद्यानुवाद पाठकों के लिए निज आत्मा का पान कराने वाला सिद्ध होगा ।

द्रव्य संग्रह

यह ग्रंथ मूल प्राकृतभाषा में लगभग 1 हजार वर्ष पूर्व सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र आचार्य महाराज ने 58 गाथाओं में गागर में सागर के रुप में रचा था । कवि को यह लघुग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में पद्यानुवाद किया । प्रथम पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में किया गया है, जिसमें 58 मूल पद्य हैं तथा 1 पद्य में आचार्य नेमिचन्द्र स्वगुरु ज्ञानसागर एवं स्वनाम विद्यासागर दिया है । एक पद्य में लघुता प्रकट की है, एक पद्य में ग्रन्थ का स्थान-ग्राम अभाना में वीर निर्वाण संवत् 2504 दर्शाया गया है । दूसरा पद्यानुवाद ज्ञानोदय छन्द में है, जो वीर निर्वाण संवत 2517 में सिद्ध क्षेत्र मुक्तागिरी में रचित है । प्रथम अनुवाद की अपेक्षा दूसरा अनुवाद गाथाओं के रहस्य को विशेषता पूर्वक उद्घाटित करता है, इस द्वितीय अनुवाद का प्रारम्भ भगवान नेमिनाथ, नेमिचन्द्र आचार्य एवं स्वगुरु ज्ञानसागर की स्तुति से किया है । प्रथम पद्यानुवाद की तरह इस द्वितीय पद्यानुवाद में कहीं भी कवि ने स्वयं का नाम स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से नहीं दिया गया है । मात्र 58 पद्यों में मूल अनुवाद 6 दोहों में मंगलकामना 2 दोहों में स्थान और समय परिचय दिया है । इस प्रकार कुल 68 पद्यों में द्वितीय अनुवाद पूर्ण हुआ है ।

द्वितीय अनुवाद का जब प्रथम अनुवाद से तुलना करते हैं तो प्रतीत होता है कि एक ही व्यक्ति के जीवन में ज्ञान और अनुभव में कितना महान अन्तर आ जाता है । शोधार्थियों के लिये दोनों अनुवादों का तुलनात्मक अध्ययन करने से महत्त्वपूर्ण विषय सामग्री उपलब्ध होगी ।

अष्ट पाहुड़

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा 8 भागों में प्राकृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ मोक्षमार्गियों के लिये निर्णयात्मक ग्रन्थ है । कवि ने इसका पद्यानुवाद पूर्ण सावधानी पूर्वक करने का प्रयास किया है, लेकिन फिर भी कहीं-कहीं छन्द पूर्ति के लिए कुछ शब्दों को जोड़ा है, जैसे दर्शन पाहुड़ की तीसरी गाथा में पुरुष शब्द नहीं है, लेकिन अनुवादक ने अपने अनुवाद में पुरुष शब्द को प्रस्तुत किया है, जो गाथा के अर्थ को विस्तृत न करके सीमित करता है । उसी प्रकार पांचवीं गाथा में सम्यक्त्व से रहित जीव को अनुवादक ने मंद पापी कहा है, लेकिन मूलगाथा में ऐसा कुछ भी नहीं है, ऐसे और भी प्रसंग है जो विचारणीय हैं । दर्शनप्राभृत में 36 पद्य, सूत्रप्राभृत में 27, चारित्रप्राभृत में 45, बोधप्राभृत में 62, भावप्राभृत में 165, मोक्षप्राभृत में 106, लिंग प्राभृत में 22, शीलप्राभृत में 40, इस प्रकार 503 पद्यों में मूलगाथा का अनुवाद है तथा प्रत्येक पाहुड़ के अन्त में सारभूत अर्थ को प्रकट करने वाले क्रमशः निम्न प्रकार दोहे लिए हैं - 2 - 2 - 2 - 3 - 2 - 2 - 2 = 15 ग्रन्थ के अन्त में 1 दोहे में लघुता प्रकट की है। 9 दोहों में कुन्द-कुन्द स्वामी एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का नामोल्लेख किया है । 2 दोहों में स्थान- सिद्ध क्षेत्र नैनागिरी तथा रचना काल वीर निर्वाण संवत् 2505 दीपावली का दिन बताया गया है, इस प्रकार इसमें कुल 529 पद्य है ।

नियमसार –

187 गाथाओं में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में निश्चय- व्यवहार, कारण-कार्य, निमित्त-उपादान की समन्वयात्मक दृष्टि प्रकट की है। इस ग्रन्थ को पढ़ने के बाद यदि व्यक्ति समयसार पढ़ेगा तो वह एकान्तवादी होने से बच सकता है। पद्यानुवाद वसंततिलका छन्द में 187 पद्यों में किया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में 5 दोहों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द एवं स्वगुरु ज्ञानसागर महाराज का स्मरण किया है, ग्रन्थ के अंत में एक दोहे में अपनी लघुता सिद्ध की है, तथा 3 दोहों में रचना का स्थान अतिशय क्षेत्र थूवोन जी के शांतिनाथ भगवान के चरणों में वर्षायोग के अवसर पर वीर निर्वाण संवत् 2507 में इस पद्यानुवाद की पूर्ति होना बताया गया है। विचारणीय विषय है कि थूवोन क्षेत्र के मूलनायक आदिनाथ हैं फिर कवि ने शांतिनाथ भगवान के चरण सान्निध्य की बात क्यों कही। मेरी दृष्टि से यह हो सकता है कि कवि के इष्टदेव, शांतिनाथ हो सकते हैं अथवा दूसरी तरफ यह भी अर्थ निकलता है कि थूवोन क्षेत्र में लगभग 25 मंदिर है। क्षेत्र के प्रथम चातुर्मास में जिस मंदिर में आचार्य श्री बैठते थे, उस मंदिर के मूलनायक शांतिनाथ हैं, संभवतया इसलिए शांतिनाथ भगवान को स्मरण किया हो। इस पद्यानुवाद में कवि ने अपना नाम कहीं भी प्रदर्शित नहीं किया है।

द्वादशानुप्रेक्षा –

कुन्दकुन्द स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में 51 गाथाओं में 12 अनुप्रेक्षाओं का वर्णन किया गया है। कवि ने वसंततिलका छन्द में 51 पद्यों में ही पद्यानुवाद किया है। अनुवादक ने कहीं भी मूलग्रन्थकर्ता, गुरु एवं स्वयं के नाम का कहीं भी संकेत नहीं किया है और न ही समय स्थान का परिचय दिया है।

समन्तभद्र की भद्रता –

महान दार्शनिक आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने स्वयंभू-स्तोत्र नाम से 24 तीर्थंकरों का स्तवन किया है। 143 श्लोक प्रमाण संस्कृत भाषा में लिखा गया यह ग्रन्थ कवि को बहुत प्रिय है। कवि एक आचार्य हैं और जैन दर्शन के अनुसार आचार्य उपाध्याय साधु को 6 आवश्यकों में स्तुति, वंदना आवश्यक भी है, उसे प्रतिदिन करना पड़ता है, अत: आचार्यश्री इस स्तोत्र का प्रतिदिन स्तुति, वंदना नामक आवश्यकों की सम्पूर्ति हेतु पाठ करते हैं तथा संघस्थ साधुओं के लिए भी इसी का पाठ करने का निर्देश दिया करते हैं। कवि ने बड़ी रुचि से सरल और सरसता के साथ ज्ञानोदय छन्द में 143 पद्यों में अनुवाद किया है। प्रत्येक तीर्थंकर से संबन्धित श्लोकों के अनुवाद के बाद कवि ने अपनी तरफ से 2-2 दोहों द्वारा संबंधित तीर्थंकरों की स्तुति की है, ये दोहे इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि मंदिरों में तीर्थंकरों के अर्घ के लिए इनको लिखा जा सकता है। अनुवाद के अन्त में एक पद्य द्वारा लघुता प्रकट की है, 9 पद्यों में मंगलकामना, एक पद्य में स्वगुरु का नाम ज्ञानसागर स्मरण किया है दो पद्यों में स्थान का नाम इस प्रकार दिया है कि जब संघ प्रथम बार सागर में पहुँचा, उस समय वीर निर्वाण संवत् 2506 में महावीर जयन्ती पर यह अनुवाद पूर्ण किया गया। दायें पृष्ठ पर मूल संस्कृत

श्लोक एवं बायें पृष्ठ पर हिन्दी पद्यानुवाद दिया गया है । कुल पद्य 167 हैं । कवि ने अपना नाम इस अनुवाद में कहीं भी नहीं दिया है । इसकी प्रस्तावना डॉ. पन्नालाल साहित्याचार्य ने लिखी है ।

गुणोदय –

आचार्य गुणभद्र स्वामी द्वारा 269 संस्कृत श्लोकों में आत्मानुशासन ग्रन्थ रचा गया है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है, और नाम गुणोदय रखा है। अनुवाद में लघु दृष्टान्तों द्वारा विषय को सुपाच्य किया गया है । ग्रन्थ का मूल लक्ष्य विषयभोगों से विरक्त करा कर भव्य जीवों को मोक्षमार्ग पर प्रवृत्त कराना है । ग्रन्थ की भूमिका स्वयं कवि ने गद्य में लिखी है । कुल 269 पद्यों में अनुवाद करने के बाद अंत में 7 दोहों में मंगलकामना, 1 दोहे में लघुता, 1 दोहे में गुरु का नामस्मरण, 2 दोहों में रचना का स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि, एवं समय-वीर निर्वाण संवत 2506 के कार्तिक कृष्णा 30 रचनापूर्ति काल बताया है । बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक तथा दायें पर पद्यानुवाद दिया गया है ।

रयणमंजूषा –

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित यह ग्रन्थ गृहस्थों के सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र से युक्त अणुव्रत एवं 11 प्रतिमाओं का वर्णन करने वाला है । अनुवादकार ने मूल श्लोकों के शब्दार्थों को ध्यान में रखते हुए विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिए कुछ शब्दों को अलग से जोड़ दिया है, जो मूल श्लोकों में नहीं है । जैसे मूल श्लोक में 'मूल' शब्द आया है, उसका अनुवाद कवि ने मूली, लहसुन, प्याज, गाजर आदि लिया है, ये नाम मूल श्लोक में नहीं हैं । इसी प्रकार अनेक पद्यों में ऐसे प्रसंगों को प्रासंगिक किया है । 150 पद्यों वाला यह अनुवाद बहुत ही रोचक और ज्ञानवर्धक है । 8 पद्यों में मंगलकामना 3 पद्यों में स्थान कुण्डलगिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 में रचना-पूर्ण होना बताया गया है । इस अनुवाद में लेखक ने कहीं भी स्वयं अथवा अपने गुरु का नाम स्पष्ट नहीं किया है । बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक और दायें पृष्ठ पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

आप्त मीमांसा –

इतिहासकारों का कहना है कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 84000 श्लोक प्रमाण गंधहस्ति महाभाष्य लिखा था, जिसमें पशु पक्षियों की भाषा भी निबद्ध थी। दुर्भाग्य से ऐसा महान भाष्य आज हमारे बीच में उपलब्ध नहीं है । भविष्य वक्ताओं के अनुसार जर्मन में जमीन के अन्दर कहीं रत्न पिटारे में सुरक्षित रखा हुआ है। लेकिन उसकी उपलब्धि तक्षक नागमणी के समान दुर्लभ है । इस ग्रन्थ का मंगलाचरण 114 श्लोकों में किया गया है । अनुमान करें, जिसका मंगलाचरण ही इतना बृहद् है तो इसके मूलग्रन्थ का कलेवर कितना बृहद् होगा । सौभाग्य से वह मंगलाचरण हमारे बीच में उपलब्ध है, जिसे आप्तमीमांसा के नाम से जाना जाता है । कवि ने यथावत् 114 पद्यों में अनुवाद किया है, इसके अलावा काव्य के प्रारंभ में 7 पद्यों में भगवान सन्मति, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य ज्ञानसागर का गुणानुवाद करते हुए अनुवाद का प्रयोजन स्पष्ट किया है । एक पद्य में लघुता तथा एक पद्य में स्थान ईसरी (बिहार) एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507, सुगंध दशमी को पूर्ण किया बताया गया है । अन्त में 8 पद्यों

में मंगल कामना की है। कवि ने पूरे अनुवाद में अपने नाम का संकेत नहीं किया है, पूर्ववत् बायें पृष्ठ पर मूल श्लोक एवं दायें पर अनुवाद प्रकाशित किया है ।

इष्टोपदेश –

आचार्य पूज्यपाद द्वारा यह लघुग्रन्थ उपदेशात्मक शैली में प्रशम एवं संवेग भाव को बढ़ाकर संयम मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला है, कवि को यह 52 श्लोक वाला यह ग्रन्थ इतना रुचिकर लगा कि इसका 2 बार भिन्न-भिन्न छन्दों में अनुवाद किया है। प्रथम अनुवाद बसंततिलका छन्द में किया है । मूल अनुवाद 52 पद्यों में एक पद्य पूज्यपाद स्वामी की स्तुति करते हुए श्लेषात्मक ढंग से स्वयं का नाम ''विद्या'' ऐसा संकेत किया है । द्वितीय अनुवाद ज्ञानोदय छंद में किया है । अन्त में 3 पद्यों में स्थान रामटेक एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2507 पोष शुक्ला तीज को पूर्ण किया है, ऐसा कहा है । प्रथम अनुवाद में समय एवं स्थान का कोई संकेत नहीं किया गया है तथा द्वितीय अनुवाद में गुरु अथवा स्वयं के नाम का कोई उल्लेख नहीं किया गया है ।

गोम्मटेश अष्टक –

आचार्य नेमिचन्द्र महाराज ने गोम्मटेश बाहुबली की स्तुति में प्राकृत भाषा में यह अष्टक लिखा है, इसका पद्यानुवाद कवि ने ज्ञानोदय छन्द में किया है । एक दोहे में नेमिचन्द्र आचार्य का गुणानुवाद एवं दूसरे दोहे में स्वयं का नाम दिया है।

कल्याण मंदिर स्तोत –

आचार्य वादिराज महाराज ने पार्श्वनाथ भगवान की स्तुति के रूप में 42 श्लोकों में यह स्तोत्र रचा है, कवि ने इसका पद्यानुवाद 42 पद्यों में ही किया है। प्राय: पद्य के प्रथम चरण में दृष्टान्त तथा द्वितीय चरण में दार्ष्टान्त दिया गया है । 41वें पद्य में पार्श्वनाथ भगवान का नाम स्मरण किया गया है । कवि ने स्वयं एवं गुरु के नाम का तथा समय/स्थान के संदर्भ में कुछ भी संकेत नहीं दिया है ।

नन्दीश्वर भक्ति –

पूज्यपाद द्वारा रचित संस्कृत भाषा की 10 भक्तियों में से एक नन्दीश्वर भक्ति है, जिसका पद्यानुवाद कवि ने किया है । जिसमें विशेष रूप से नन्दीश्वर द्वीप एवं वहाँ विराजित चैत्य-चैत्यालय का वर्णन किया गया है । अनुवाद के अन्त में 2 पद्यों में पूज्यपाद स्वामी तथा ज्ञानसागर महाराज का नाम स्मरण किया है । मूल श्लोकों का अनुवाद 60 पद्यों में तथा 5 पद्यों में अञ्चलिका का अनुवाद किया गया है, 5 पद्यों में प्रशस्ति लिखी गयी, जिसमें स्थान सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि एवं समय वीर निर्वाण संवत् 2517 ज्येष्ठ सुदी पंचमी को पूर्ण किया गया है, ऐसा बताया गया है। इस प्रकार कुल 72 पद्यों वाला यह अनुवाद है ।

समाधि सुधा शतकम् –

पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित 105 श्लोकों वाला समाधि तन्त्र का पद्यानुवाद किया गया है । पद्यानुवाद के अन्त में पूज्यपाद स्वामी का स्मरण कर स्वनाम का संकेत किया है । समय एवं स्थान का कोई भी संकेत नहीं दिया गया है । अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है ।

योगसार –

योगेन्द्र स्वामी द्वारा प्राकृत भाषा में रचे गये योगसार ग्रन्थ का 107 पद्यों में अनुवाद किया गया है। एक पद्य में मूलग्रन्थकर्ता का स्मरण, ग्रन्थ का नाम तथा स्वनाम दिया गया है। अनुवाद वसंततिलका छंद में किया गया है।

एकीभाव स्रोत –

आचार्य कविराज द्वारा संस्कृत में रचे गए इस स्तोत्र का 25 पद्यों में अनुवाद किया गया है एक पद्य में मूलग्रन्थ कर्ता, कविराज की स्तुति तथा दूसरे पद्य में स्वनाम का संकेत किया है। यह अनुवाद मन्दाक्रान्ता छन्द में किया है।

प्रवचनावली –

भव्यजीवों के कल्याण करने वाले आचार्यश्री के प्रवचन दार्शनिक, आध्यात्मिक विषय को प्रथमानुयोग की कथाओं से सुपाच्य बनाने वाले होते हैं। विशेष कार्यक्रमों को छोड़कर प्राय: प्रवचन रविवार को ही होते हैं। हजारों लोग मन्त्र मुग्ध होकर आपके प्रवचन सुनते हैं। लगभग अभी तक आपके 1500 प्रवचन हो चुके हैं, जिनमें से लगभग 100 प्रवचन अनेक संस्थाओं एवं पत्र-पत्रिकाओं से प्रकाशित हो चुके हैं। विद्वानों के बीच में चर्चा का विषय बनने वाले मुख्य प्रवचन सिद्धक्षैत्र नैनागिरी में 7 तत्त्वों पर दिये गये प्रवचन हैं, क्योंकि इसमें मिथ्यात्व को बंध के क्षेत्र में अकिंचित् कर कहा गया है। इस सत्य को विद्वान नहीं पचा सके, जिससे आचार्यश्री को स्पष्टीकरण करने के लिए पुन: प्रवचन देने पड़े, जो अकिंचित्कर नाम से प्रकाशित हैं। दूसरे प्रवचन केशली पंचकल्याणक महोत्सव के माने जाते हैं। जो वर्तमान की श्रमण संस्कृति को नकारने वाले डॉ हुकमचंद भारिल्ल की मिथ्या धारणाओं को खण्डन करने वाले हैं तथा आगमोक्त सत्य का मण्डन करने के लिये दिए गये थे। डॉ. भारिल्ल भी उसमें उपस्थित थे। आचार्यश्री के प्रवचन पूर्णतया आगमयुक्त होते हैं, जिनमें नीतियाँ, मुहावरे, सूक्तियाँ निबद्ध रहती हैं।

इस प्रकार परम पूज्य महाकवि आचार्य विद्यासागरजी महाराज का यह विपुल साहित्य साहित्यजगत् को गौरवान्वित करने वाला है। पूज्य गुरुदेव के इस साहित्य पर अनेकों शोधार्थी शोध कार्य कर इनके साहित्य में छुपे हुए रत्नों को निकालकर साहित्य ज. त् को कण्ठहार प्रदान कर सकते हैं।

आचार्य श्री द्वारा लिखे गऐ अभी तक 39 काव्य ग्रन्थ हैं, जो ग्रन्थ अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित हुऐ हैं। क्योंकि कवि ने जिस स्थान पर ग्रन्थ लिखा, वहीं पर भव्य श्रद्धालुओं ने प्रकाशित कराकर वितरित करा दिया, जिससे वे पुस्तकालय विश्वविद्यालय एवं मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों एवं भारतवर्षीय साहित्य जगत् के मनीषी विद्वानों के पास नहीं पहुँच सके हैं। अत: अभी तक गुरुदेव के साहित्य का विद्वानों द्वारा सही मंथन नहीं किया जा सका हैं। विद्वानों ने साहित्य को चाहा भी लेकिन अलग-अलग स्थानों से प्रकाशित होने से उपलब्ध करना सम्भव नहीं हो सका, इन्हीं सब दृष्टिकोणों को ध्यान में रखकर आचार्य श्री के साहित्य को 4 खण्डों में संकलित कर आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र एवं दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र संघी जी मन्दिर सांगानेर (जयपुर) से प्रकाशित किया गया है। अब मुझे विश्वास है कि विद्या के सागर का विद्वान लोग मन्थन करके अपार रत्नों के भण्डार को निकालकर, साहित्य जगत् के कोष को समृद्ध करेंगे।

– मुनि श्री सुधासागरजी महाराज

Acharya VIDYA SAGAR
(A Sage with Difference)

In the galaxy of the modern saints, the Jain Acharya Vidya Sagar occupies the position of the pole star He is serene and luminous. He is a sage of new skies with his roots in the tradition of "Tirthankars " Muni Vidya Sagar's position is correctly depicted by describing him as the muni of celestial 'Chaturtha Kaal' in the precautious "Pancham Kaal" connoting thereby that he is unique and rare of the rarest Jain sages. Prior to his "Diksha" as a Digambar Jain Muni, Vidya Sagar was known as "Vidya Dhar" He was born of Shri Mallappa Parsappa Ashtge and Smt Shrimatiji Ashtge at village Sadalaga in the distt Belgaum of Karnataka state on Oct. 10, 1946. The day he was born it was bright 'Sharad Poornima'. Hence, there is little wonder that he was born with a spiritual light to dispel darkness enveloping his times It is unprecedented that seven out of eight members of Vidya Sagar's family including his parents, two sisters and two brothers have given up the family comforts, got "Diksha" and are heading on the path of self realisation

Vidya Dhar pursued his studies up to the 9th standard of the high school in the village Bekadihal situated near the village Sadalaga of his birth He had deep spiritual learnings and led a disciplined, systamatic and determined childhood He thought education to be the base of character formation

At the age of 9 (nine), Vidya Dhar met 'Charitra Chakravarti' Acharya Shri Shanti Sagar Ji Maharaj This was the turning point in his life It inspired in him a sense of detachment from wordly affairs and whetted his thirst for spiritual knowledge. Later he met "Acharya Desh Bhushanji Maharaj" a noted Digambar Jain sage, and took a vow to observe celibacy all the life Subsequently, he came across 'Charitra Chakravarti Acharya Shri Gyan Sagar Ji', a rare Digambar saint of the highest order, who blended and personalized supreme character and knowledge in himself Acharya Gyan Sagar seemed initially reluctant to accept Vidya Sagar as his disciple because he thought that the later, undergoing his teenage, would flee when asked to follow the rigorous path of salvation lead by the 24 "Tirthankars" of this era commencing from 'Adinath'. However, Vidya Sagar had an iron will Nothing could swerve him from his chosen path of spiritualism. He was able to undo the apprehension of his great master about likelihood of his intention when he took vow never to use any vehicle and always to walk bare-footed. His resolve ensured Acharya Shri Gyan Sagar that he was a true seed, full of potentiality and promised with this the blessings of the master flowed overwhelmingly on the disciple.

On June 30, 1968 in Ajmer city of Rajasthan State Vidya

Dhar took the 'Muni' diksha in the Digambar sect of Jainism. On this occasion, he was spiritually renamed as "Muni Vidya Sagar". In consonance with his name, he worked under worthy guidance of his master Acharya Shri Gyan Sagar, and learnt "Prakrat", "Apbhransa", "Sanskrit", "Hindi", "English" and "Bengali" languages thoroughly. He also studies "Philosophy", "History", "Psychology", "Grammar" and "Literature" at length. However, Austere discipline and meditation consttuted his choicest peak of spiritual experiences.

Acharya Shri Gyan Sagarji renounced his "Acharya" title and bestowed the same to Shri Vidya Sagar The title of "Acharya" is the highest in the hierarchy of the Jain masters before they atain the coveted "Kewal Gyan" An Acharya works not only for his self realisations, but also instructs, guides and inspires his disciples the "Munies", the "Elaks", the "Kshullaks", the "Aryikas" etc in his Sangh by setting an example conducting in accordance with the teaching of the "Tirthankars". Besides he also guides the "Shravakas" (house holders) in their spiritual journey. The main object of an "Acharya" is to help in attaining "Kewal Gyan" and salvation from the cycle of birth and rebirth

Jainism is the oldest of the ancient religions. It preaches strict self control, minimisation of worldly desires and mortification of flesh for attaining the coveted 'Omniscience' and eventual salvation The code of conduct set for Digambar Jain Muni is credibly austere. He remains "Digamber" i e naked and bears the rigours of all seasons with equamnity Sultry summers and winters are just irrelevant to him. He shuns worldly comforts and conveniences like fan, heater, mirror, telephone, T V , car, utensils and sleeping beds He abstains from having bath He can have a silent meal of counted morsels in the standing posture offered by the "Shravakas" and drinking water only once a day He slips the meals if he does not find the 'vidhi' he had mentally thought of setting out for his meals He keeps himself engaged in meditation, self introspection and study of the spiritual knowledge He does not shave, but performs "Kesh Lonch", which means manually uprooting the hair of the head and face by own hands A muni is required to observe fast on the days of "Kesh Lonch" Acharya Vidya Sagar has not only gone through the ordeals and adhered to the way of life set for the "Munis" in the scriptures, but his adherence is so total that he can be said to be a personification of the three jewels i e , "Right Faith", "Right Knowledge" and "Right Conduct"

It is difficult to fathom the inner achievements of a Jain Muni attained during his silent austerity because his inner life is like a stream flowing underneath the ground and invisible to the naked eye of an onlooker. A layperson can assess him only by what he sees. He can count Acharya Vidya Sagar's achievements in terms of his 25,000 kms. journey completely bare-footed, the lectures and sermons delivered by him to teach and propagate Jain philosophy and system and what he has

experienced during 29 years of his supreme renunciation and inner journey.

Muni Vidya Sagar started on spiritual path like a tiny stream but various tributaries joined him 'enroute' and he has now swallowed in the mighty ocean of knowledge and spirituality in encompassing the whole of the country About 150 disciples called "Munies", "Elaks", "Kshullakas", and Aryikas" etc. are contributing to create a powerful spiritual atmosphere under what is known as "Shraman Sanskrity"

In realm of literature the contribution of Acharya Shri Vidya Sagar is in legion. The pieces of his literature include "Mook Mati", "Narmada Ka Naram Kankar", "Dubo Mat, Lagaoo Dubaki", "Tota Kyon Rota", "Daha Dohan", "Chetana Ke Gherav Mein", "Vidhya Kavya Bharati", "Sarda Stuti," and "Panch Stuti" etc. His master piece captioned "Mook Mati" has been acclaimed widely both at national and international levels. His works contain exquisite account of his subtle inner experiences in literary field. He has translated into Hindi many, a difficult "Prakrat", "Apbhransa" and "Sanskrit" master pieces such "Samaysar", "Ashta Pahund" and "Shravaka Chara" and many more for the use of the common man interested in the spiritual journey.

The researchers and scholars in various Indian Universities have conducted research on Acharya Shri Vidya Sagar's writing and have been awarded prestigious Ph.D., and D.Litt. degrees.

'Shrawan Sanskriti' holds that an individual can attain the peak in spiritualism independently and meekly through an inner journey without banking on the grace of any external entity It aims at salvation without bondage. Acharya Shri Vidya Sagar has worked on the experienced concept and has taken it to its logical climax.

On Nov. 27, 1996 the silver jubilee of the 'Acharya' title conferred upon on Muni Shri Vidya Sagar was celebrated. The best tribute to an Acharya, life and work can not be mere bowing and stooping to his person, but it can be accomplished by taking a resolve to explore the path by leading oneself to the realisation, the unknown hidden pinnacles and horizons embedded in luminous human soul. With head in the 'Samay Sar' and foot in "Moolachar", Acharya Shri Vidya Sagar will continue to inspire those grouping absensity of materialism He is a scion in lineage of the "Siddhas".

There is no dearth of saints in India today. They have renounced the world but a lot many of them seem to be groping in search of inner light Their faces do not ensure that they have gained what they had left the world for. Many of them may be divided and lacking in self confidence, but with his firm root in the tradition of "Tirthankars", Acharya Shri Vidya Sagar is confident in his meekness and flashes a spiritual taster which is unique and different from all other saints.

VIRANDRA GODIKA
(I. P. S.)
S. P. Shri Ganga Nagar (Raj.)

जैन गीता

जैन गीता

मूल : समणसुत्तं (प्राकृत)

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

जैन गीता

-: मङ्गलसूत्र :-

(वसन्ततिलका छन्द)

हे ! शान्त सन्त अरहन्त अनन्त ज्ञाता,
हे ! शुद्ध बुद्ध शिव सिद्ध अबद्ध धाता ।
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सिन्धु ?
मैं बार बार तुम पाद पयोज बंदूँ ॥१॥

है मूलमंत्र नवकार सुखी बनाता,
जो भी पढ़े विनय से अघ को मिटाता ।
है आद्य मंगल यही सब मंगलों में,
ध्याओ इसे न भटको जग-जंगलों में ॥२॥

सर्वज्ञदेव अरहन्त परोपकारी,
श्री सिद्ध वन्द्य परमातम निर्विकारी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार मंगल, अमंगल को निवारे ॥३॥

श्री वीतराग अरहन्त कुकर्मनाशी,
श्री सिद्ध शाश्वत सुखी शिवधामवासी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार उत्तम, अनुत्तम शेष सारे ॥४॥

ये बाल भानु सम हैं अरहन्त स्वामी,
लोकाग्र में स्थित सदाशिव सिद्ध नामी ।
श्री केवली कथित आगम साधु प्यारे,
ये चार ही शरण हैं जग में हमारे ॥५॥

जो श्रेष्ठ हैं शरण, मंगल, कर्म जेता,
आराध्य हैं परम हैं शिवपंथ नेता ।
हैं वन्द्य खेचर नरों, असुरों, सुरों के,
वे ध्येय, पंच गुरु हों, हम बालकों के ॥६॥

है घातिकर्मदल को जिनने नशाया,
विज्ञान पा सुख अतुल्य अनन्त पाया ।
हैं भानु भव्यजनकंज विकासते हैं,
शुद्धात्म की विजय हो अरहन्त वे हैं ॥७॥

कर्त्तव्य था कर लिया, कृतकृत्य दृष्टा,
हैं मुक्त कर्म-तन से निज-द्रव्य-स्रष्टा ।
हैं दूर भी जनन मृत्यु तथा जरा से,
वे सिद्ध सिद्धि सुख दें मुझको जरा से ॥८॥

ज्ञानी, गुणी मतमतान्तरज्ञान धारें,
संवाद से सहज वाद-विवाद टारें ।
जो पालते परम पंच महाव्रतों को,
आचार्य वे सुमति दें हम सेवकों को ॥९॥

अज्ञान रूप-तम में भटके फिरे हैं ?
संसारिजीव हम हैं दुख से घिरे हैं
दो ज्ञान ज्योति उवझाय ! व्यथा हरो ना !!
ज्ञानी बनाकर कृतार्थ हमें करो ना !!! ॥१०॥

अत्यंत शान्त विनयी समदृष्टिवाले,
शोभें प्रशस्त यश से शशि से उजाले ।
हैं वीतराग परमोत्तम शीलवाले,
वे प्राण डालकर साधु मुझे बचालें ॥११॥

अर्हंत अकाय परमेष्ठि विभूतियों के,
आचार्यवर्य, उवझाय, मुनीश्वरों के ।
जो आद्य वर्ण, अ, अ, आ, उ, म को निकालो,
"ओं"कार पूज्य बनता, क्रमशः मिला लो ॥१२॥

आदीश हैं अजित संभव मोक्ष धाम,
वन्दूं गुणौघ अभिनन्दन हैं ललाम
सद्भाव से सुमति पद्म सुपार्श्व ध्याऊँ
चन्द्रप्रभु चरण से चित्ति ना चलाऊँ ॥१३॥

श्री पुष्पदन्त शशि-शीतल शील पुंज,
श्रेयांस पूज्य, जगपूजित वासुपूज्य ।
आदर्श से विमल, सन्त अनन्त, धर्म,
मैं शान्ति को नित नमूँ मिलजाय शर्म ॥१४॥

श्री कुन्थुनाथ अरनाथ सुमल्लि स्वामी,
सद्बोध धाम मुनिसुव्रत विश्व नामी ।
आराध्य देव नमि और अरिष्ट नेमी,
श्री "पार्श्व वीर" प्रणमूँ, निज धर्म प्रेमी ॥१५॥

हैं भानु से अधिक भासुर कान्ति वाले,
निर्दोष इसलिए शशि से निराले ,
गंभीर वीर-निधि से जिन सिद्ध प्यारे,
संसार सागर सुतीर मुझे उतारें ॥१६॥

(२) जिनशासन सूत्र

हो के विलीन जिसमें मन मोद पाते,
हैं भव्यजीव भववारिधि पार जाते ।
श्री जैन शासन रहे जयवन्त प्यारा,
भाई वही शरण, जीवन है हमारा ॥१७॥

पीयूष है, विषय-सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी "जिनभारती" है ॥१८॥

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत शास्त्र बाद, गणनायक ने बनाया ।
पूजूँ इसे मिल गया श्रुतबोध सिन्धु,
पी, बिन्दु, बिन्दु, दृगबिन्दु समेत वन्दूँ ॥१९॥

प्यारी जिनेन्द्र मुख से निकली सुवाणी,
है दोष की न मिलती जिसमें निशानी ।
ओ ही विशुद्ध परमागम है कहाता,
देखो वहीं सब पदार्थ-यथार्थ-गाथा ॥२०॥

श्रद्धा समेत जिन आगम जो निहारें,
चारित्र भी तदनुसार सदा सुधारें ।
संक्लेश भाव तज निर्मल भाव धारें,
संसारि जीवन परीत बनाय सारे ॥२१॥

हे ! वीतराग ! जगदीश ! कृपा करो तो,
हे विज्ञ, ज्ञान मुझ बालक में भरो तो ।
होऊँ विरक्त तन से, शिव मार्ग गामी,
मैं केवली विमल निर्मल विश्व नामी ॥२२॥

है ओज तेज झरता मुख से शशी हैं,
गंभीर, धीर गुण आगर हैं वशी हैं ।
वे ही स्वकीय परकीय सुशास्त्र ज्ञाता,
खोलें जिनागम रहस्य सुयोग्य शास्ता ॥२३॥

जो भी हिताहित यहाँ निज के लिए हैं,
वे ही सदैव समझो परके लिए हैं ।
है जैन शासन यहीं करुणा सिखाता,
सत्ता सभी सदृश हैं सबको दिखाता ॥२४॥

(३) संघ सूत्र

है शीघ्र से सकल कर्म कलंक धोता,
ना दोष धाम वह तो गुण धाम होता ।
हो एकमेक जिससे दृग बोध वृत्त,
जानो सभी सतत "संघ" उसे प्रशस्त ॥२५॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को "गण" नित्य मानो,
है "गच्छ" मोक्ष पथ पे चलना सुजानो ।
सत संघ है गुण जहाँ उभरे हुए हैं,
शुद्धात्म ही समय है, गुरु गा रहे हैं ॥२६॥

आओ यहाँ अभय है भवभीत ! भाई,
धोखा नहीं, न छल, शीतलता सुहाई ।
माता पिता सब समा नहिं भेद नाता,
लो संघ की शरण, सत्य अभेद भाता ॥२७॥

सम्यक्त्व में चरित में अति प्रौढ़ होते,
विज्ञानरूप सर में निजको डुबोते ।
जो संघ में रह स्वजीवन को बिताते,
वे धन्य हैं सफल जीवन को बनाते ॥२८॥

जो भक्ति भाव रखता गुरु में नहीं है,
लज्जा न नेह भय भी गुरु से नहीं है ।
सम्मान गौरव कभी यदि ना करेगा,
ओ व्यर्थ में गुरुकुली बन क्या करेगा ? ॥२९॥

भाई अलिप्त सहसा विधि नीर से है,
उत्फुल्ल भी जिनप सूर्य प्रकाश से है ।
सागार भव्य अलि आ गुण गा रहे हैं ?
गाते जहाँ प्रगुण केसर पी रहे हैं ॥३०॥

भाती जहाँ वह महाव्रत कर्णिका है,
ना नाप भी श्रुतमयी-सुमृणालका है ।
घेरे हुए श्रमणरूप सहस्र-पत्र,
ओ "संघ पद्म" जयवन्त रहे पवित्र ॥३१॥

(४) निरूपण सूत्र

निक्षेप और नय, पूर्ण प्रमाण द्वारा,
ना अर्थ को समझता यदि जो सुचारा ।
तो सत्य तथ्य विपरीत प्रतीत होता,
होता असत्य सब सत्य, उसे डुबोता ॥३२॥

निक्षेप है वह उपाय सुजानने का,
होता वही नय निजाशय ज्ञानियों का ।
तू ज्ञान को समझ सत्य प्रमाण भाई,
यों युक्ति पूर्वक पदार्थ लखें, भलाई ॥३३॥

दो मूल में नय सुनिश्चय, औ व्यावहार,
विस्तार शेष इनका करता प्रचार ।
पर्याय-द्रव्य नय हैं नय दो नयों में,
होते सहायक सुनिश्चय साधने में ॥३४॥

धारे अनन्त गुण यद्यपि द्रव्य सारे,
तो भी "सुनिश्चय" अखण्ड उन्हें निहारे।
पै खंड खंड कर द्रव्य अखण्ड को भी,
देखे कथंचित यहाँ "व्यवहार" सो ही ॥३५॥

विज्ञान औ चरित, दर्शन जीव के हैं,
ज्ञानी कहें, सकल वे व्यवहार से हैं।
ज्ञानी परन्तु वह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥३६॥

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्ष दाता,
होता निषिद्ध व्यवहार नहीं सुहाता।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय सन्त योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥३७॥

बोलो न आर्य नर से यदि आर्य भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया,
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥३८॥

भूतार्थ शुद्ध नय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार, हमें भुलाता।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता।
सम्यक्त्वभूषित, वही मन मैल धोता ॥३९॥

जाने नहीं कि वह निश्चय चीज क्या है
है मानते सकल बाह्य क्रिया वृथा है।
वे मूढ नित्य रट निश्चय की लगाते
चारित्र नष्ट करते, भवको बढ़ाते ॥४०॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी।
शुद्धात्म से च्युत, सराग चरित्र वाले
भूले न लक्ष्य व्यवहार अभी सभाले ॥४१॥

है कौन से श्रमण के परिणाम कैसे,
कोई पता नहिं बता सकता कि ऐसे।
तल्लीन हो यदि महाव्रत पालने में
वे वन्द्य हैं नित नमूं व्यवहार से मैं ॥४२॥

वे ही मृषा नय, करें पर की उपेक्षा,
एकान्त से स्वयं की रखते अपेक्षा।
सच्चे सदैव नय वे पर को निभाते,
बोलें परस्पर मिलें व गले लगाते ॥४३॥

"उत्सर्ग मार्ग" निजमें निजका विहारा,
शास्त्रादि साधन रखा अपवाद न्यारा।
ज्ञानादि कार्य इनसे बनते सुचारा,
धारो यथोचित इन्हें सुख हो अपारा ॥४४॥

(५) संसार चक्र सूत्र

संसार शाश्वत नहीं ध्रुव है न भाई,
पाऊँ निरन्तर यहाँ दुख, ना भलाई।
तो कौन सी विधि विधान सुयुक्तियाँ रे!
छूटे जिसे कि मम दुर्गति पंक्तियाँ रे! ॥४५॥

ये भोग काम, मधु लिप्त कृपाण से हैं,
देते सदा दुख सुमेरु-प्रमाण से हैं।
संसार पक्ष रखते, सुख के विरोधी,
है पाप धाम, इनसे मिलती न बोधी ॥४६॥

भोगे गये विषय ये बहुबार सारे,
पाया न सार इनमें, मनको विदारें ।
रे ! छान बीन करलो तुम बार बार,
निस्सार भूत कदली करू में न सार ॥४७॥

प्रारंभ में अमृत सी सुख शान्ति कारी,
दें अन्त में अमित दारुण दुःख भारी ।
भूपाल-इन्द्रपदवी सुर सम्पदायें ।
छोड़ो इन्हें विषम ये दुख आपदायें ॥४८॥

ज्यो तीव्र खाज चलती खुजली खुजाते,
रोगी तथापि दुख को सुख ही बताते ।
मोहाभिभूत मतिहीन मनुष्य सारे,
त्यों काम जन्य दुख को सुख ही पुकारें ॥४९॥

संभोग में निरत, सन्मति से परे हैं,
जो दुःख को सुख गिनें, भ्रम में परे हैं ।
वे मूढ कर्म-मल में फसते तथा हैं,
मक्खी गिरी तड़पती कफ में यथा है ॥५०॥

हो वेदना जनन मृत्यु तथा जरा से,
ऐसा सभी समझते, सहसा सदा से ।
तो भी मिटी विषय लोलुपता नहीं है,
मायामयी सुदृढ गांठ खुली नहीं है ॥५१॥

संसारिजीव जितने फिरते यहाँ है,
वे राग रोष करते दिखते सदा है ।
दुष्टाष्ट कर्म जिससे अनिवार्य पाते,
हैं कर्म के वहन से गति चार पाते ॥५२॥

पाते गती, महल-देह उन्हें मिलेगी,
वे इन्द्रियाँ खिड़कियाँ जिसमें खुलेगी ।
होगा पुनः विषय सेवन इन्द्रियों से,
रागादिभाव फिर हो जग-जन्तुओं से ॥५३॥

मिथ्यात्व के वश अनादि अनन्त मानो,
सम्यक्त्व के वश अनादि सुसान्त जानो ।
संसारिजीव इस भांति विभाव धारें,
वे धन्य हैं तज इन्हें शिव को पधारें ॥५४॥

लो ! जन्मसे, नियम से दुख जन्म लेते,
मारी जरा मरण भी अति दुःख देते
संसार ही ठसाठसा दुख से भरा है,
पीड़ा चराचर सहें सुख ना जरा है ॥५५॥

(६) कर्म-सूत्र

जो भी जहाँ जब जभी जिस भाँति भाता,
विज्ञान में तब तभी उस भांति आता ।
जो अन्यथा समझता करता बताता ।
कुज्ञान ही वह, सदा सबको सताता ॥५६॥

रागादि भाव करता जब जीव जैसे,
तो कर्म बन्धन बिना बच जाय कैसे ? ।
भाई ! शुभाशुभ विभाव कुकर्म आते,
हैं जीव संग बंधते, तब वे सताते ॥५७॥

जो काय से वचनसे मद मत्त होता,
लक्ष्मी धनार्थ निज जीवन पूर्ण खोता ।
त्यों राग रोष वश ही वसु कर्म पाता,
ज्यों सर्प, जो कि द्विमुखी, मृण नित्य खाता ॥५८॥

माता पिता सुत सुतादिक साथ देते ?
आपत्ति में, न सब वे दुख बाँट लेते ।
जो भोगता करमको करता अकेला,
औचित्य कर्म बनता उसका सुचेला ॥५९॥

है बन्ध के समय जीव स्वतन्त्र होते,
हो कर्म के उदय में परतंत्र रोते ।
जैसे मनुष्य तरुपे चढ़ते अनूठे,
पानी गिरा, गिर गये जब हाथ छूटे ॥६०॥

हा ! जीव को "सबल" कर्म कभी सताता,
तो कर्म को सहज जीव कभी दबाता ।
देता धनी धन अरे ! जब निर्धनी को,
होता बली, ऋण ऋणी जब दे धनी को ॥६१॥

सामान्य से करम एक, नहीं द्विधा है,
है द्रव्य कर्म जड़, चेतन से जुदा है ।
जो कर्म शक्ति अथवा रति-रोष-भाव,
है भावकर्म जिससे कर लो बचाव ॥६२॥

शुद्धोपयोग मय आतम को निहारें,
वे साधु इन्द्रियजयी मन मार डारें ।
ना कर्म रेणु उनपे चिपके कदापि,
ना देह धारण करें फिर से अपापी ॥६३॥

ना ज्ञान-आवरण से सब जानना हो,
ना दर्शनावरण से सब देखना हो ।
है वेदनीय सुख दु:ख हमें दिलाता,
है मोहनीय उलटा जग को दिखाता ॥६४॥

ना आयु के उदय में, तन जेल छूटे,
है नाम कर्म रचता, बहुरूप झूठे ।
है उच्च-नीच पददायक गोत्र कर्म,
संक्षेप से समझलो तुम अष्ट कर्म,
सद्धर्म से सब सधे शिव-शान्ति शर्म ॥६५॥

होती इन्हीं सम सदा वसु कर्म चाल,
कर्मानुसार समझो, पट, द्वारपाल
औ खड्ग, मद्य, हलि, मालिक चित्रकार,
है कुम्भकार क्रमश: वसु कोष पाल ॥६६॥

(७) मिथ्यात्व सूत्र

संमोह से भ्रमित है मन मत्त मेरा,
है दीखता सुख नहीं, परित: अँधेरा ।
स्वामी रुका न अबलौं गति चार फेरा,
मेरा अत: नहि हुवा शिव में बसेरा ॥६७॥

मिथ्यात्व के उदय से मति भ्रष्ट होती,
ना धर्म कर्म रुचता, मिट जाय ज्योति ।
पीयूष भी परम-पावन-पेय-प्याला,
अच्छा लगे न ज्वर में बन जाय हाला ॥६८॥

मिथ्यात्व से भ्रमित पीकर मोह-प्याला,
ज्वालामुखी तरह तीव्र कषाय वाला ।
माने न चेतन अचेतन को जुदा जो,
होता नितान्त बहिरातम है मुधाओ ॥६९॥

तत्त्वानुकूल यदि जो चलता नहीं है,
मिथ्यात्व चीज इससे बढ़ कौनसी है ।
कर्त्तव्य मूढ, परको वह है बनाता,
मिथ्यात्व को सघन रूप तभी दिलाता ॥७०॥

(८) रागपरिहार सूत्र

हैं कर्म के विषम बीज सराग रोष,
संमोह से करम हो बहुदोष कोष ।
तो कर्म से जनन मृत्यु तथा जरा हो
ये दुःख मूल, इनकी कब निर्जरा हो ? ॥७१॥

हो क्रूर, शूर, मशहूर, जरूर बैरी,
हानी तथापि उससे उतनी न तेरी ।
ये राग रोष तुझको जितनी व्यथा दें
कोई न दे, अब इन्हें दुख दे, मिटा दे ॥७२॥

संसार सागर असार अपार खारा,
संसारि को सुख यहाँ न मिला लगारा ।
प्राप्तव्य है परम पावन मोक्ष प्यारा ।
ना जन्म मृत्यु जिसमें सुख का न पारा ॥७३॥

चाहो सुनिश्चय भवोदधि पार जाना,
चाहो नहीं यदि यहाँ अब दुःख पाना ।
धोखा न दो स्वयम को टलजाय मौका,
बैठो सुशीघ्र तप संयम रूप नौका ॥७४॥

सम्यक्त्वरूप गुण को सहसा मिटाते,
चारित्ररूप पथ से बुध को डिगाते ।
ये पाप ताप मय हैं रति राग रोष,
हो जा सुदूर इन से, मिल जाय तोष ॥७५॥

भोगाभिलाष वश ही बस भोगियों को,
होता असह्य दुख है सुर-मानवों को ।
ना साधु मानसिक कायिक दुःख पाते,
वे वीतराग बन जीवन हैं बिताते ॥७६॥

वैराग्य भाव जगता जिस भाव से है ?
जो कार्य आर्य करते, अविलम्ब से हैं
जो है विरक्त तन से भव पार जाते,
आसक्त भोगतन में भव को बढ़ाते ॥७७॥

हैं राग रोष दुख, पै न पदार्थ सारे,
वे बार बार मन में बुधयों विचारें ।
तृष्णा अत: विषयकी पड़ मंद जाती,
जाती विमोह ममता, समता सुहाती ॥७८॥

मैं शुद्ध चेतन अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला ।
रे ! देह नेह करना अति दु:ख पाना,
छोड़ो उसे तुम, यही गुरुका बताना ॥७९॥

मोक्षार्थ ही दमन हो सब इन्द्रियों का,
वैराग्य से शमन क्रोध कषायियों का ।
हो कर्म आगमन-द्वार नितान्त बन्द,
शुद्धात्म को नमन हो, नहिं कर्म बन्ध ॥८०॥

ज्यों शोभता जलज जो जलसे निराला,
त्यों वीतराग मुनि भी तनसे खुशाला ।
होता विरक्त, भवमें रहता यहीं है,
रंगीन में न रचता पचता नहीं है ॥८१॥

(९) धर्म सूत्र

पाता सदैव तप संयम से प्रशंसा,
औ धर्म मंगलमयी जिसमें अहिंसा ।
जो भी विनय से उर में बिठाते,
सानन्द देव तक भी उनको पुजाते ॥८२॥

है वस्तु का धरम तो उसका स्वभाव,
सच्ची क्षमादिदशलक्षण धर्म-नाव ।
ज्ञानादि रत्नत्रय धर्म, सुखी बनाता,
है विश्व कम त्रस थावर प्राणि त्राता ॥८३॥

प्यारी क्षमा मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच्य संयम धरो, तपसे भलाई ॥
त्यागो परिग्रह, अकिंचन गीत गा लो,
लो ! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥८४॥

हो जाय घोर उपसर्ग नरों सुरों से,
या खेचरों पशुगणों जन दानवों से ।
उद्दीप्त हो न उठती यदि क्रोध ज्वाला,
मानो उसे तुम क्षमामृत पेय प्याला ॥८५॥

प्रत्येककाल सबको करता क्षमा मैं,
सारे क्षमा मुझ करें नित मांगता मैं ।
मैत्री रहे जगत के प्रति नित्य मेरी,
हो वैर भाव किससे ? जब है न वैरी ॥८६॥

मैंने प्रमाद वश दुःख तुम्हें दिया हो,
किंवा कभी यदि अनादर भी किया हो ।
ना शल्य मान मन में रखता सुधा मैं,
हूँ मांगता विनय से तुमसे क्षमा मैं ॥८७॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी, सुशील, अति सुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो, मन मान लाते,
निर्भ्रान्त वे परम मार्दव धर्म पाते ॥८८॥

देता न दोष परको, गुण ढूढ लेता,
निन्दा करे स्वयम की, मन अक्ष जेता ।
मानी वही नियम से गुण धाम ज्ञानी,
कोई कभी गुण बिना बनता न मानी ॥८९॥

सर्वोच्च गोत्र हमने बहुबार पाया,
पा, नीच गोत्र, दुख जीवन है बिताया ।
मैं उच्च की इसलिए करता न इच्छा,
स्थाई नहीं क्षणिक चंचल उच्च नीचा ॥९०॥

आचार में वचन में व विचार में भी,
जो धारता कुटिलता नहि स्वप्न में भी ।
योगी वही सहज आर्जव धर्म पाता,
ज्ञानी कदापि निज दोष नहीं छिपाता ॥९१॥

मिश्री मिले, वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का मुनि बोलता है,
हो सत्य धर्म उसका, दृग खोलता है ॥९२॥

हो चोर चौर्य करता विषयाभिलाषी,
पाता त्रिकाल दुख हाय असत्य भाषी ।
देखो जभी दुखित ही वह है दिखाता,
सत्यावलम्बन सदीव सुखी बनाता ॥९३॥

साधर्मि के वचन आज नहीं सुहाते,
हैं पथ्यरूप, फलतः कटु दीख पाते ।
पीते अतीव कड़वी लगती दवाई,
नीरोगता फल मिले, मति मुस्कुराई ॥९४॥

विश्वास पात्र जननी सम सत्यवादी,
हो पूजनीय गुरु सादृश अप्रमादी ।
वे विश्व को स्वजन भाँति सदा सुहाते,
वन्दूँ उन्हें सतत मैं शिरको झुकाते ॥९५॥

ज्ञानादि मौलिक सभी गुण वे अनेकों,
हैं सत्य में निहित संयम शील देखो !
आवास ज्यों जलाधि जलजीवियों का ।
त्यों सत्य धर्म जग में सब सद्गुणों का ॥९६॥

ज्यों ज्यों विकास धनका क्रमशः चलेगा,
त्यों त्यों प्रलोभ बढ़ना, बढ़ता, बढ़ेगा ।
संपन्न कार्य कण से जब जो कि पूरा,
होता वहीं न मन से रहता अधूरा ॥९७॥

पा सैकड़ों कनक निर्मित पर्वतों को,
होगी न तृप्ति फिर भी तुम लोभियों को ।
आकाश है वह अनन्त, अनन्त आशा
आशा मिटे, सहज हो परितः प्रकाशा ॥९८॥

त्यों मोह से जनम, तामस लोभ का हो,
या लोभ से दुरित कारण, मोहका हो ।
ज्यों वृक्ष ओ ! उपजता उस बीज से है,
या बीज जो उपजता इस वृक्ष से है ॥९९॥

संतोष धार, समता जल से विरागी,
धोते प्रलोभ मलको बुध सन्त त्यागी ।
लिप्सा नहीं अशन में रखते कदापि,
हो शौच्य धर्म उनका, तज पाप पापी ! ॥१००॥

जो पालना समिति, इन्द्रिय जीतना है,
है योग रोध करना, व्रत धारना है ।
सारी कषाय तजना मन मारना है,
भाई वही सकल संयम साधना है ॥१०१॥

फोड़ा कषाय घटको, मन को मरोड़ा,
है योगि ने विषय को विष मान छोड़ा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निजको निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥१०२॥

वैराग्य धार भव भोग शरीर से ओ !
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझो उसने लिया है,
संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥१०३॥

भोगोपभोग मिलने पर भी कदापि,
जो भोगता न उनको बनता न पापी ।
त्यागी वही नियम से जग में कहाता,
भोगी न भोग तजता, भवरोग पाता ॥१०४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहिं सुखी, बस नित्य चंगा ।
भाई ! वही वर अकिंचन धर्म पाता,
पाता स्वकीय सुखको, अघ को खपाता ॥१०५॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोध मयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक हूँ सब से सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी ।
मेरी नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥१०६॥

मैं हूँ सुखी रह रहा सुख से अकेला,
मेरा न और कुछ है गुरु भी न चेला ।
उद्दाम हो यदि जले मिथिला यहाँ रे !
बोले "नमी" कि उसमें मम हानि क्या रे ॥१०७॥

निस्सार जान जिनने व्यवहार सारा,
छोड़ा, रखा न कुछ भी कुल पुत्र दारा ।
ऐसा कहें सतत वे सब सन्त सच्चे,
कोई पदार्थ जगमें न बुरे न अच्छे ॥१०८॥

ज्यों पद्म जो जलज हो, जलमें निराला,
औ ना गले, नहिं सड़े रहता निहाला ।
त्यों भोग में न रचता पचता नहीं है,
है वंद्य ब्राह्मण यहाँ जग में वही है ॥१०९॥

ना मोह भाव जिसमें दुख को मिटाया,
तृष्णा विहीन मुनि, मोहन को नशाया ।
तृष्णा विनष्ट उससे यति जो न लोभी,
हो लोभ नष्ट उससे बिन संग जो भी ॥११०॥

जो देह नेह तजता निज ध्यान धारी,
है ब्रह्मचर्य उसकी वह वृत्ति सारी ।
है जीव ही परम ब्रह्म सदा कहाता,
हूँ बार बार उसको शिर मैं नवाता ॥१११॥

चंद्रानना, मृगदृगी, मृदुहासवाली,
लीलावती, ललितये ललना निराली ।
देखो इन्हें, पर कभी न बनो विकारी,
मानो तभी कि "हम" है सब ब्रह्मचारी ॥११२॥

संसर्ग पा अनल का झट लाख जैसा,
स्त्री संग से पिघलता अनगार वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकान्त में विपिन में निजमें जरूर ॥११३॥

कामेन्द्रिका दमन रे ! जिसने किया है,
कोई नहीं अब उसे कठिनाइयां हैं ।
जो धैर्य से अमित सागर पार पाता,
क्या शीघ्र से न सरिता वह तैर जाता ? ॥११४॥

नारी रहो, नर रहो जब शील धारी,
स्त्री से बचें नर, बचे नर से सुनारी ।
स्त्री आग है, पुरुष है नवनीत भाई,
उद्दीप्त एक, पिघले, मिलते बुराई ॥११५॥

होती सुशोभित तथापि सुनारि जाति,
फैली दिगन्त तक है जिन-शील ख्याति ।
ये हैं पवित्र धरती पर देवतायें,
पूजें इन्हें नित सुरासुर अप्सरायें ॥११६॥

कामाग्नि से जल रहा त्रयलोक सारा,
देखो जहाँ विषय की लपटें अपारा ।
वे धन्य हैं यदपि पूर्ण युवा बने हैं,
सत् शील से लस रहे निजमें रमें हैं ॥११७॥

जो एक, एक कर रात व्यतीत होती,
आती न लौट, जनता रह जाय रोती ।
मोही अधर्मरत है, उसकी निशायें,
जातीं वृथा दुखद हैं उलटी दिशायें ॥११८॥

ले द्रव्य को वनिक तीन चले कमानें,
जाके बसे शहर में खुलतीं दुकानें ।
है विज्ञ एक उनमें धन को बढ़ाता,
है एक मूल धन लेकर लौट आता ॥११९॥

औ मूढ़ मूल धन को जिसने गवाया,
सारा गया विथत हाय ! किया कराया ।
ऐसा हि कार्य अबलौं हमने किया है,
सद्धर्म पा उचित कार्य कहाँ किया है ? ॥१२०॥

आत्मा स्वरूप रत आतम को जनाता,
शुद्धात्मरूप निज साक्षिक धर्म भाता ।
आत्मा उसी तरह से उसको निभावें,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे सुख पास आवे ॥१२१॥

(१०) संयम सूत्र

आत्मा मदीय दुखदा तरु शाल्मली है,
दाहात्मिका-विषम-वैतरणी नदी है ।
किंवा सुनंदनवनी मनमोहिनी है,
है कामधेनु सुखदा दुख-हारिणी है ॥१२२॥

आत्मा हि दुःख सुख रूप विभावकर्त्ता,
होता वही इसलिए उनका प्रभोक्ता ।
आत्मा अनात्म रत ही रिपु है हमारा,
तल्लीन हो स्वयम में तब मित्र प्यारा ॥१२३॥

आत्मा मदीय रिपु है बन जाय स्वैरी,
स्वच्छन्द इन्द्रिय-कषाय-निकाय बैरी ।
जीतूँ उन्हें निजनियंत्रण में रखूँ मैं,
धर्मानुसार चल के निज को लखूँ मैं ॥१२४॥

जीते भले हि रिपु को रण में प्रतापी,
मानो उसे न विजयी, वह विश्वतापी ।
रे ! शूर वीर विजयी जग में वही है,
जो जीतता स्वयम को बनता सुखी है ॥१२५॥

जीतो भले हि पर को, पर क्या मिलेगा ?
पूछूँ तुम्हें दुरित क्या उससे टलेगा ?
भाई लड़ो स्वयम से मत दूसरों से,
छूटो सभी सहज से भव बंधनों से ॥१२६॥

अत्यंत ही कठिन जो निज जीतना है,
कर्तव्य मान उस को बस साधना है ।
जो जी रहा जगत में बन आत्म जेता,
सर्वत्र दिव्य सुख का वह लाभ लेता ॥१२७॥

औचित्य है न परके वध बंधनों से,
मैं हो रहा दमित, जो कि युगों युगों से ।
होगा यही उचित, संयम योग धारूँ,
विश्वास है, स्वयम पे जय शीघ्र पाऊँ ॥१२८॥

हो एक से विरति तो रति एक से हो,
प्रत्येक काल सब कार्य विवेक से हो ।
ले लो अभी तुम असंयम से निवृत्ति,
सारे करो सतत सयंम में प्रवृत्ति ॥१२९॥

हैं राग रोष अघ कोष नहीं सुहाते,
ये पाप कर्म, सब से सहसा कराते ।
योगी इन्हें तज, जभी निज धाम जाते,
आते न लौट भव में, सुख चैन पाते ॥१३०॥

लो, ज्ञान ध्यान तप संयम साधना को,
हे साधु ! इन्द्रिय-कषाय निकाय रोको ।
घोड़ा कदापि रुकता न बिना लगाम,
ज्यों ही लगाम लगता, बनता गुलाम ॥१३१॥

चारित्र में जिन समान बन उजाले,
वे वीतराग, उपशान्त कषाय वाले ।
नीचे, कषाय उनको जब हैं गिराती,
जो हैं सराग, फिर क्या न उन्हें नचाती ? ॥१३२॥

हा ! साधु भी समुपशान्त कषाय वाला,
होता कषाय वश मंद विशुद्धि वाला ।
विश्वास भाजन कषाय अतः नहीं है,
जो आ रही उदय में अथवा दबी है ॥१३३॥

थोड़ा रहा ऋण, रहा व्रण मात्र छोटा,
हैं राग, आग लघु यों कहना हि खोटा ।
विश्वास क्योंकि इनपे रखना बुरा है,
देते सुशीघ्र बढ के दुख मर्मरा हैं ॥१३४॥

ना क्रोध के निकट "प्रेम" कदापि जाता,
है मान से विनय शीघ्र विनाश पाता ।
माया विनष्ट करती जग मित्रता को,
आशा विनष्ट करती सब सभ्यता को ॥१३५॥

क्रोधाग्नि का शमन शीघ्र करो क्षमा से,
रे ! मान मर्दन करो तुम नम्रता से ।
धारो विशुद्ध ऋजुता मिट जाय माया,
संतोष में रति करो, तज लोभ जाया ॥१३६॥

ज्यों देह में सकल अंग उपांगकों को,
लेता समेट कछवा, लख संकटों को ।
मेधावि लोग अपनी सब इन्द्रियों को,
लेते समेट निजमें भजते गुणों को ॥१३७॥

अज्ञान मान वश ही कुछ ना दिखाई,
मानो, अनर्थ घटना घट जाय भाई ।
सद्यः उसी समय ही उसको मिटाओ,
आगे कदापि फिर ना तुम भूल पाओ ॥१३८॥

जो धीर धर्म रथ को रुचि से चलाता,
है ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगाता ।
आराम-धर्ममय जो जिसको सुहाता,
धर्मानुकूल विचरें मुनि मोद पाता ॥१३९॥

(११) अपरिग्रह सूत्र

जो भी परिग्रह रखें विषयाभिलाषी,
वे चोर हिंसक कुशील असत्य भाषी ।
संसार की "जड़" परिग्रह को बताया,
यों संग को जिनप ने मन से हटाया ॥१४०॥

जो मूढ़ ले परम संयम से उदासी,
धारे धनादिक परिग्रह दास दासी ।
अत्यन्त दुःख सहता भव में दुलेगा,
तो मुक्ति द्वार अवरुद्ध नहीं खुलेगा ॥१४१॥

जो चित्त से जब परिग्रह को हटाता,
है बाह्य के सब परिग्रह को मिटाता ।
है वीतराग समधी अपरिग्रही है,
देखा स्वकीय पथ को मुनि ने सही है ॥१४२॥

मिथ्यात्व, वेदत्रय, हास्य विनाशकारी,
ग्लानी, रती, अरति, शोक, कुभीति भारी ।
ये नोकषाय, नव, चार कषायियाँ हैं,
यों भीतरी जहर चौदह ग्रंथियां हैं ॥१४३॥

ये खेत, धाम, धन धान्य अपारराशि,
शय्या, विमान, पशु, बर्तन, दास दासी ।
नाना प्रकार पट, आसन पंक्तियां रे ।
ये बाहरी जड़मयी दस ग्रंथियां रे ॥१४४॥

अत्यंत शांत गत कान्त नितान्त चंगा,
हो अंतरंग, बहिरंग, निसंग, नंगा ।
होता सुखी सतत है जिस भांति योगी,
चक्री कहाँ वह सुखी उस भांति भोगी ॥१४५॥

ज्यों नाग अंकुश बिना वश में न आता,
खाई बिना नगर रक्षण हो न पाता ।
त्यों संग त्याग बिन ही सब इन्द्रियां रे !
आती कभी न वश में, तज ग्रंथियां रे ॥१४६॥

देता तुझे अभय पार्थिव शिष्य प्यारा,
तू भी सदा अभय दे जग को सहारा।
क्या मान तू कर रहा दिन रैन हिंसा !!
संसार तो क्षणिक है भजले अहिंसा ॥१५९॥

(१३) अप्रमाद सूत्र

पाया इसे न अबला इसको न पाना,
मैंने इसे कर लिया, न इसे कराना।
ऐसा प्रमाद करते नहिं सोचना है,
आ जाय काल कब औ नहि सूचना है ॥१६०॥

संसार में कुछ न सार असार सारे,
है सारभूत समतादिक-द्रव्य प्यारे।
सोये हुए पुरुष ये बस सर्व खोते,
जो जागते सहज से विधि पंक धोते ॥१६१॥

सोना हि उत्तम अधार्मिक दुर्जनों का,
है श्रेष्ठ "जागरण" धार्मिक सज्जनों का।
यों वत्सदेश नृप की अनुजा "जयन्ती"
वाणी सुनी जिनप की वह शीलवन्ती ॥१६२॥

सोया हुवा जगत में बुध नित्य जागे,
जागे प्रबोध उर में सब पाप त्यागे।
है काल "काल" तन निर्बल ना विवाद,
भेरुण्ड से तुम अतः तज दो प्रमाद ॥१६३॥

धाता अनेकविध आस्रव का प्रमाद,
लाता सहर्ष वर संवर अप्रमाद।
ना हो प्रमाद तब पण्डित मोह-जेता
होता प्रमाद वश मानव मूढ़नेता ॥१६४॥

मोही प्रवृत्ति करते नहिं कर्म खोते,
ज्ञानी निवृत्ति गहते, मन मैल धोते ।
धीमान धीर धरते, धरते न लोभ,
ना पाप ताप करते करते न क्षोभ ॥१६५॥

मोही प्रमत्त बनते, भयभीत होते,
खोते स्वकीय पदको दिन रैन रोते ।
योगी करें न भयको बन अप्रमत्त,
वे मस्त व्यस्त निजमें निज-दत्त चित्त ॥१६६॥

मोही ममत्व रखता न विराग होता,
विद्या उसे न मिलती दिन रैन सोता ।
कैसे मिले सुख उसे जब आलसी है,
कैसे बने "सदय" हिंसक तामसी है ॥१६७॥

भाई सदैव यदि जागृत तू रहेगा,
तेरा प्रबोध बढ़ता बढ़ता बढ़ेगा ।
वे धन्य हैं सतत जागृत जी रहे हैं,
जो सो रहे अधम हैं विषयी रहे हैं ॥१६८॥

है देख, भाल चलता उठता, उठाता-
शास्त्रादि वस्तु रखता, तनको सुलाता ।
है त्यागता मल, चराचर को बचाता,
योगी अहिंसक दयालु वही कहाता ॥१६९॥

(१४) शिक्षा सूत्र

पाते नहीं अविनयी सुख सम्पदायें,
पा ज्ञान गौरव सुखी विनयी सदा ये ।
जानो यही अविनयी-विनयी समीक्षा
ज्ञानी बनो सहज, पाकर उच्च शिक्षा ॥१७०॥

मिथ्याभिमान करना, मनक्रोध लाना,
पाना प्रमाद, तनमें कुछ रोग आना ।
आलस्यकानुभव, ये जब पंच होते
शिक्षा मिले न हम बालक सर्व रोते ॥१७१॥

आलस्य हास्य मनरंजन त्याग देना,
होना सुशील, मन-इन्द्रिय जीत लेना
क्रोधी कभी न बनना, बनना न दोषी,
ना भूलना विषय में न असत्य-पोषी ॥१७२॥

भाई कदापि बनना न रहस्य भेदी,
ऐसा सदैव कहते गुरु आत्म वेदी ।
आजाय आठ गुण जीवन में किसी के,
विद्या निवास करती मुख में उसी के ॥१७३॥

सिद्धान्त के मनन से मन-हाथ आता,
विज्ञान भानु उगता, तमको मिटाता ।
जो धर्म निष्ठ बनता, परको बनाता,
सद्बोध रूप सरमें डुबकी लगाता ॥१७४॥

संसार को प्रिय लगे प्रिय बोल बोलो,
सद्ध्यान से तप तपो दृग पूर्ण खोलो ।
सिद्धान्त को गुरुकुली बन के पढ़ोगे,
स्वामी सभी श्रुत विशारद जो बनोगे ॥१७५॥

जाज्वल्य मान इक दीपक से अनेकों,
हैं शीघ्र दीप जलते अयि मित्र देखो ।
आचार्य दीप सम हैं तमको मिटाते,
आलोक धाम हमको सहसा बनाते ॥१७६॥

(१५) आत्म सूत्र

तत्वों, पदार्थ निचयों, जड़वस्तुओं में,
है जीव ही परम श्रेष्ठ यहां सबों में ।
भाई अनन्त गुण धाम नितान्त प्यारा,
ऐसा सदा समझ, ले उसका सहारा ॥१७७॥

आत्मा वही त्रिविध है बहिरन्तरात्मा,
आदेय है परम आतम है महात्मा
दो भेद हैं परम आतम के सुजानों,
हैं वीतराग "अरहन्त" "सुसिद्ध" मानो ॥१७८॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम है कहाता ।
चेतन्य धाम मुझसे, तन है निराला,
यों अन्तरात्म कहता, सम दृष्टिवाला ॥१७९॥

जो जानते जगत को बन निर्विकारी,
सर्वज्ञदेव अरहन्त शरीर धारी ।
वे सिद्ध चेतन-निकेतन में बसे हैं,
सारे अनन्त सुख से सहसा लसे हैं ॥१८०॥

वाक्काय से मनस से ऋषि सन्त सारे,
वे हेय जान बहिरात्मपना विसारे ।
हाँ ! अन्तरात्मपन को रुचि से सुधारें
प्रत्येक काल परमातमको निहारें ॥१८१॥

संसार चंक्रमण ना कुल, योनियां हैं
ना रोग, शोक, गति, जाति-विजातियां हैं
ना मार्गना न गुणथानन की दशायें
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥१८२॥

संस्थान, संहनन, ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण, स्पर्श, रस, गंध विकार भाई ।
ना तीन वेद, नहिं भेद, अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥१८३॥

पर्याय ये विकृतियां व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जगमें तुझे हैं ।
ये सिद्धके सदृश हैं जगजीव सारे,
तू देख शुद्धनय से मद को हटा रे ! ॥१८४॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से विकल है सुख का पिटारा ॥१८५॥

आत्मा मदीय गतदोष अयोग योगी,
निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोगी ।
निर्मोह, एक, नित, है सब संग त्यागी,
है देह से रहित, निर्मम, वीतरागी ॥१८६॥

संतोष-कोष, गतरोष, अदोष ज्ञानी,
निःशल्य शाश्वत दिगम्बर है अमानी
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय, नय निश्चय से अकामी ॥१८७॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, नय से मद मान-मुक्त ।
ज्ञाता वही सकल-ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥१८८॥

हूँ ज्ञानवान, मन ना, तन ना, न वाणी,
होऊं नहीं करण भी उनका न मानी ।
कर्त्ता न कारक न हूँ अनुमोददाता,
धाता स्वकीय गुणका, पर से न नाता ॥१८९॥

स्वामी ! जिसे स्वपर बोधि भला मिला है,
सौभाग्य से दृग-सरोज खुला खिला है ।
ओ क्या कदापि परको अपना कहेगा ?
ज्ञानी न मूढ़ सम दोष कभी करेगा ॥१९०॥

मैं एक शुद्धनय से दृग बोधस्वामी,
हूँ शुद्ध, बुद्ध, अवरुद्ध अबद्ध नामी ।
निर्मोह भाव करता निजलीन होऊं,
शुद्धोपयोग-जल से विधी-पंक धोऊं ॥१९१॥

प्रथम खंड समाप्त

दोहा

''ज्योतिर्मुख'' को नित नमूँ छूटे भव-भव-जेल,
सत्ता मुझको मम दिखे ज्योति ज्योति का मेल ॥१॥

द्वितीय खण्ड

१६ मोक्षमार्गसूत्र

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
''सन्मार्ग'' ''मार्गफल'' को जिन ने बताया ।
''सम्यक्त्वमार्ग'' जिसका फल मोक्ष न्यारा,
है जैन शासन यही सुख दे अपारा ॥१९२॥

चारित्र बोध-दृग है शिवपंथ प्यारा,
ले लो अभी तुम सभी इसका सहारा ।
तीनों सराग जब लौं कुछ बन्ध नाता,
ये वीतराग बनते, शिव पास आता ॥१९३॥

धर्मानुराग सुख दे, दुख मेट देता,
ज्ञानी प्रमाद वश यों यदि मान लेता,
अध्यात्म से पतित हो पुनि पुण्य पाता,
होना विलीन परमें, निजको भुलाता ॥१९४॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभाले,
ले ले भले हि तप, संयम-गीत गाले ।
और गुप्तियाँ समितियाँ कुलशील पाले,
पाते न बोध दृग, ना बनते उजाले ॥१९५॥

जानों न निश्चय तथा व्यवहारधर्म,
बांधो सभी तुम शुभाशुभ अष्ट कर्म ।
सारी क्रिया वितथ हो कुछ भी करो रे !
जन्मों, मरो, भ्रमित हो भव में फिरो रे ! ॥१९६॥

सदधर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहें अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥१९७॥

है पाप जो अशुभ भाव वही तुम्हारा,
है पुण्य सौम्य शुभ भाव सभी विकारा ।
है निर्विकार निजभाव नितान्त प्यारा,
हो कर्म नष्ट जिससे, सुख शान्ति धारा ॥१९८॥

जो पुण्य का चयन ही करता रहा है,
संसार को बस अवश्य बढ़ा रहा है ।
हो पुण्य से सुगति, पै भव ना मिटेगा,
हो पुण्य भी गलित तो शिव जो मिलेगा ॥१९९॥

मोही कहे कि शुभभाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभ भाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव, ? मुझे न भाता ॥२००॥

दो बेड़ियां, कनक की इक लोह की है,
ज्यों एक सी पुरुष को कस बांधती है ।
हा ! कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवें,
त्यों बांधते नियम से जड़ जीवको वे ॥२०१॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो
संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो
संसर्ग राग इनका, यदि जो रखेगा
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥२०२॥

अच्छा व्रतादिकतया सुर सौख्य पाना
स्वच्छन्दता अति बुरी फिर श्वभ्र जाना ।
अत्यंत अन्तर व्रताव्रत में रहा है
छाया-सुधूप द्वय में जितना रहा है ॥२०३॥

चक्री बनो सुकृत से, सुर सम्पदायें,
लक्ष्मी मिले, अमित दिव्य विलासतायें ।
पे पुण्य से परम पावन प्राण प्यारा,
सम्यक्त्व हा ! न मिलता सुख का पिटारा ॥२०४॥

देवायुपूर्ण दिवि में कर देव आते,
वे दैव से अवनि पे नर योनि पाते ।
भोगोपभोग गह, जीवन है बिताते,
यों पुण्य का फल हमें गुरु हैं बताते ॥२०५॥

वे भोग, भोग करभी नहिं फूलते हैं,
मक्खी समा विषय में नहि झूलते हैं ।
संस्कार हैं विगत के जिससे सदीव,
आत्मानुचिंतन सुधी करते अतीव ॥२०६॥

पाना मनुष्य भव को जिन देशना को,
श्रद्धा समेत सुनना तप साधना को ।
वे जान दुर्लभ इन्हें बुधलोक सारे,
काटें कुकर्म मुनि हो शिव को पधारें ॥२०७॥

१७ रत्नत्रय सूत्र (अ) व्यवहार रत्नत्रय

तत्वार्थ में रुचि हुई, दृग हो वहींसे,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
सच्चा तपश्चरण चारित नाम पाता,
है मोक्षमार्ग व्यवहार यही कहाता ॥२०८॥

श्रद्धान लाभ, बुध, दर्शन से लुटाता,
विज्ञान से सब पदार्थन को जनाता ।
चारित्रधार विधि आस्रवरोध पाता,
अत्यन्त शुद्ध निजको तपसे बनाता ॥२०९॥

निस्सार है चरित के बिन, ज्ञान सारा,
सम्यक्त्व के बिन, रहा मुनि भेष भारा ।
होता न संयम बिना तप कार्यकारी,
ज्ञानादि रत्नत्रय है भव दुःख हारी ॥२१०॥

विज्ञान का उदय हो दृग के बिना ना,
होते न ज्ञान बिन मित्र ! चरित्र नाना ।
चारित्र के बिन न हो शिव मोक्ष पाना,
तो मोक्ष के बिन कहाँ सुख का ठिकाना ? ॥२११॥

हा ! अज्ञ की सब क्रिया उलटी दिशा है
भाई क्रिया रहित ज्ञान व्यथा वृथा है
पंगू लखें अनल को न बचे कदापि,
दौड़े भले हि वह अन्ध जले तथापि ॥२१२॥

विज्ञान संयम मिले, फल हाथ आता,
हो एक चक्र रथको, चल वो न पाता ।
होवे परस्पर सहायक पंगु अन्धा,
दावाग्नि से बच सके, कहते जिनंदा ॥२१३॥

(आ) निश्चय रत्नत्रय सूत्र

संसार में समयसार सुधा-सुधारा,
लेता प्रमाण नयका न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी वर बोध-धाम
मेरे उसे विनय से शतशः प्रणाम ॥२१४॥

साधू चरित्र, दृग बोध समेत पालें,
आत्मा उन्हें समझ, आतम गीत गालें ।
ज्ञानी नितान्त निजमें निजको निहारें
वे अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारें ॥२१५॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में रतलीन होना,
धोना कषाय मलको, बनना सलोना ।
स्वीकारना न करना तजना किसी को,
तू जान मोक्षपथ वास्तव में इसी को ॥२१६॥

सम्यक्त्व है वह निजातमलीन आत्मा
विज्ञान है समझना निजको महात्मा !
आत्मस्थ आतम पवित्र चरित्र होता,
जानो जिनागम यही, अयि भव्य श्रोता ॥२१७॥

आत्मा मदीय यह संयम बोध-धाम,
चारित्र दर्शनमयी लसता ललाम ।
है त्यागरूप, सुखकूप, अनूप, भूप
ना नेत्रका विषय है नित है अरूप ॥२१८॥

१८ सम्यग्दर्शन सूत्र

(अ) व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व

सम्यक्त्व, रत्नत्रय में वर मुख्य नामी
है मूल, मोक्ष तरु का, तज काम कामी ।
है एक निश्चय तथा व्यवहार दूजा,
होते द्विभेद, उनकी कर नित्य पूजा ॥२१९॥

तत्वार्थ में रुचि भली भवसिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिव राह राही ॥२२०॥

कोई न भेद, दृग में, मुनि मौन में है
माने इन्हें सुबुध "एक" यथार्थ में है ।
होता अवश्य जब निश्चय का सुहेतु
सम्यक्त्व मान व्यवहार, सदा उसे तू ॥२२१॥

योगी बनो, अचल मेरु बनो तपस्वी,
वर्षों भले तप करो, बनके यशस्वी
सम्यक्त्व के बिन नहीं तुम बोधि पाओ
संसार में भटकते दुख ही उठाओ ॥२२२॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो हैं,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे,
पै भ्रष्ट दर्शनतया नहिं वे सिजेंगे ॥२२३॥

जो भी सुधा दृगमयी रुचि संग पीता,
निर्वाण पा, अमर हो, चिर काल जीता ।
मिथ्यात्व रूप मद पान अरे ! करेगा
होगा सुखी न, भव में भ्रमता फिरेगा ॥२२४॥

अत्यंत श्रेष्ठ, दृग ही जग में सदा से
माना गया जड़मयी सब संपदा से
तो मूल्यवान, मणि से कब "काच" होता ?
स्वादिष्ट इष्ट, घृत से कब छाछ होता ? ॥२२५॥

होंगे हुए परम आतम हो रहे हैं
तल्लीन आत्म सुख में नित जो रहे हैं ।
सम्यक्त्व का सुफल केवल जो रहा है ।
मिथ्यात्व से दुखित हो जग रो रहा है ॥२२६॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृगमंजु पत्र,
हो नीर में न सड़ता रहता पवित्र ।
त्यों लिप्त हो विषय से न, मुमुक्ष प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥२२७॥

धारें विराग दृग जो जिनधर्म पा के,
होते उन्हें विषय, कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इन्द्रियों से,
साधु सुधी न बँधते विधि-बंधनों से ॥२२८॥

वे भोग, भोग कर भी बुध हो न भोगी,
भोगे बिना जड़कुधी बन जाय भोगी ।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी,
कर्ता कथं फिर बनें ? उनके विरागी ॥२२९॥

ये काम भोग न तुम्हें समता दिलाते,
भाई ! विकार तुम में न कभी जगाते ।
चाहो इन्हें, यदि डरो इनसे जभी से,
पाओ अतीव दुख को सहसा तभी से ॥२३०॥

(आ) सम्यग्दर्शन अंग

ये अष्ट अंग दृग के, विनिशंकिता है,
नि:कांक्षिता विमल निर्विचिकित्सिता है ।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहनाको,
धारो स्थितिकरण "वत्सल" भावना को ॥२३१॥

नि:शंक हो निडर हो समदृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वगीत गालें ।
नि:शंकिता अभयता इक साथ होती,
है भीति ही स्वयम हो भयभीत, रोती ॥२३२॥

कांक्षा कभी न रखता जड़पर्ययों में,
धर्मों पदार्थ दलके विधि के फलों में ।
होता वही मुनि निकांक्षित अङ्ग धारी,
वन्दूँ उन्हें बन सकूं द्रुत निर्विकारी ॥२३३॥

सम्मान पूजन न वंदन जो न चाहें,
ओ क्या कभी श्रमण हो निज ख्याति चाहे ?
हो संयमी यति व्रती निज आत्म खोजी,
हो भिक्षु तापस वही उसको नमोंजी ॥२३४॥

हे ! योगियो ! यदि भवोदधि पार जाना
चाहो अलौकिक अपार स्वसौख्य पाना ।
क्यों ख्याति लाभ निज पूजन चाहते हो ?
क्या मोक्ष लाभ उनसे तुम मानते हो ? ॥२३५॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में पदार्थ,
मारे सदा परिणमें निज में यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लानि करते फलतः किसी से,
धारें तृतीय दृग अंग तभी खुशी से ॥२३६॥

ना मुग्ध, मूढ़, मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृष्टि अमूढ़ दृष्टि,
नासाग्र-दृष्टि रख, नाशत कर्म सृष्टि ॥२३७॥

चारित्र बोधि दृग से निजको सजाओ,
धारो क्षमा, तप तपो विधि को खपाओ ।
माया-विमोह ममता तज, मार मारो,
हो वर्धमान, गतमान, प्रमाण धारो ॥२३८॥

शास्त्रार्थ गौण न करो, न उसे छुपाओ,
विज्ञान का मद घमण्ड नहीं दिखाओ ।
भाई किसी सुबुध की न हँसी उड़ाओ,
आशीश दो न पर को, पर को भुलाओ ॥२३९॥

ज्यों ही विकार लहरें मन में उठें तो,
तत्काल योग त्रय से उनको समेटो ।
औचित्य ! अश्व जब भी पथ भूलता हो,
ले लो लगाम करमें, अनुकूलता हो ॥२४०॥

हे ! भव्य गौतम ! भवोदधि तैर पाया,
क्यों व्यर्थ ही रुक गया, तट पास आया !
ले ले छलांग झटसे अब तो धरापे
आलस्य छोड़, वरना दुख ही वहाँ पे ॥२४१॥

श्रद्धा समेत-चलते बुध धर्मिकों की-
सेवा सभक्ति करते उनके गुणों की ।
मिश्री मिले वचन जो नित बोलते हैं,
वात्सल्य अंग धरते, दृग खोलते हैं ॥२४२॥

८६

योगी ! सुयोग रत हो गिरि हो अकम्पा,
धारो सदैव उर जीव दयाऽनुकम्पा ।
धर्मोपदेश नित दो तज वासना दो,
ऐसा करो कि जिनधर्म प्रभावना हो ॥२४३॥

वादी सुतापस निमित्त सुशास्त्र ज्ञाता,
श्री सिद्धिमान, वृषक उपदेश दाता ।
विद्याविशारद, कवीश विशेष वक्ता
होता प्रचार इनसे वृषका महत्ता ॥२४४॥

१८ सम्यग्ज्ञान सूत्र

सतशास्त्र को सुन, हिताहित बोध पाओ,
आदेय हेय समझो, सुख चूंकि चाहो ।
आदेय को झट भजो, तज हेय भाई !
इत्थं न हो कुगति से पुनि हो सगाई ॥२४५॥

आदेश, ज्ञान प्रभुका शिवपंथ पंथी,
पाके स्वमें विचरते, तज सर्वग्रंथि ।
सम्यक्त्व योग तप संयम ध्यान धारें,
काटें कुकर्म, निज जीवन को सुधारें ॥२४६॥

ज्यों, ज्यों श्रुताम्बुनिधि में डुबकी लगाता,
त्यों, त्यों व्रती नव नवीन प्रमोद पाता ।
वैराग्य भाव बढ़ता श्रुतभावना हो,
श्रद्धान हो दृढ़, नहीं फिर वासना हो ॥२४७॥

सूची भलेहि करसे गिर भी गई हो,
खोती कभी न यदि डोर लगी हुई हो ।
साधु ससूत्र यदि हो, श्रुत बोध वाला,
होता विनष्ट भवमें न, रहे खुशाला ॥२४८॥

भाई भले तुम बनो बुध मुख्य नेता,
वक्ता कवी विविध वाङ्मय वेद वेत्ता !
आराधना यदि नहीं दृग की करोगे,
तो बार-बार तन धार दुखी बनोगे ॥२४९॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा ।
होगा विशारद जिनागम में भले ही
आत्मा त्वदीय दुख से भव में रुले ही ॥२५०॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्वपात्र किस भांति अहो बनेगा
आचार्य देव कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दुःख सहता, तज राग रागी ॥२५१॥

तत्वावबोध सहसा जिससे जगेगा,
चांचल्यचित्त जिससे वश में रहेगा ।
आत्मा विशुद्ध जिससे शशि सा बनेगा,
होगा वही विमल "ज्ञान" स्व सौख्य देगा ॥२५२॥

महात्म्य ज्ञान गुण का यह मात्र सारा,
रागी, विराग बनता तज राग खारा ।
मैत्री सदैव जग से रखता सुचारा,
शुद्धात्म मे विचरता, सुख पा अपारा ॥२५३॥

आत्मा, अनन्त, निज, शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से, विधि बन्धनों से ।
ऐसा निरन्तर निजातम देखते हैं ?
वे ही समग्र जिनशासन जानते हैं ॥२५४॥

हूँ काय से विकल, केवल, केवली हूँ
हूँ एक हूँ विमल ज्ञायक हूँ , बली हूँ
जो जानता स्वयम को इस भाँति स्वामी !
निर्भ्रान्ति हो वह जिनागमपारगामी ॥२५५॥

साधू समाधिरत हो निजको विशुद्ध
जानें, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ रागमयी विचारा,
होता न मुक्त भवसे, दुख हो अपारा ॥२५६॥

जो जानते मुनि निजातम को यदा है,
वे जानते नियमसे परको तदा है ।
है जानना स्वपर को इक साथ होता
ऐसा जिनागम रहा, दुख सर्व खोता ॥२५७॥

जो एक को सहज से मुनि जानते हैं,
वे सर्व को समझते जब जागते हैं ।
यों ईश का सदुपदेश सुना हमेशा,
संक्लेश द्वेष तज शीघ्र बनों महेशा ॥२५८॥

सद्बोधि रूप सर में डुबकी लगाले,
संतप्त तू स्नपित हो सुख तृप्ति पाले ।
तो अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके
विश्राम ले, अमित काल स्वधाम जाके ॥२५९॥

अर्हन्त स्वीय गृह को द्रुत जा रहें हैं,
वे शुद्ध-द्रव्य गुण पर्यय पा रहे हैं ।
जो जानता यति उन्हें निज जानता है
संमोह कर्म उसका झट भागता है ॥२६०॥

ज्यों वित्त बाँट स्वजनों नहिं दूसरों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में ।
पा नित्य ज्ञान निधि, नित्य नितान्त ज्ञानी,
त्यों हो सुखी, न रमता पर में अमानी ॥२६१॥

२० सम्यक्चारित्र सूत्र

(अ) व्यवहार चारित्र सूत्र

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्यकूप ।
पै व्यावहार नय-आश्रित ना स्वरूप
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥२६२॥

जो त्यागना अशुभको शुभ को निभाना
मानो उसे हि व्यवहार चरित्र बाना ।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाते सदैव व्यवहारतया पुकारे ॥२६३॥

चारित्र के मुकुट से शिर ना सजोगे,
आरूढ़ संयममयी रथ पे न होगे ।
स्वाध्याय में रत रहो तुम तो भले ही
ना मुक्ति मंजिल मिले, दुख ना टले ही ॥२६४॥

देता क्रियारहित ज्ञान नहीं विराम,
मार्गज्ञ हो यदि चले न, मिले न धाम ।
किंवा नहीं यदि चले अनुकूल वात,
पाता न पोत तट को यह सत्य बात ॥२६५॥

चारित्र शून्य नर जीवन ही व्यथा है,
तो आगमाध्ययन भी उसका वृथा है ।
अन्धा कदापि कुछ भी जब ना लखेगा
जाज्वल्यमान करदीपक क्या करेगा ? ॥२६६॥

अत्यल्प भी बहुत है श्रुत ही उन्हीं का,
जो संयमी, सतत ध्यान धरें उन्हीं का ।
सागार का बहुत भी श्रुत बोध "भार",
चारित्र को न जिसने उरसे सुधारा ॥२६७॥

(आ) निश्चय चारित्र

आत्मार्थ आतम निजातम में समाना,
सच्चा सुनिश्चय चरित्र वही कहाता ।
हे भव्य पावन पवित्र चरित्र पालो
पालो अपूर्व पदको, निजको दिपालो ॥२६८॥

शुद्धात्म को समझके परमोपयोगी,
है पाप पुण्य तजता, धर योग योगी ।
ओ निर्विकल्प मय चारित है कहाता,
मेरे समा निकट भव्यन को सुहाता ॥२६९॥

रागाभिभूत बन तू पर को लखेगा,
भाई शुभाशुभ विभाव खरीद लेगा ।
तो वीतराग मय चारित से गिरेगा,
संसार बीच पर चारित से फिरेगा ॥२७०॥

हो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
शुद्धात्म में विचरता जब साधु-चंगा ।
सम्यक्त्व बोधमय आतम देख पाता,
आत्मीय चारित सुधारक है कहाता ॥२७१॥

आतापनादि तप से तन को तपाना
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना
हे मित्र ! बालतप संयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते, भव में घुमाता ॥२७२॥

लो ! मास मास उपवास करे रुची से,
अत्यल्प भोजन करें न डरे किसी से ।
पै आत्म बोध बिन मूढ़ व्रती बनेगा ?
ना धर्म लाभ लवलेश उसे मिलेगा ॥२७३॥

चारित्र ही परम धर्म यथार्थ में है,
साधू जिसे शममयी लख साधते हैं ।
मोहादिसे रहित आतम भाव प्यारा,
माना गया समय में शम साम्य सारा ॥२७४॥

मध्यस्थ भाव समभाव, विराग भाव,
चारित्र, धर्ममय भाव, विशुद्ध भाव ।
आराधना स्वयम की पद सात सारे
हैं भिन्न भिन्न, पर आशय एक धारें ॥२७५॥

शास्त्रज्ञ हो श्रमण हो समधी तपस्वी,
हो वीतरागी व्रत संयम में यशस्वी ।
जो दुःख में व सुख में समता रखेगा
शुद्धोपयोग उस ही क्षण में लखेगा ॥२७३॥

शुद्धोपयोग दृग है वर बोध-भानु
निर्वाण, सिद्धि, शिव भी उसको हि जानूँ ।
मानूँ उसे श्रमणता मन में बिठालूँ ?
वंदूँ उसे नित नमूँ निज को जगालूँ ॥२७७॥

शुद्धोपयोग वश साधु सुसिद्ध होते,
स्वात्मोत्थ-सातिशय शाश्वत सौख्य जोते ।
जाती कही न जिसकी महिमा कभी भी,
अन्यत्र छोड़ जिसको सुख ना कहीं भी ॥२७८॥

वे मोह राग-रति-रोष नहीं किसी से
धारें सुसाम्य सुख में दुख में रुचि से ।
होके बुभुक्षु नहिं, भिक्षु, मुमुक्षु होके
आते हुए सब शुभाशुभ कर्म रोकें ॥२७९॥

(३) समन्वय सूत्र

है वीतराग व्रत साध्य सदा सुहाता,
होता सराग व्रत साधन, साध्यदाता ।
तो पूर्व साधन, अनन्तर साध्य धारो,
संपूर्ण बोध मिलता, शिवको पधारो ॥२८०॥

ज्यों भीतरी कलुषता मिटती चलेगी,
त्यों बाहरी विमलता बढ़ती बढ़ेगी ।
देही प्रदोष मन में रखता जभी है,
हा! बाह्य दोष सहसा करता तभी है
रे! पंक भीतरी सरोवर में रहा है
जो बाह्य में जल कलंकित हो रहा है ॥२८१॥

जो पांच पाप तज, पावन पुण्य पाता,
हो दूर भी अशुभ से शुभको जुटाता ।
रागादि भाव फिर भी यदि ना तजेगा
शुद्धात्म को न मुनि होकर भी भजेगा ॥२८३॥

तो आदि में अशुभ को शुभ से मिटाओ,
शुद्धोपयोग बल से शुभको हटाओ ।
ऐसा अनुक्रमण से कर कार्य योगी ।
ध्याओ निजात्म-जिनको, सुख शांति होगी ॥२८४॥

चारित्र नष्ट, जब हो, दृग बोध घाते
जाते सुनिश्चय सही रह वे न पाते
हो या न हो विलय पै दृग बोध का रे ।
जावे चरित्र, मत यों व्यवहारका रे ! ॥२८५॥

श्रद्धापुरी सुरपुरी सम जो सजाओ,
ताला वहाँ सुतप संवर का लगाओ
पाताल गामिनि क्षमामय खातिका हो
प्राकार गुप्तिमय हो नभ छू रहा हो ॥२८६॥

औ धैर्य से धनुष-त्यागमयी सुधारो,
सद्ध्यान वाण बल से विधि को विदारो ।
जेता बनो विधि रणांगन के मुनीश !
हो वो विमुक्त भवसे, जगदीश धीश ॥२८७॥

- २१ साधना सूत्र -

उद्बोधि प्राप्त करलो गुरु गीत गालो,
जीतो क्षुधा विषय मन को बचालो ।
निद्राजयी बन दृढ़ासन को लगालो,
पश्चात सभी तुम निजातम ध्यान पालो ॥२८८॥

संपूर्ण ज्ञान-मय-ज्योति-शिखा जलेगा,
अज्ञान मोहतम पूर्ण तभी मिटेगा ।
हो नष्ट, राग रति रोषमयी प्रणाली,
उत्कृष्ट सौख्य मिलता, मिटती भवाली ॥२८९॥

दुःसंग से बच जिनागम चित्त देना,
एकान्त वास करना, धृतिधार लेना ।
सूत्रार्थ चिंतन तथा गुरु वृद्ध सेवा
ये ही उपाय शिव के, मिल जाय मेवा ॥२९०॥

हो चाहते मुनि पुनीत समाधि पाना,
साथी, व्रती श्रमण बुध को बनाना ॥
एकान्त वास करना, भय त्याग देना,
शास्त्रानुसार, मित भोजन मात्र लेना ॥२९१॥

जो अल्प, शुद्ध, तप वर्धक अन्न लेते
क्या वैद्य औषध उन्हें कुछ काम देते ?
ना गृद्धता अशन में रखते न लिप्सा
वे वैद्य हो, कर रहे अपनी चिकित्सा ॥२९२॥

प्रायः अतीव रस सेवन हानिकारी,
उन्मत्तता उछलती उससे विकारी ।
पक्षी समूह, फल-फूल-लदे द्रुमों को
ज्यों कष्ट दें, मदन त्यों विषयी जनोंको ॥२९३॥

जो सर्व-इन्द्रिय जयी, मित भोज पाते,
एकान्त में शयन आसन भी लगाते
रागादि दोष, उनको लख काँप जाते
पीते दवा उचित, रोग विनाश पाते ॥२९४॥

आ. व्याधियां न जबलौं तुमको सतातीं,
आती जरा न जबलौं तनको सुखाती ।
ना इन्द्रियाँ शिथिल हो जब लौं तुम्हारी
धारो स्वधर्म तबलौं शिव सौख्यकारी ॥२९५॥

- २२ द्विविध धर्म -

सन्मार्ग है "श्रमण" श्रावक" भेद से दो,
उन्मार्ग शेष, उनको तज शीघ्र से दो ।
मृत्युंजयी अजर हैं अज हैं बली हैं,
ऐसा सदा कह रहे जिन केवली हैं ॥२९६॥

"स्वाध्याय""ध्यान" यति धर्म प्रधान जानो,
भाई बिना न इनके यति को न मानो ।
है धर्म, श्रावक करे नित दान पूजा,
ऐसा करें न, वह श्रावक है न दूजा ॥२९७॥

होता सुशोभित पदों अपने गुणों से,
साधू सुसंस्तुत वही सब श्रावकों से ।
पै साधु हो यदि परिग्रह भार धारें,
सागार श्रेष्ठ उनसे गृहधर्म पारें ॥२९८॥

कोई प्रलोभ-वश साधु बना हुआ हो
पै शक्तिहीन व्रतपालन में रहा हो ।
तो श्रावकाचरण ही करता कराता,
ऐसा जिनेश मत है हमको बताता ॥२९९॥

श्री श्रावकाचरण में व्रत पंच होते,
हैं सात शीलव्रत ये विधि पंक धोते ।
जो एक या व्रतों सबको निभाता,
है भव्य श्रावक वहीं जगमें कहाता ॥३००॥

- २३ श्रावक धर्म सूत्र -

चारित्र धारक गुरो ! करुणा दिखा दो,
चारित्र का विधि-विधान हमें सिखा दो ।
ऐसा सदैव कह श्रावक भव्य प्राणी,
चारित्र धारण करें सुन सन्त वाणी ॥३०१॥

जो सप्तधा व्यसन सेवन त्याग देते,
भाई कभी फल उदुम्बर खा न लेते ।
वे भव्य दार्शनिक श्रावक नाम पाते,
धीमान धार दृग को निजधाम जाते ॥३०२॥

रे मद्यपान परनारि कुशील खोरी
अत्यन्त क्रूरतमदंड, शिकार, चोरी
भाई असत्यमय भाषण द्यूत क्रीड़ा
ये सात हैं व्यसन, दें दिन-रैन पीड़ा ॥३०३॥

है मांस के अशन से मति दर्प छाता,
तो दर्प से मनुज को मद पान भाता ।
है मद्य पीकर जुआ तक खेल लेता,
यों सर्व दोष करके दुख मोल लेता ॥३०४॥

रे मांस के अशन से जब व्योमगामी,
आकाश से गिर गया वह विप्र स्वामी ।
ऐसी कथा प्रचलिता सबने सुनी है,
वे मांस भक्षण अतः तजते गुणी हैं ॥३०५॥

जो मद्य पान करते मदमत्त होते,
वे निन्द्य कार्य करते दुख बीज बोते ।
सर्वत्र दुःख सहते दिन रैन रोते,
कैसे बने फिर सुखी जिनधर्म खोते ॥३०६॥

निष्कम्प मेरुसम जो जिनभक्ति न्यारी,
जागी, विराग जननी उर मध्य प्यारी ।
वे शल्यहीन बनते रहते खुशी से,
निश्चिंत हो निडर ना, डरते किसी से ॥३०७॥

संसार में विनय की गरिमा निराली,
है शत्रु, मित्र बनता, मिलती शिवाली ।
धारें अतः विनय श्रावक भव्य सारे,
जावे सुशीघ्र भववारिधि के किनारे ॥३०८॥

हिंसा, मृषावचन, स्तेय कुशीलता ये,
मूर्च्छा परिग्रह इन्हीं वश हो व्यथायें ।
है पंच पाप इनका इक देश त्याग
होता अणुव्रत, धरे जगजाय भाग ॥३०९॥

हा ! बध, छेद, वध निर्बल प्राणियों का,
संरोध अन्न जल पाशव मानवों का ।
क्रोधादि से मत करो टल जाय हिंसा,
जो एक देश व्रत पालक हो अहिंसा ॥३१०॥

भू-गो सुता-विषय में न असत्य लाना,
झूठी गवाह, न धरोहर को दबाना ।
यों स्थूल सत्य व्रत है यह पंचधा, रे !,
मोक्षेच्छु श्रावक जिसे रुचि संग धारे ॥३११॥

मिथ्योपदेश न करो, सहसा न बोलो,
स्त्रीका रहस्य अथवा परका न खोलो ।
ना कूट-लेखन लिखो, कुटिलाइता से,
यों स्थूल सत्य व्रत धार, बचो व्यथा से ॥३१२॥

राष्ट्रानुकूल चलना "कर" ना चुराना,
ले चौर्य द्रव्य नहि चोरनको लुभाना ।
धंधा मिलावट करो न, अचौर्य पालो,
हा ! नापतोल नकली न कभी चलालो ॥३१३॥

स्त्री मात्र को निरखते अविकारता से,
क्रीड़ा अनंग करते न निजी प्रिया से ।
होते कदाचित नहिं अन्य-विवाह पोषी,
कामी अतीव बनते न, स्वदार तोषी ॥३१४॥

निस्सीम संग्रह परिग्रह का विधाता,
है दोष का, बस रसातल में गिराता ।
तृष्णा अनन्त बढ़ती सहसा उसी से,
उद्दीप्त ज्यों अनल दीपक तेल घी से ॥३१५॥

गाहस्थ्य के उचित जो कुछ काम के हैं,
सागार सीमित परिग्रह को रखे हैं ।
सम्यक्त्व धारक उसे न कभी बढ़ावें,
रागाभिभूत मन को न कभी बनावें ॥३१६॥

अत्यल्प ही कर लिया परिमाण भाई !
लेऊं पुनः कुछ जरूरत जो कि आई
ऐसा विचार तक ना तुम चित्त लाओ
संतोष धार कर जीवन को चलाओ ॥३१७॥

है सात शील व्रत श्रावक भव्य ! प्यारे !
सातों व्रतों फिर गुणव्रत तीन न्यारे ।
देशावकाशिक दिशा विरती सुनो रे ।
आनर्थ दण्ड विरती इनको गुणो रे ! ॥३१८॥

सीमा विधान करना हि दशों दिशा में,
माना गया वह दिशाव्रत है धरा में ।
आरम्भ सीमित बने इस, कामना से,
सागार साधन करें इसका मुदा से ॥३१९॥

होते विनष्ट व्रत हो जिस देश में ही,
जाओ वहाँ मन कभी तुम स्वप्न में भी ।
देशावकाशिक वही ऋषि देशना है,
धारो उसे विनशती चिर वेदना है ॥३२०॥

है व्यर्थ कार्य करना हि अनर्थ दण्ड,
हैं चार भेद इसके अघ श्वभ्र कुण्ड ।
हिंसोपदेश, अतिहिंसक शस्त्र देना,
दुर्ध्यान यान चढ़ना, नित मत्त होना ॥
होना सुदूर इनसे बहुकर्म खोना,
आनर्थ दण्ड विरती तुम शीघ्र लो ना ! ॥३२१॥

अत्यल्प बन्धन अवश्यक कार्य से हो,
अत्यन्त बन्ध अनवश्यक कार्य से हो ।
कालादि क्योंकि इक में सहयोगि होते,
पै अन्य में जब अपेक्षित वे न होते ॥३२२॥

ज्यादा बको मत रखो अघ शस्त्र को भी,
तोड़ो न भोग परिमाण बनो न लोभी ।
भद्दे कभी वचन भी हँसते न बोलो,
ना अंग व्यंग करते दृग मीच खोलो ॥३२३॥

है संविभाग अतिथिव्रत मोक्ष दाता,
भोगोपभोग परिमाण सुखी बनाता ।
शुद्धात्म सामयिक प्रोषध से दिखाता
यों चार शैक्ष्य व्रत हैं यह छन्द गाता ॥३२४॥

ना कन्द मूल फल फूल फलादि खाओ,
रे ! स्वप्न में तक इन्हें मन में न लाओ ।
औ क्रूर कार्य न करो न कभी कराओ,
यों कार्य का अशन का परिमाण बांधो,
भोगोपभोग परिमाण सहर्ष साधो ॥३२५॥

उत्कृष्ट सामयिक से गृह धर्मभाता,
सावद्यकर्म जिससे कि विराम पाता ।
यों ज्ञान मान बुध हैं अघ त्याग देते,
आत्मार्थ सामयिक साधन साध लेते ॥३२६॥

सागार सामयिक में मन ज्यों लगाता,
सच्चे सुधी श्रमण के सम साम्य पाता ।
हे भव्य सामायिक को अत एव धारो,
भाई किसी तरह से निजको निहारो ॥३२७॥

आजाय सामयिक में यदि अन्य चिंता,
तो आर्त ध्यान बनता दुख दे तुरन्ता ।
निस्सार सामयिक हो उसका नितान्त,
संसार हो फिर भला किस भांति सान्त ? ॥३२८॥

संस्कार है न तनका न कुशीलता है,
आरम्भ ना अशन प्रोषध में तथा है ।
लो पूर्ण त्याग इनका इक देश यों लो,
धारो सुसामयिक, प्रोषधपूर्ण पालो ॥३२९॥

दो शुद्ध अन्न यति को समयानुकूल,
देशानुकूल, प्रतिकूल कभी न भूल ।
तो संविभाग अतिथिव्रत औ बनेगा,
रे ! स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य देगा ॥३३०॥

आहार औ अभय औषध और शास्त्र,
ये चार दान जग में सुख पूरपात्र ।
दातव्य हैं अतिथि के अनुसार चारों,
सागार शास्त्र कहता, धनको विसारो ॥३३१॥

सागार मात्र इक भोजन दान से भी,
लो ! धन्य धन्यतम हो धनवान से भी ।
दुःपात्र पात्र इस भांति विचार से क्या ?
ले आम पेट भर ले !! बस पेडसे क्या ? ॥३३२॥

शास्त्रानुकूल जल अन्न दिये न जाते,
भिक्षार्थ भिक्षुक वहाँ न कदापि जाते ।
वे धीर वीर चलते समयानुकूल ?
लेते न अन्न प्रतिकूल समयानुकूल, ॥३३३॥

सागार जो अशन को मुनि को खिलाके,
पश्चात सभी मुदित हो अवशेष पाके ।
वे स्वर्ग मोक्ष क्रमवार अवश्य पाते ?
संसार में फिर कदापि न लौट आते ॥३३४॥

जो काल से डर रहे उनको बचाना,
माना गया अभयदान अहो सुजाना ।
है चंद्रमा अभयदान ज्वलन्त दीखे,
तो शेष दान उडु हैं पड़ जाय फीके ॥३३५॥

हैं लोक में कुछ यहाँ फिरते असाधु,
भाई तथापि सब वे कहलाय साधु ।
मैं तो असाधु-जनको कहता न साधु,
सत् साधु के स्तवन में मनको लगादूँ ॥३३८॥

सम्यक्त्व के सदन हो वर बोधि धाम,
शोभे सुसंयमतया तप से ललाम ।
ऐसे विशेषगुण आकर हो सुसाधु,
तो बार बार शिर मैं उनको नवादूँ ॥३३९॥

एकान्त से, मुनि, न कानन-वास से हो
स्वामी नहीं श्रमण भी कचलोच से हो ।
ओंकार जाप जप, ब्राह्मण ना बनेगा,
छालादिको पहन तापस ना कहेगा ॥३४०॥

विज्ञान पा नियम से मुनि हो यशस्वी,
सम्यक्तया तप तपे तब हो तपस्वी ।
होगा वही श्रमण जो समता धरेगा,
या ब्रह्मचर्य फिर ब्राह्मण भी बनेगा ॥३४१॥

हो जाय साधु गुण पा, गुण खो असाधु,
होवो गुणी, अवगुणी न बनो न स्वादु ।
जो राग रोष भर में समभाव धारें,
वे वन्द्य पूज्य निजसे निजको निहारें ॥३४२॥

जो देह में रम रहें विषयी कषायी,
शुद्धात्म का स्मरण भी करते न भाई!!
वे साधु होकर बिना दृग जी रहे हैं,
पीयूष त्याग कर हा ! विष पी रहे हैं ॥३४३॥

भिक्षार्थ भिक्षु चलते बहुदृश्य पाते,
अच्छे, बुरे श्रवण में कुछ शब्द आते ।
वे बोलते न फिर भी सुन मौन जाते,
लाते न हर्ष मन में न विषाद लाते ॥३४४॥

स्वाध्याय ध्यान तप में अति मग्न होते,
जो दीर्घ काल तक हैं निशि में न सोते ।
तत्वार्थ चिंतन सदा करते मनस्वी,
निद्राजयी इसीलिए बनते तपस्वी ॥३४५॥

जो अंग संग रखते ममता नहीं है,
निस्संग है निरभिमान समता-धनी है ।
है साम्यदृष्टि रखते सब प्राणियों में,
वे साधु धन्य रमते नहिं गारवों में ॥३४६॥

जो एक से मरण जीवन को निहारें,
निन्दा मिले यश मिले सम भाव धारें ।
मानापमान-सुख दुःख समान मानें,
वे धन्य साधु, सम लाभ अलाभ जानें ॥३४७॥

आलस्य-हास्य तज शोक, अशोक होते,
ना शल्य गारव कषाय निकाय-ढोते ।
ना भीति-बंधन-निदान-निधान होते,
वे साधु वन्द्य हमको, मन मैल धोते ॥३४८॥

हो अंगराग अथवा छिदजाय अंग,
भिक्षा मिलो, मत मिलो इकसार ढंग ।
जो पारलौकिक न लौकिक चाह धारे,
वे साधु ही बस ! बसे उर में हमारे ॥३४९॥

है हेयभूत विधि आस्रव रोक देते,
आदेयभूत वर संवर लाभ लेते ।
अध्यात्म ध्यान यम योग प्रयोग द्वारा,
हैं साधु लीन निज में तज भोग सारा ॥३५०॥

जीतो सहो दृग समेत परीषहों को,
शीतोष्ण भीति रति प्यास क्षुधादिकों को ।
स्वादिष्ट इष्ट फल कायिक कष्ट देता,
ऐसा जिनेश कहते शिव पन्थ नेता ॥३५१॥

शास्त्रानुसार तब ही तप साधना हो,
ना बार!!बार!! दिनमें इक बार खाओ ।
ऐसा ऋषीश उपदेश सभी सुनाते,
जो भी चले तदनुसार स्वधाम जाते ॥३५२॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना ।
सिद्धान्त का मनन, मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥३५३॥

विज्ञान पा प्रथम, संयम भाव धारो,
रे ! ग्राम में नगर में करदो विहारो ।
संवेग शान्ति पथ पे गममान होवो,
होके प्रमत्त मत गौतम ! काल खोओ ॥३५४॥

होगा नहीं जिन यहाँ, जिन धर्म आगे,
मिथ्यात्व का जब प्रचार नितान्त जागे ।
हे भव्य गौतम ! अत: अब धर्म पाया,
धारो प्रमाद पल भी न, जिनेश गाया ॥३५५॥

हो बाह्य वेश न कदापि प्रमाण भाई !
देता जभी तक असंयत में दिखाई ।
रे वेशको बदल के विष जोकि पीता
पाता नहीं मरण क्या रह जाय जीता ॥३५६॥

हो लोक को विदित ये जिन साधु आये,
शास्त्रादि साधन सुवेष अतः बनाये ।
औ बाह्य संयम न, लिंग विना चलेगा,
जो अंतरंग यम साधन भी बनेगा ॥३५७॥

ये दीखते जगत में मुनिसाधुओं के
है वेश, नैक विध भी गृहवासियों के ।
वे अज्ञ मूढ़ जिनको जब धारते हैं,
है "मोक्ष" मार्ग यह यों बस मानते हैं ॥३५८॥

निस्सार मुष्टि वह अन्दर पोलवाली
बेकार नोट यह है नकली निराली ।
हो काच भी चमकदार सुरत्न जैसा,
ज्यों जोहरी परखता नहिं मूल्य वैसा ।
पूर्वोक्त द्रव्य जिसभांति मृषा दिखाते,
है मात्र वेश उस भाँति सुधी बताते ॥३५९॥

है भावलिङ्ग वर मुख्य अतः सुहाता,
है द्रव्य लिङ्ग परमार्थ नहीं कहाता ।
है भाव ही नियम से गुण दोष हेतु
होता भवोदधि वही भव सिन्धु-सेतु ॥३६०॥

ये "भाव शुद्धतम हों" जब लक्ष्य होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
तो बाह्य त्याग उसका वह व्यर्थ जाता ॥३६१॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते ।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
लेते न लाभ शिव का दुःख ही उठाते ॥३६२॥

काषायिकी परिणती जिसने घटादी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटादी ।
शुद्धात्म में निरत है तज संग संगी,
हो पूज्य साधु वह पावन भाव लिंगी ॥३६३॥

२५ व्रत सूत्र

हिंसादि पंच अघ हैं तज दो अघों को,
पालो सभी परमपंच महाव्रतों को ।
पश्चात जिनोदित पुनीत विरागता का
आस्वाद लो, कर अभाव विभावता का ॥३६४॥

वे ही महाव्रत नितान्त सुसाधु धारें,
निःशल्य हो विचरते त्रय शल्य टारें ।
मिथ्या निदान व्रतघातक शल्य माया
ऐसा जिनेश उपदेश सुनो ! सुनाया ॥३६५॥

है मोक्ष की यदि व्रती करता उपेक्षा,
चारित्र ले विषय की रखता अपेक्षा ।
तो मूढ़ भूल मणि जो अनमोल, देता ।
धिक्कार काच मणि का वह मोल लेता ॥३६६॥

जो जीवथान, कुल मार्ग या योनियों में,
पा जीव बोधि, करुणा रखता सबों में ।
आरम्भ त्याग उनकी करता न हिंसा,
हो साधु का विमल भाव वही अहिंसा ॥३६७॥

निष्कर्ष है परमपावन आगमों का,
भाई ! उदार उर धार्मिक आश्रमों का ।
सारे व्रतों सदन है, सब सद्गुणों का,
आदेय है विमल जीवन साधुओं का ।
वो विश्वसार जयवन्त रहे अहिंसा,
होती रहे सतत ही उसकी प्रशंसा ॥३६८॥

ना क्रोध भीति वश स्वार्थ तराजु तोलो,
लेओ न मोल अघ हिंसक बोल बोलो ।
होगा द्वितीय व्रत सत्य वही तुम्हारा,
आनन्द का सदन जीवन का सहारा ॥३६९॥

जो भी पदार्थ परकीय उन्हें न लेते,
वे साधु देखकर भी बस छोड़ देते ।
है स्तेय भाव तक भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥३७०॥

ये द्रव्य चेतन अचेतन जो दिखाते,
साधू न भूलकर भी उनको उठाते ।
ना दांत साफ करने तक सींक लेते,
अत्यल्प भी बिन दिये कुछ भी न लेते ॥३७१॥

भिक्षार्थ भिक्षु जब जाँय वहाँ न जाँय,
जो स्थान वर्जित रहा अघ हो न पाँय ।
वे जाय जान कुलकी मित भूमि लौं ही,
अस्तेय धर्म परिपालन श्रेष्ठ सो ही ॥३७२॥

अब्रह्म सेवन अवश्य अधर्म मूल,
है दोष धाम दुख दे जिस भांति शूल ।
निर्ग्रन्थ वे इसलिए सब ग्रन्थ त्यागी,
सेवें न मैथुन कभी मुनि वीतरागी ॥३७३॥

माता सुता बहन सी लखना स्त्रियों को,
नारी कथा न करना भजना गुणों को ।
श्री ब्रह्मचर्य व्रत है यह मार हन्ता,
है पूज्य वन्द्य जग में सुख दे अनन्ता ॥३७४॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित भार ढ़ोता ।
है पांचवा व्रत ''परिग्रह त्याग'' पाता,
पाता स्वकीय सुख, तू दुख क्यों उठाता ? ॥३७५॥

दुर्गन्ध अंग तक ''संग'' जिनेश गाया,
यों देह से खुद उपेक्षित हो दिखाया ।
क्षेत्रादि बाह्य सब संग अतः विसारो,
होके निरीह तन से तुम मार मारो ॥३७६॥

जो मांगना नहिं पड़े गृहवासियों से,
ना हो विमोह ममतादिक भी जिन्हों से ।
ऐसे परिग्रह रखें उपयुक्त होवे,
पै अल्प भी अनुपयुक्त न साधु ढोवें ॥३७७॥

जो देह-देश-श्रम-काल बलानुसार,
आहार ले यदि यती करता विहार ।
तो अल्प कर्म मल से वह लिप्त होता,
औचित्य एक दिन है भव मुक्त होता ॥३७८॥

जो बाह्य में कुछ पदार्थ यहाँ दिखाते,
वे वस्तुतः नहि परिग्रह हैं कहाते ।
मूर्छा परिग्रह परन्तु यथार्थ में है,
श्री वीर का सदुपदेश मिला हमें है ॥३७९॥

ना संग संकलन संयत हो करो रे !
शास्त्रादि साधन सुचारु सदा धरो रे !
ज्यों संग की विहग ना रखते अपेक्षा
त्यों संयमी समरसी, सबकी उपेक्षा ॥३८०॥

आहार-पान-शयनादिक खूब पाते,
पै अल्प में सकल कार्य सदा चलाते ।
संतोष-कोष, गतरोष, अदोष साधु,
वे धन्य धन्यतर हैं शिर में नवादूँ ॥३८१॥

ना स्वप्न में न मन में न किसी दशा में,
लेते नहीं अशन वे मुनि हैं निशा में ।
जिह्वाजयी जितकषाय जिताक्ष योगी,
कैसे निशाचर बनें, बनते न भोगी ॥३८२॥

आकीर्ण पूर्ण धरती जब थावरों से,
सूक्ष्मातिसूक्ष्म जग जंगम जंतुवो से ।
वे रात्रि में न दिखते युग लोचनों से,
कैसे बने अशन शोधन साधुओं से ? ॥३८३॥

२६ समिति गुप्ति सूत्र

(अ) अष्ट प्रवचन माता

ईर्या रही समिति आद्य द्वितीय भाषा,
तीजी गवेषण धरे नश जाय आशा ।
आदान निक्षिपण-पुण्यनिधान चौथा
व्युत्सर्ग पंचम रही सुन भव्य श्रोता।
कायादि भेद वश भी त्रय गुप्तियाँ हैं,
ये गुप्तियाँ समितियाँ जननी समा हैं ॥३८४॥

माता स्वकीय सुतकी जिस भांति रक्षा,
कर्त्तव्य मान करती, बन पूर्ण दक्षा ।
गुप्तयादि अष्ट जननी उस भांति सारी,
रक्षा सुरत्नत्रय की करती हमारी ॥३८५॥

निर्दोष से चरित पालन पोषनार्थ,
उल्लेखिता समितियां गुरु से यथार्थ ।
ये गुप्तियाँ इसलिए गुरु ने बताई,
काषायिकी परिणति मिट जाय भाई ! ॥३८६॥

निर्दोष गुप्तित्रय पालक साधु जैसे,
निर्दोष हो समितिपालक ठीक वैसे ।
वे तो अगुप्ति भव मानस मैल धोते,
ये जागते समिति-जात प्रमाद खोते ॥३८७॥

जी जाय जीव अथवा मर जाय हंसा,
ना पालता समितियाँ बन जाय हिंसा ।
होती रहे वह भले कुछ बाह्य हिंसा,
तू पालता समितियाँ चलती अहिंसा ॥३८८॥

जो पालते समितियाँ, तब द्रव्य हिंसा,
होती रहे, पर कदापि न भाव हिंसा ।
होती असंयमतया वह भाव हिंसा,
हो जीव का न वध पै बन जाय हिंसा ॥३८९॥

हिंसा द्विधा सतत वे करते करात,
जो मत्त संयत, असंयत हैं कहाते ।
पै अप्रमत्त मुनिधार द्विधा अहिंसा,
होते गुणाकर, करूँ उनकी प्रशंसा ॥३९०॥

आता यती समिति से उठ बैठ जाता,
भाई तदा यदि मरो मर जीव जाता ।
साधू तथापि नहिं है अघ कर्म पाता
दोषी न हिंसक, अहिंसक ही कहाता ॥३९१॥

संमोह को तुम परिग्रह नित्य मानो,
हिंसा प्रमाद भरको सहसा पिछानो ।
अध्यात्म आगम अहो इस भांति गाता,
भव्यात्म को सतत शान्ति-सुधा पिलाता ॥३९२॥

ज्यों पद्मिनी वह सचिक्कन पत्रवाली,
हो नीर में न सड़ती रहती निराली ।
त्यों साधु भी समितियाँ जब पालता है,
ना पाप लिप्त बनता सुख साधता है ॥३९३॥

आचार हो समिति पूर्वक दुःख-हर्ता,
है धर्म-वर्धक तथा सुख-शान्तिकर्ता ।
है धर्म का जनक पालक भी वही है ।
धारो उसे मुक्तिकी मिलती मही है ॥३९४॥

आता यती विचरता, उठ, बैठ जाता,
हो सावधान तन को निशि में सुलाता ।
औ बोलना, अशन एषण साथ पाता,
तो पाप कर्म उस के नहिं पास आता ॥३९५॥

(आ) समिति

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ पै दिन में चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥३९६॥

संसार के विषय में मन ना लगाना,
स्वाध्याय पंच विध ना करना कराना ।
एकाग्र चित्त करके चलना जभी हो,
ईर्या सही समिति है पलती तभी वो ॥३९७॥

हो जा रहे पशु यदा जल भोज पाने,
जाओ न संनिकट भी उनके सयाने ।
हे साधु ! ताकि तुम से भय वे न पावे,
जो यत्र तत्र भय से नहिं भाग जावें ॥३९८॥

आत्मार्थ या निजपदार्थ परार्थ साधु,
निस्सार भाषण करे न, स्वधर्म स्वादु ।
बोले नहीं वचन हिंसक मर्म भेदी,
भाषामयी समिति पालक आत्म वेदी ॥३९९॥

बोलो न कर्ण कटु निन्द्य कठोर भाषा,
पावें न ताकि जग जीव कदापि त्रासा ।
हो पाप बन्ध, वह सत्य कभी न बोलो,
घोलो सुधा न विषमें, निज नेत्र खोलो ॥४००॥

हो एक नेत्र नर को कहना न काना,
औ चोरको कुटिल चोर नहीं बताना ।
या रुग्नको तुम न रुग्न कभी कहो रे !
ना! ना! नपुंसक नपुंसक को कहो रे ॥४०१॥

साधु करे न परनिंदन आत्म शंसा,
बोले न हास्य-कटुकर्कश-पूर्ण भाषा ।
स्वामी ! करे न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषा मयी समिति में नित लें हिलोरे ॥४०२॥

हो स्पष्ट हो विषद संशय नाशिनी हो,
हो श्राव्य भी सहज हो सुखकारिणी हो ।
माधुर्य पूर्ण, मि-त मार्दव-सार्थ-भाषा
बोलें महामुनि, मिले जिससे प्रकाशा ॥४०३॥

जो चाहता न फल दुर्लभ भव्य दाता,
साधू अयाचक यहाँ विरला दिखाता ।
दोनों नितान्त द्रुत ही निज-धाम जाते,
विश्रान्त हो सहज में सुख शान्ति पाते ॥४०४॥

उत्पादना-अशन-उदगम दोष हीन-,
आवास अन्न शयनादिक लें, स्वलीन ।
वे एषणा समिति साधक साधु प्यारे,
हो कोटिश: नमन ये उनको हमारे ॥४०५॥

आस्वाद प्राप्त करने बल कान्ति पाने,
लेते नहीं अशन जीवन को बढ़ाने ।
पै साधु ध्यान तप संयम बोध पाने,
लेते अत: अशन अल्प अये ! सयाने ॥४०६॥

गाना सुना गुण गुणा गण षट् पदोंका,
पीता पराग रस फूल-फलों दलों का ।
देता परन्तु उनको न कदापि पीड़ा,
होता सुतृप्त, करता दिन रैन क्रीड़ा ॥४०७॥

दाता तथा विधि, यथाबल, दान देते,
देते बिना दुख उन्हें मुनि दान लेते ।
यों साधु भी भ्रमर से मृदुता निभाते,
वे एषणा समिति पालक हैं कहाते ॥४०८॥

उद्दिष्ट, प्रासुक भले, यदि अन्न लेते,
वे साधु, दोषमल में व्रत फेंक देते ।
उद्दिष्ट भोजन मिले, मुनि वीतरागी,
शास्त्रानुसार यदि लें, नहिं दोषभागी ॥४०९॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना, गहना दया से ।
आदान निक्षेपण है समिती कहाती,
पालें उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥४१०॥

एकान्त हो विजन, विस्तृत ना विरोध,
सम्यक जहां बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसे अचित्त थल पे मलमूत्र त्यागें
व्युत्सर्गरूप समिती गह साधु जागे ॥४११॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाना,
संसार के विषय से मन को हटाना ।
होती तभी मनसगुप्ति सुमुक्ति दात्री,
ऐसा कहें श्रमण श्री जिन शास्त्र शास्त्री ॥४१२॥

आरम्भ में न समरम्भन में लगाते,
सावद्य से वचन योग यती हटाते ।
होती तभी वचन गुप्ति सुखी बनाती,
कैवल्य ज्योति झट से जब जो जगाती ॥४१३॥

आरम्भ में न समरम्भनमें लगाते,
ना काय योग अघ कर्दम में फसाते ।
ओ कायगुप्ति, जड़काय विनाशनी है,
विज्ञान पंकज-निकाय विकाशनी है ॥४१४॥

प्राकार ज्यों नगर की करता सुरक्षा,
किंवा सुबाड़ कृषिकी करती सुरक्षा ।
त्यों गुप्तियाँ परम पंच महाव्रतों की,
रक्षा सदैव करती मुनि के गुणों की ॥४१५॥

जो गुप्तियाँ समितियाँ नित पालते हैं
सम्यक्तया स्वयम को ऋषि जानते हैं ।
वे शीघ्र, बोध बल दर्शन धारते हैं,
संसार-सागर-किनार निहारते हैं ॥४१६॥

हो भेदज्ञान मय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित्र हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ! ॥४१७॥

सदध्यान में श्रमण अन्तरधान होके,
रागादिभाव पर हैं परभाव रोकें ।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहें उनकार्य सारे ॥४१८॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है ।
हो प्रारम्भ सामायिक में द्युति जाग जाती
सम्मोह तामसनिशा झट भाग जाती ॥४१९॥

जो साधु हो न षडवश्यक पालता है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥४२०॥

सामायिकादि षडवश्यक साथ पालें
जो साधु निश्चय सुचारित पूर्ण प्यारे
वे वीतराग मय शुद्धचरित्र धारी,
पूजो उन्हें परम उन्नति हो तुम्हारी ॥४२१॥

आलोचना नियम आदिक मूर्त्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान ।
स्वाध्याय ये, चरितरूप गये न माने,
चारित्र आन्तरिक आत्मिक है सयाने ! ॥४२२॥

संवेगधारक यथोचित शक्ति वाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधुपालें ।
ऐसा नहीं यदि बने यह श्रेष्ठ होगा,
श्रद्धान तो दृढ़ रखें द्रुत मोक्ष होगा ॥४२३॥

सामयिक जिनप की स्तुति वन्दना हो,
कायोत्सर्ग समयोचित साधना हो ।
सच्चा प्रतिक्रमण हो अघप्रत्यख्यान
पाले मुनीश षडवश्यक बुद्धिमान ॥४२४॥

लो ! काचको कनक को सम ही निहारें,
वैरी सहोदर जिन्हें इक सार सारे ।
स्वाध्याय ध्यान करते मन मार देते,
वे साधु सामयिक को उर धार लेते ॥४२५॥

वाक्योग रोक जिसने मन मौन धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥४२६॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पालें,
हैं पंच इन्द्रियजयी समदृष्टि वाले ।
स्थाई सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यो केवली परम शासन गीत गाता ॥४२७॥

है साम्यभाव रखते त्रस थावरों में,
स्थाई सुसामयिक हो उन साधुओं में ।
ऐसा जिनेश मत है मत भूल रे ! तू,
भाई ! अगाध भव वारिधी मध्य सेतु ॥४२८॥

आदीश आदि जिन हैं उनगीत गाना,
लेना सुनाम उनके यश को बढ़ाना ।
औ पूजना नमन भी करना उन्हीं को,
होता जिनेश स्तव है, प्रणमूँ उसी को ॥४२९॥

द्रव्यों थलों समयभाव प्रणालियों में,
है दोष जो लगगये, अपने व्रतों में ।
वाक्काय से मनस से उनको मिटाने,
होती प्रतिक्रमण की विधि है सयाने ! ॥४३०॥

आलोचना गरहणा करता स्वनिन्दा,
ना साधु दोष करता अघका न धन्धा ।
होता प्रतिक्रमण भाव मयी वही है,
तो शेष द्रव्यमय हैं रुचते नहीं हैं ॥४३१॥

रागादि भाव मल को मनसे हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि है निज आत्म ध्याता ।
सारी क्रिया वचन की तजता, सुहाता-
सच्चा प्रतिक्रमण लाभ वही उठाता ॥४३२॥

स्वाध्याय रूप सर में अवगाह पाता,
संपूर्ण दोष मल को पल में धुलाता
सद्ध्यान ही, विषम कल्मष पातकों का
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणों का ॥४३३॥

है देह नेह तज के जिन गीत गाते,
साधु प्रतिक्रमण है करते सुहाते ।
कायोतसर्ग उनका वह है कहाता,
संसार में सहज शाश्वत शांतिदाता ॥४३४॥

घोरोपसर्ग यदि हो असुरों सुरों से,
या मानवों मृगगणों मरुतादिकों से ।
कायोतसर्गरत साधु सुधी तथापि,
निस्पन्द शैल, लसत समता सुधा पी ॥४३५॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे,
साधु अनागत शुभाशुभ भाव टारें
शुद्धात्म ध्यान सर में डुबकी लगाते,
वें प्रत्यख्यान गुण धारक हैं कहाते ॥४३६॥

जो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभावको है ।
दृष्टा बना निखिलका. परिपूर्ण ज्ञाता,
"मैं ही रहा वह" सुधी इस भाँति गाता ॥४३७॥

जो भी दुराचरण है मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनससे उसको मिटाता ।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं,
तो बार बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥४३८॥

- २८ तपसूत्र (अ) बाह्यतप -

जो ब्रह्मचर्य रहना, जिन ईश पूजा,
सारीकषाय तजना, तजना न ऊर्जा ।
ध्यानार्थ अन्न तजना "तप" ये कहाते,
प्रायः सदा भविकलोग इन्हें निभाते ॥४३९॥

है मूल में द्विविध रे ! तप मुक्तिदाता,
जो अंतरंग बहिरंग तथा सुहाता ।
हैं अंतरंग तप के छह भेद होते
हैं भेद बाह्य तप के उतने हि होते ॥४४०॥

"ऊनोदरी" अनशना" नित पाल रे ! तू
"भिक्षाक्रिया" रसविमोचन मोक्ष हेतु ।
"संलीनता" दुख निवारक कायक्लेश,
ये बाह्य के छह हुए, कहते जिनेश ॥४४१॥

जो कर्म नाश करने समयानुसार,
है त्यागता अशनको, तन को सँवार ।
साधू वही अनशना तप साधता है,
होती सुशोभित तभी जग साधुता है ॥४४२॥

आहार अल्प करते श्रुत बोध पाने,
वे तापसी समय में कहलाय शाने ।
भाई बिना श्रुत उपोषण प्राण खोना,
आत्मावबोध उससे न कदापि होना ॥४४३॥

ना इन्द्रियाँ शिथिल हो, मन हो न पापी,
न रोगकानुभव काय करे कदापि,
होती वही अनशना, जिससे मिली हो
आरोग्य पूर्ण नव चेननता खिली हो ॥४४४॥

उत्साह-चाह-विधि राह पदानुसार,
आरोग्य-काल-निज-देह बलानुसार ।
ऐसा करें अनशना ऋषि साधुसारे,
शुद्धात्म को नित निरंतर वे निहारें ॥४४५॥

लेते हुए अशनको उपवास साधें,
जो साधु इन्द्रियजयी निज को अराधें ।
हो इन्द्रियाँ शमित तो उपवास होता,
धोता कुकर्म मलको, सुखको सँजोता ॥४४६॥

मासोपवास करले, लघुधी यमी में,
ना हो विशुद्धि उतनी, जितनी सुधी में ।
आहार नित्य करते फिरभी तपस्वी,
होते विशुद्ध उरमें, श्रुत में यशस्वी ॥४४७॥

जो एक एक कर ग्रास घटा घटाना,
और भूख से अशन को कम न्यून पाना ।
ऊनोदरी तप यहीं व्यवहार से है,
ऐसा कहें गुरु, सुदूर विकार से हैं ॥४४८॥

दाता खड़े कलश ले हँसते मिले तो,
लेऊँ तभी अशन प्राङ्गण में मिलेतो ।
इत्यादि नेम मुनि ले अशनार्थ जाते,
भिक्षा क्रिया यह रही गुरुयों बताते ॥४४९॥

स्वादिष्ट इष्ट अतिमिष्ट गरिष्ट खाना
घी दूध आदि रस हैं इनको न खाना ।
माना गया तप वही ''रस त्याग'' नामा,
धारूँ उसे, वर सकूँ वर मुक्ति रामा ॥४५०॥

एकान्त में, विजन कानन मध्य जाना,
श्रद्धासमेत शयनासन को लगाना ।
होता वही तप सुधारस पेय प्याला,
प्यारा ''विविक्त शयनासन'' नाम वाला ॥४५१॥

वीरासनादिक लगा, गिरिगहवरों में,
नाना प्रकार तपना बन कन्दरों में ।
है कायक्लेश तप, तापस ताप तापी
पुण्यात्म हो धर उसे तज पाप पापी ! ॥४५२॥

जो तत्व बोध सुख पूर्वक हाथ आता,
आते हि दुःख झट से वह भाग जाता ।
वे काय क्लेश समवेत अतः सुयोगी,
तत्वानुचिंतन करें समयोपयोगी ॥४५३॥

जाता किया जब इलाज कुरोग का है,
ना दुःख हेतु सुख हेतु न रुगण का है
भाई इलाज करने पर रुगण को ही
हो जाय दुःख सुख भी सुन भव्य ! मोही ! ॥४५४॥

त्यों मोहनाश सविपाकतया यदा हो,
ना दुःख हेतु सुख हेतु नहीं तदा हो ।
पै मोह के विलय में रत है वसी को,
होता कभी दुख कभी सुख भी उसी को ॥४५५॥

(आ) आभ्यन्तर तप

''प्रायश्चिता''विनय'' औ ऋषि साधु सेवा,
''स्वाध्याय'' ध्यान धरते वर बोध मेवा
व्युत्सर्ग, स्वर्ग अपवर्ग महर्घ-दाता
हैं अंतरंग तप ये छह मोक्ष धाता ॥४५६॥

जो भाव हैं समितियों व्रत संयमों का,
प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियों का ।
ध्याऊं उसे विनय से उर में बिठाता,
होऊं अतीत विधि से विधि सो विधाता ॥४५७॥

कषायिकी विकृतियाँ मन में न लाना,
आजाय तो जब कभी उनको हटाना ।
गाना स्वकीय गुणगीत, सदा सुहाती,
प्रायश्चिता वह सुनिश्चय नाम पाती ॥४५८॥

वर्षों युगों भवभवों सुमपार्जितों का
होता विनाश तप से भवबन्धनों का ।
प्रायश्चित इसलिए ''तप'' ही रहा है
त्रैलोक्य पूज्य प्रभु ने जग को कहा है ॥४५९॥

आलोचना अरु प्रतिक्रमणोभया है,
व्युत्सर्ग, छेद, तप, मूल, विवेकता है ।
श्रद्धान और परिहार प्रमोदकारी,
प्रायश्चिता दशविधा इस भांति प्यारी ॥४६०॥

विक्षिप्त चित्त वश आगत दोषकों की,
हेयों अयोग्य अनभोग कृतादिकों की ।
आलोचना निकट जा गुरु के, करो रे ।
भाई नहीं कुटिलता उर में धरो रे ! ॥४६१॥

माँ को यथा तनुज, कार्य अकार्य को भी,
है सत्य, सत्य कहता, उर पाप जो भी ।
मायाभिमान तज, साधु तथा अघों की
गाथा कहें, स्वगुरु को, दुखदायकों की ॥४६२॥

हैं शल्य शूल चुभते जब पाद में जो,
दुर्वेदनानुभव पूरण अङ्ग में हो ।
ज्यों ही निकाल उनको हम फेंक देते,
त्यों ही सुशीघ्र सुखसिंचित स्वास लेते ॥४६३॥

जो दोष को प्रकट ना करता, छुपाता,
मायाभिभूत यति भी अति दुःख पाता ।
दोषाभिभूत मन को गुरु को दिखाओ
निःशल्य हो विमल हो सुख शांति पाओ ॥४६४॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावें,
वे साम्य के सदन में सहसा सुहावें ।
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में
आलोचना बस यही जिन देशना में ॥४६५॥

प्रत्यक्ष-सम्मुख सुधी गुरु सन्त आते,
होना खड़े, कर जुड़े शिर को झुकाते ।
दे आसनादि करना गुरु भक्ति सेवा,
माना गया विनय का तप वो सदैवा ॥४६६॥

चारित्र, ज्ञान, तप दर्शन, औपचारी,
ये पांच हैं विनय भेद, प्रमोदकारी ।
धारो इन्हें विमल निर्मल जीव होगा,
दुःखावसान, सुख आगम शीघ्र होगा ॥४६७॥

है एक का वह समादर सर्वका है,
तो एक का यह अनादर विश्वका है ।
हो घात मूल पर तो द्रुम सूखता है,
दो मूल में सलिल, पूरण फूलता है ॥४६८॥

है मूल ही विनय आर्हत शासनों का,
हो संयमी विनय से घर सद्गणों का ।
वे धर्म-कर्म तप भी उनके वृथा हैं,
जो दूर हैं विनय से सहते व्यथा हैं ॥४६९॥

उद्धार का विनय द्वार उदार भाता,
होता यही सुतप-संयम-बोध-धाता ।
आचार्य संघ भर की इससे सदा हो,
आराधना, विनय से सुख सम्पदा हो ॥४७०॥

विद्या मिली विनय से इस लोक में भी,
देती सही सुख वहाँ परलोक में भी ।
विद्या न पै विनय शून्य सुखी बनाती,
शाली, बिना जल कभी फल फूल लाती ? ॥४७१॥

अल्पज्ञ किन्तु विनयी मुनि मुक्ति पाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को पल में मिटाता ।
भाई अत: विनय को तज ना कदापि,
सच्ची सुधा समझ के उसको सदा पी ॥४७२॥

जो अन्न पान शयनासन आदिकों को,
देना यथासमय सज्जन साधुओं को ।
कारुण्य द्योतक यही भवताप हारी,
सेवामयी सुतप है शिवसौख्य कारी ॥४७३॥

साधु विहार करते, करते थके हो,
वार्धक्य की अवधि पे बस आ रुके हो ।
श्वानादि से व्यथित हों नृप से पिटाये,
दुर्भिक्ष रोग वश पीडित हों सताये ॥
रक्षा सँभाल करना उनकी सदैवा,
जाता कहा "सुतप" तापस साधु सेवा ॥४७४॥

सद वाचना प्रथम है फिर पूछना है,
है आनुपेक्ष क्रमशः परिवर्तना है ।
धर्मोपदेश सुखदायक है सुधा है,
स्वाध्यायरूप तप पावन पंचधा है ॥४७५॥

आमूलतः बल लगा विधि को मिटाने,
पै ख्याति लाभ यश पूजन को न पाने ।
सिद्धान्त का मनन जो करता कराता,
पा तत्त्व बोध बनता सुख धाम, धाता ॥४७६॥

होते नितान्त समलंकृत गुप्तियों से,
तल्लीन भी विनय में मृदु वल्लियों से ।
एकाग्र मानस जितेंद्रिय अक्ष-जेता,
स्वाध्याय के रसिक वे ऋषि साधुनेता ॥४७७॥

सदध्यान सिद्धि जिन आगम ज्ञान से हो ।
तो निर्जरा करम की निज ध्यान से हो ।
हो मोक्ष लाभ सहसा विधि निर्जरा से,
स्वाध्याय में इसलिए रम जा! जरा से ॥४७८॥

स्वाध्याय सा न तप है नहि था न होगा,
यों मानना अनुपयुक्त कभी न होगा ।
सारे इसे इसलिए ऋषि सन्त त्यागी,
धारें, बनें विगतमोह, बनें विरागी ॥४७९॥

जो बैठना शयन भी करना तथापि,
चेष्टा न व्यर्थ तन की करना कदापि ।
व्युत्सर्ग रूप तप है, विधि को तपाता,
पीताभ हेम सम आतम को बनाता ॥४८०॥

कायोत्सर्ग तप से मिटती व्यथायें,
हो ध्यान चित्त स्थिर द्वादश भावनायें ।
काया निरोग बनती मति जाडय जाती,
संत्रास सौख्य सहने उर शक्ति आती ॥४८१॥

लोकेषनार्थ तपते उन साधुओं का,
ना शुद्ध हो तप महाकुल धारियों का ।
शंसा अतः न अपने तपकी करो रे !
जाने न अन्य जन यों तप धार लो रे ॥४८२॥

स्वामी समाहत विबोध सुवात से है,
उद्दीप्त भी तप हुताशन, शील से है ।
वैसा कुकर्म वन को पल में जलाता,
जैसा वनानल घने वन को जलाता ॥४८३॥

- २९ ध्यान सूत्र -

ज्यों मूल, मुख्य द्रुम में जग में कहाता,
या देह में प्रमुख मस्तक है सुहाता ।
त्यों ध्यान ही प्रमुख है मुनि के गुणों में,
धर्मों तथा सकल आचरणों व्रतों में ॥४८४॥

सद्ध्यान है मनस की स्थिरता सुधा है,
तो चित्त की चपलता त्रिवली त्रिधा है ।
चिंताऽनुपेक्ष क्रमशः वह भावना है,
तीनों मिटें बस यही !! मम कामना है ॥४८५॥

ज्यों नीर में लवण है गल लीन होता,
योगी समाधि सर में लवलीन होता ।
अध्यात्मिका धधकती फलरूप ज्वाला,
है नाशती द्रुत शुभाशुभ कर्म शाला ॥४८६॥

व्यापार योगत्रय का जिसने हटाया,
संमोह राग रति रोषन को नशाया ।
ध्यानाग्नि दीप्त उसमें उठती दिखाती,
है राख खाख करती विधि को मिटाती ॥४८७॥

बैठे करे स्वमुख उत्तर पूर्व में वा,
ध्याता सुधी, स्थित सुखासन से सदेवा ।
आदर्श सा विमल चारित काय वाला,
पीता समाधि रस पूरित पेय प्याला ॥४८८॥

पल्यंक आसन लगाकर आत्मध्याता,
नासाग्र को विषय लोचन का बनाता ।
व्यापार योगत्रय का कर बन्द ज्ञानी,
उच्छवास श्वास गति मंद करें अमानी ॥४८९॥

गर्हा दुराचरण की अपनी करो रे !
मांगो क्षमा जगत से मन मार लो रे !
हो अप्रमत्त तबलौं निज आत्म ध्याओ,
प्राचीन कर्म जबलौं तुम ना हटाओ ॥४९०॥

निस्पंद योग जिसके, मन मोद पाता
सद्ध्यान लीन, नहिं बाहर भूल जाता ।
ध्यानार्थ ग्राम पुर हो वन काननी हो,
दोनों समान उसको, समता धनी हो ॥४९१॥

पीना समाधि रस को यदि चाहते हो,
जीना युगों युगयुगों तक चाहते हो ।
अच्छे बुरे विषय ऐंद्रिक हैं तथापि,
ना रोष तोष करना, उनमें कदापि ॥४९२॥

निस्संग हैं निडर नित्य निरीह त्यागी,
वैराग्य भाव परिपूरित हैं विरागी ।
वैचित्र्य भी विदित हैं भवका जिन्होंको,
वे ध्यान लीन रहते, भजते गुणों को ॥४९३॥

आत्मा अनन्त दृग, केवल बोधधारी,
आकार से पुरुष शाश्वत सौख्यकारी ।
योगी नितान्त उसका उर ध्यान लाता ।
निर्द्वन्द्व पूर्ण बनता अघ को हटाता ॥४९४॥

आत्मा तना तन निकेतन में अपापी,
योगी उसे पृथक से लखते तथापि ।
संयोग जन्य तन आदि उपाधियों को,
वे त्याग, आप अपने गुणते गुणों को ॥४९५॥

मेरे नहीं "पर" यहाँ परका न मैं हूँ,
हूँ एक हूँ विमल केवल ज्ञान मैं हूँ ।
यों ध्यान में सतत चिंतन जो करेगा,
ध्याता स्वाका बन ! सुमुक्तिरमा वरेगा ॥४९६॥

जो ध्यान में न निजवेदन को करेगा,
योगी निजी-परम-तत्व नहीं गहेगा ।
सौभाग्य छीन नर क्या निधि पा सकेगा ?
दुर्भाग्य से दुखित हो नित रो सकेगा ॥४९७॥

पिण्डस्थ आदिम पदस्थन, रूपहीन,
हैं ध्यान तीन इनमें तुम हो विलीन ।
छद्मस्थता, सुजिनता, शिवसिद्धिता ये
तीनों हि तत विषय हैं क्रमशः सुहायें ॥४९८॥

८२

खड्गासनादिक लगा युगवीर स्वामी,
थे ध्यान में निरत अंतिम तीर्थनामी ।
वे श्वभ्र स्वर्गगत दृश्य निहारते थे,
संकल्प के बिन समाधि सुधारते थे ॥४९९॥

भोगों, अनागतगतों व तथागतों की,
कांक्षा जिन्हें न स्मृति, क्या ? फिर आगतों की
ऐसे महर्षि जन कार्मिक कायको ही,
क्षीणातिक्षीण करने बनते विमोही ॥५००॥

चिंता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख से न बोलो ।
यों योग में गिरि बनो, शुभ ध्यान होता
आत्मा निजात्मरत ही सुख बीज बोता ॥५०१॥

है ध्यान में रम रहा सुख पा रहा है,
शुद्धात्म ही बस जिसे अति भा रहा है ।
पाके कषाय न कदापि दुखी बनेगा,
ईर्षा विषाद मद शोक नहीं करेगा ॥५०२॥

वे धीर साधु उपसर्ग परीषहों से,
होते न भीरु चिगते अपने पदों से ।
मायामयी अमर सम्पद वैभवों में,
ना मुग्ध लुब्ध बनते निज ऋद्धियों में, ॥५०३॥

वर्षों पड़ा बहुत सा तृण ढ़ेर चारा,
ज्यों अग्नि मे झट जले बिन देर सारा ।
त्यों शीघ्र ही भव भवार्जित कर्म कूड़ा,
ध्यानाग्नि से जल मिटे सुन भव्य ! मूढ़ा ! ॥५०४॥

- ३० अनुप्रेक्षा सूत्र -

स्वाधीन चित्त कर तू शुभ ध्यान द्वारा,
कर्त्तव्य आदिम यही मुनि भव्य प्यारा ।
सद्ध्यान सतुलित होकर भी सदा ये,
भा भाव से सुखद द्वादश भावनायें ॥५०५॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव संवरा है,
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावें सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥५०६॥

है जन्म से मरण भी वह जन्म लेता,
वार्धक्य भी सतत यौवन साथ देता ।
लक्ष्मी अतीव चपला बिजली बनी है,
संसार ही तरल है स्थिर ही नहीं है ॥५०७॥

हे ! भव्य मोहघट को झट पूर्ण फोड़ो,
सद्यः क्षयी विषय को विष मान छोड़ो ।
औ चित्त को सहज निर्विषयी बनाओ,
औचित्य !! पूर्ण परमोत्तम सौख्य पाओ ॥५०८॥

अल्पज्ञ ही परिजनों धन वैभवों को,
है मानता "शरण" पाशव गोधनों को ।
ये हैं मदीय यह मैं उनका बताता ।
पै वस्तुतः शरण वे नहिं प्राण त्राता ॥५०९॥

मैं संग शल्य त्रय को त्रययोग द्वारा,
हूँ हेय जान तजता जड़ के विकारा ।
मेरे लिए शरण त्राण प्रमाण प्यारी,
है गुप्तियाँ समितियाँ भव दुःख हारी ॥५१०॥

लावण्य का मद युवा करते सभी हैं,
पै मृत्यु पा उपजते कृमि हो वहीं है ।
संसार को इसलिए बुध सन्त त्यागी
धिक्कारते न रमते उसमें विरागी ॥५११॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मैंने न जन्म मृत दुःख जहाँ सहा हो,
तू बार बार तन धार मरा यहाँ है,
तू ही बता स्मृति तुझे उसकी कहाँ है ॥५१२॥

दुर्लंघ्य है भवपयोधि अहो ! अपारा,
अक्षुण्ण जन्म जल पूरित पूर्ण खारा ।
मारी जरा मगरमच्छ यहाँ सताते,
है दुःख पाक, इसका, गुरु हैं बताते ॥५१३॥

जो साधु रत्नत्रय मंडित हो सुहाता,
संसार में परम तीर्थ वही कहाता ।
संसार पार करता, लख क्यों कि नौका,
हो रूढ़ रत्नत्रय रूप अनूप नौका ॥५१४॥

हे ! मित्र आप अपने विधि के फलों को,
हैं भोगते सकल जीव शुभाशुभों को ।
तो कौन हो स्वजन ? कौन निरा पराया,
तू ही बता समझ में मुझको न आया ॥५१५॥

पूरा भरा दृग विबोध मयी सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ! ॥५१६॥

संयोग भाव वश ही बहु दुःख पाया,
हूँ कर्म के तपन तप्त, गया सताया ।
त्यागूँ उसे यतन से अब चाव से मैं
विश्राम लूँ सघन चेतन छाव में मैं ॥५१७॥

तूने भवाम्बुनिधिमज्जित आतमा की,
चिंता न की न अबलौं उसपे दया की ।
पै बार-बार करता मृत साथियों की,
चिंता दिवंगत हुए उन बंधुओं की ॥५१८॥

मैं अन्य हूँ तन निरा, तन से न नाता,
ये सर्व भिन्न मुझसे सुत, तात, माता ।
यों जान मान बुध पंडित साधु सारे,
धारें न राग इनमें, निजको निहारें ॥५१९॥

शुद्धात्म वेदनतया सम दृष्टि वाला,
है वस्तुतः निरखता तनको निराला ।
अन्यत्व रूप उसकी वह भावना है,
भाऊँ उसे जब मुझे व्रत पालना है ॥५२०॥

निष्पन्न है जड़मयी पल हड्डियों से,
पूरा भरा रुधिर मूत्र-मलादिकों से ।
दुर्गन्ध द्रव्य झरते नवद्वार द्वारा,
ऐसा शरीर फिर भी सुख दे ! तुम्हारा ? ॥५२१॥

जो मोह जन्य जड़भाव विभाव सारे,
हैं त्याज्य यों समझ साधु उन्हें विसारें ।
तल्लीन हो प्रशम में तज वासना को
भावें सही परम आस्रव भावनाको ॥५२२॥

वे गुप्ति औ समिति पालक अक्ष जेता,
औ अप्रमत्त परमातम तत्ववेत्ता ।
हैं कर्म के विविध आस्रव रोध पाते
हैं भावना परम संवर की निभाते ॥५२३॥

है लोक का यह वितान असार सारा,
संसार तीव्र गति में गममान न्यारा
यों जान मान मुनि हो शुभ ध्यान धारे,
लोकाग्र में स्थित शिवालय को निहारें ॥५२४॥

स्वामी ! जरा मरण-वारिधि में अनेकों,
जो डूबते बह रहे उन प्राणियों को ।
सद्धर्म ही शरण है गत, श्रेय द्वीप,
पूजूँ उसे शिव लसे सहसा समीप ॥५२५॥

तो भी रहा सुलभ ही वर देह पाना,
पै धर्म का श्रवण दुर्लभ है पचाना ।
हो जाय प्राप्त जिससे कि क्षमा अहिंसा,
ये भिन्न भिन्न बन जाय शरीर, हंसा ॥५२६॥

तो भी रहा सुलभ है सुनना सुनाना,
श्रद्धान पै कठिन है उसपै जमाना ।
सन्मार्ग का श्रमण भी करते तथापि,
होते कई स्खलित हैं मतिमूढ़ पापी ॥५२७॥

श्रद्धान औ श्रवण भी जिनधर्म का हो,
पै संयमाचरण तो अतिदुर्लभा हो ।
लेते सुधी रुचि सुसंयम में कई हैं,
पाते तथापि उसको सहसा नहीं हैं ॥५२८॥

सद्भावना वश निजातम शोभती त्यों,
निःछिद्र नाव जलमें वह शोभती ज्यों ।
नौका समान भव पार उतारती है,
ये भावना अमित दुःख विनाशती हैं ॥५२९॥

सच्चा प्रतिक्रमण, द्वादश भावनायें,
आलोचना शुचिसमाधि निर्जीकथायें ।
भावो इन्हें तुम निरन्तर पाप त्यागो,
शीघ्रातिशीघ्र जिससे निज धाम भागो ॥५३०॥

- ३१ लेश्या सूत्र -

ये पीत, पद्म शशिशुक्ल सुलेश्यकायें,
हैं धर्म ध्यान रत आतम की दशायें ।
औ उत्तरोत्तर सुनिर्मलभी रही है,
मन्दादि भेद इनके मिलते कई हैं ॥५३१॥

होती कषाय वश योगप्रवृत्ति लेश्या,
है लूटती निधि सभी जिस भांति वेश्या ।
जो कर्म बन्ध जग चार प्रकार का है,
हे मित्र ! कार्य वह योग कषाय का है ॥५३२॥

हैं कृष्ण नीलम कपोत कुलेश्यकायें
हैं पीत पद्म सित तीन सुलेश्यकायें
लेश्या कही समय मे, छह भेद वाली,
ज्यों ही मिटी समझलो मिटती पवाली ॥५३३॥

मानी गई अशुभ आदिम लेश्यकायें,
तीनों अधर्म मय हैं दुख आपदायें ।
आत्मा इन्हीं वश दुखी बनता वृथा है,
पापी बना, कुगति जा सहता व्यथा है ॥५३४॥

हैं तीन धर्म मय अंतिम लेश्यकायें,
मानी गई शुभ सुधा सुख सम्पदायें ।
ये जीवको सुगति में सब भेजती हैं,
वे धारते नित इन्हें जग में व्रती हैं ॥५३५॥

है तीव्र, तीव्रतर तीव्रतमा कुलेश्या,
है मन्द मन्दतर मन्दतमा सुलेश्या !
भाई ! तथैव छहथान विनाश वृद्धि,
प्रत्येक में बरतती इनमें, सुबुद्धि ! ॥५३६॥

भूले हुए पथिक थे, पथ को मृधा से,
थे आर्त्त पीड़ित छहों वन में क्षुधा से ।
देखा रसाल तरु फलफलों लदा था,
मानो उन्हें कि अशनार्थ बुला रहा था

आमूल स्कन्ध टहनी झट काट डालें,
औ तोड़-तोड़ फलफूल रसाल खालें ।
यों तीन दीन क्रमशः धरते कुलेश्या,
है सोचते कह रहे कर संकलेशा

है एक गुच्छ भरको इक पक्व पाता,
तोड़े बिना पतित को इक मात्र खाता ।
यों शेष तीन क्रमशः धरते सुलेश्या,
लेश्या उदाहरण ये कहते जिनेशा ॥५३७-५३८॥

ये क्रूरता अतिदुराग्रह दुष्टतायें,
सद्धर्म की विकलता अदया दशायें ।
वैरत्व औ कलह भाव विभाव सारे,
है कृष्ण के दुखद लक्षण, साधु टारें ॥५३९॥

अज्ञानता विषय की अतिगृद्धतायें,
सद्बुद्धि की विकलता मतिमन्दता ये ।
संक्षेप में समझ, लक्षण नीलके हैं,
ऐसे कहें, श्रमण आलय शील के हैं ॥५४०॥

अत्यन्त शोक करना, भयभीत होना,
कर्त्तव्य मूढ़ बनना, झट रुष्ट होना ।
दोषी व निन्द्य परको कहना बताना,
कापोत भाव सब ये इनको हटाना ॥५४१॥

आदेय, हेय अहिताहित बोध होना,
संसारि प्राणि भर में सम भाव होना ।
दानी तथा सदय हो पर दुःख खोना,
ये पीत लक्षण इन्हें तुम धार लो ना !! ॥५४२॥

हो त्याग भाव, नयता व्यवहार में हो,
औ भद्रता, सरलता, उर कार्य में हो ।
कर्त्तव्यमान करना गुरु भक्ति सेवा,
ये पदम लक्षण क्षमा धरलो सदैवा ॥५४३॥

भोगाभिलाष मन में न कदापि लाना,
औ देह-नेह रति-शेषन को हटाना ।
ना पक्षपात करना समता सभी में,
ये शुक्ल लक्षण मिले मुनि में सुधी में ॥५४४॥

आजाय शुद्धि परिणामन में जभी से,
लेश्या विशुद्ध बनती, सहसा तभी से ।
काषाय मन्द पड़जाय अशांति दाई,
हो जाय आत्म परिणाम विशुद्ध भाई ॥५४५॥

-३२- आत्म सूत्र -

संमोह योग वश आतम में अनेकों ?
होते विचित्र परिणाम विकार देखो !
सर्वज्ञ-देव ''गुणथान'' उन्हें बताया,
आलोक से सकल को जब देख पाया ॥५४६॥

मिथ्यात्व आदिम रहा गुणथान भाई,
सास्वादना वह द्वितीय अशांति दाई ।
है मिश्र है अविरती सम दृष्टि प्यारी,
है एक देश विरती धरते आगारी ।
होती प्रमत्तविरती गिरसाधु जाता,

हो अप्रमत्तविरती निज पास आता ।
स्वामी अपूर्व करणा दुख को मिटाती,
है आनिवृत्तिकरणा सुख को दिलाती ।
है सांपराय अति सूक्ष्म लोभ वाला,
है शान्त मोह गत मोह निरा उजाला ।
हैं केवली जिन सयोगि अयोगी न्यारे,
इत्थं चतुर्दश सुनो ! गुणथान सारे ॥५४७-५४८॥

तत्वार्थ मे न करना शुचि रूप श्रद्धा,
मिथ्यात्व है वह, कहें जिन शुद्ध बुद्धा ।
मिथ्यात्व भी त्रिविध संशय नामवाला,
दूजा गृहीत, अगृहीत तृतीय हाला ॥५४९॥

सम्यक्त्वरूप गिरि से गिर तो गई है,
मिथ्यात्व की अवनिपे नहिं आगई है ।
सासादना यह रही विचली दशा है,
मिथ्यात्व की अभिमुखी दुख की निशा है ॥५५०॥

जैसा दही गुड़ मिलाकर स्वाद लोगे,
तो भिन्न भिन्न तुम स्वाद न ले सकोगे ।
वैसा हि मिश्र गुणथानन का प्रभाव,
मिथ्यापना समपनाश्रित मिश्रभाव ॥५५१॥

छोड़ी अभी नहिं चरा चर जीव हिंसा,
न इंद्रियाँ दमित की तज भावहिंसा ।
श्रद्धा परन्तु जिसने जिनमें जमाई,
होता वहीं अविरती समदृष्टि भाई ! ॥५५२॥

छोड़ी नितान्त जिसने त्रसजीव हिंसा,
छोड़ी परंतु नहिं थावर जीव हिंसा ।
लेता सदा जिनप पाद पयोज स्वाद,
हो एक देश वरती "अलि" निर्विवाद ॥५५३॥

धारा महाव्रत सभी' जिसने तथापि,
प्राय: प्रमाद करता फिर भी अपापी ।
शीलादि सर्व गुण धारक संग त्यागी,
होता प्रमत्त विरती कुछ दोष भागी ॥५५४॥

शीलाभि मंडित, व्रती गुणधार ज्ञानी,
त्यागा प्रमाद जिसने बन आत्म ध्यानी ।
पै मोह को नहिं दबा न.खपा रहा है,
है अप्रमत्त विरती, सुखपा रहा है ॥५५५॥

जो भिन्न भिन्न क्षण में चढ़ आठवें में,
योगी अपूर्व परिणाम करें मजे में ।
ऐसे अपूर्व परिणाम न पूर्व में हो,
वे ही अपूर्वकरणा गुणथान में हो ॥५५६॥

जो भी अपूर्व परिणाम सुधार पाते,
वे मोह के शमक, ध्वंसक या कहाते ।
ऐसा जिनेंद्र प्रभु ने हमको बताया,
अज्ञान रूप तम को जिसने मिटाया ॥५५७॥

प्रत्येक काल इक ही परिणाम पाले,
वे आनिवृत्तिकरणा गुणथान वाले ।
ध्यानाग्नि से धधकती विधि काननी को
हैं राख राख करते, दुख की जनी को ॥५५८॥

कासुम्ब के सदृश सौम्य गुलाब आभा,
शोभायमान जिसके उर राग आभा ।
है सूक्ष्म राग दशवें गुणथान वाले,
वे वन्द्य, तू विनय से शिर तो नवाले ॥५५९॥

ज्यों शुद्ध है शरद में सर नीर होता,
या निर्मली फल डला जल क्षीर होता ।
त्यों शान्त मोह गुणधारक हो निहाला
हो मोह सत्व, पर जीवन तो उजाला ॥५६०॥

सम्मोह हीन जिसका मन ठीक वैसा
हो स्वच्छ, हो स्फटिक भाजन नीर जैसा ।
निर्ग्रन्थ साधु वह क्षीण कषाय नामी,
यों वीतराग कहते प्रभु विश्व स्वामी ॥५६१॥

कैवल्य बोध रवि जीवन में उगा है,
अज्ञान रूपतम तो फलतः भगा है ।
पा लब्धियां नव नवीन, वही कहाता,
त्रैलोक्य पूज्य परमातम या प्रमाता ॥५६२॥

स्वाधीन बोध दृगपाकर केवली हैं,
जीता जभी स्वयम को जिन हैं बली हैं ।
होता सयोगि जिन योग समेत ध्यानी,
ऐसा कहे अमिट अव्यय आर्षवाणी ॥५६३॥

हं अष्टकर्म मल को जिनने हटाया,
सम्यक्तया सकल आस्रव रोक पाया ।
वे है, अयोगि जिन पावन केवली हैं,
है शील के सदन औ सुख के धनी हैं ॥५६४॥

आत्मा अतीत गुणथान बना जभी से,
सानन्द ऊर्ध्व गति है करता तभी से ।
लोकाग्र जा निवसता गुण अष्ट पाता
पाता न देह, भव में नहिं लौट आता ॥५६५॥

वे सिद्ध, नित्य कृतकृत्य, सुशान्त, ज्ञानी,
होते निरंजन न अजन की निशानी ।
सामान्य अष्ट गुण आकर हो लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं ॥५६६॥

- ३३ सल्लेखना सूत्र -

भाई सुनो तन अचेतन दिव्य नौका,
तो जीव नाविक सचेतन है अनोखा ।
संसार सागर रहा दुख पूर्ण खारा,
है तैरते ऋषि महर्षि जिसे सुचारा ॥५६७॥

है लक्ष्यबिन्दु यदि शाश्वत सौख्य पाना,
जाना मना विषयमें मन को घुलाना ।
दे, देह को उचित वेतन तू सयाने !
पाने स्वकीय सुख को विधि को मिटाने ॥५६८॥

क्या धीर, कापुरुष, कायर क्या विचारा,
हो कालका कवल लोक नितान्त सारा ।
है मृत्यु का यह नियोग, नहीं टलेगा,
तो धैर्य धार मरना, शिव जो मिलेगा ॥५६९॥

वो एक ही मरण है मुनि पण्डितों का,
है आशु नाश करता शतशः भवों का ।
ऐसा अतः मरण हो जिससे तुम्हारा,
जो बार बार मरना, मर जाय सारा ॥५७०॥

पाण्डित्य पूर्ण मृति पण्डित साधु पाता,
निर्भ्रान्त हो अभय हो भय को हटाता ।
तो एक साथ मरणोदधिपूर्ण पीना ।
मृत्युंजयी बन तभी चिरकाल जीता ॥५७१॥

वे साधु पाश समझे लघु दोष को भी,
हो दोष ताकि न, चले रख होश को भी ।
सद्धर्म और सधने तनको सँभाले,
हो जीर्ण शीर्ण तन, त्याग स्वगीत गालें ॥५७२॥

दुर्वार रोग तन में न जरा घिरी हो,
बाधा पवित्र व्रत में नहिं आ परी हो ।
तो देह त्याग न करो, फिर भी करोगे,
साधुत्व त्याग करके, भव में फिरोगे ॥५७३॥

सल्लेखना सुखद है सुख है सुधा है,
जो अंतरंग बहिरंग तथा द्विधा है ।
आद्या, कषाय क्रमशः कृश ही कराना,
है दूसरी बिन व्यथा तनको सुखाना ॥५७४॥

काषायिकी परिणती सहसा हटाते,
आहार अल्प कर लें क्रमशः घटाते ।
सल्लेखना व्रत सुधारक रुग्ण हो वे
तो पूर्ण अन्न तज दें, अति अल्प सोवें ॥५७५॥

एकान्त प्रासुक धरा, तृण की चटाई,
संन्यस्त के मसृण संस्तर ये न भाई ।
आदर्श तुल्य जिसका मन हो उजाला,
आत्मा हि संस्तर रहा उसका निहाला ॥५७६॥

हाला तथा कुपित नाग कराल काला,
या भूत, यंत्र, विष निर्मित बाण भाला ।
होते अनिष्ट उतने न प्रमादियों के,
निम्नोक्त भाव जितने शठ साधुओं के ॥५७७॥

सल्लेखना समय में तजते न माया
मिथ्या निदानत्रयको मन में जमाया ।
वे साधु आशु नहिं दुर्लभ बोधिपाते,
पाते अनन्त दुख ही भव को बढ़ाते ॥५७८॥

मायादि शल्य त्रय ही भव वृक्ष मूल,
काटें उसे मुनि सुधी अभिमान भूल ।
ऐसे मुनीश पद में नतमाथ होऊँ,
पाऊँ पवित्र पद को शिवनाथ होऊँ ॥५७९॥

भोगाभिलाष समवेत कुकृष्ण लेश्या,
हो मृत्यु के समय में जिसको जिनेशा ।
मिथ्यात्व कर्दम फसा उस जीव को ही,
हो बोधि दुर्लभतया, तज मोह मोही ! ॥५८०॥

प्राणान्त के समय में शुचि शुक्ललेश्या,
जो धारता, तज नितान्त दुरन्त क्लेशा ।
सम्यक्त्व में निरत नित्य, निदानत्यागी,
पाता वही सहज बोधि व्रती विरागी ॥५८१॥

सद्बोधि की यदि तुम्हें चिर कामना हो,
ज्ञानादि की सतत सादर साधना हो ।
अभ्यास रत्नत्रय का करना, उसी को,
आराधना वरण है करती सुधी को ॥५८२॥

ज्यों सीखता प्रथम, राजकुमार नाना
विद्या कला असिगदादिक को चलाना ।
पश्चात् वही कुशलता बल योग्य पाता,
तो धीर जीत, रिपु को जय लूट लाता ॥५८३॥

अभ्यास भूरि करता शुभ ध्यान का है,
लेता सदैव यदि माध्यम साम्य का है ।
तो साधु का सहज हो मन शान्त जाता,
प्राणान्त के समय ध्यान नितान्त पाता ॥५८४॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो
अन्यत्र, छोड़ निजको, न करो विहारो ।
संबन्ध मोक्ष पथ से अविलम्ब जोड़ो,
तो आप को नमन हो मम ये करोड़ो ॥५८५॥

साधू करे न मृति जीवन की चिकित्सा,
ना परलौकिक न लौकिक भोगलिप्सा ।
सल्लेखना समय में बस साम्य धारें,
संसार का अशुभ ही फल, यों विचारें ॥५८६॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशान्ति-धाता ।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥५८७॥

द्वितीय खण्ड समाप्त

(दोहा)

''मोक्षमार्ग'' पर नित चलो दुख मिट, सुख मिल जाय,
परम सुगंधित ज्ञान की मृदुल कली खिल जाय ॥१॥

तत्त्व दर्शन, तृतीय खण्ड
तत्त्व सूत्र

अल्पज्ञ मूढ़ जन ही भजते अविद्या,
होते दुखी, नहिं सुखी, तजते सुविधा।
हो लुप्त गुप्त भवमें बहुबार तातें,
कल्लोल ज्यों उपजते सर में समाते ॥५८८॥

रागादि भाव भर को अघ पाश मानें,
वित्तादि वैभव महा दुख खान जानें।
औ सत्य तथ्य समझें, जग प्राणियों में
मैत्री रखें, बुध सदैव चराचरों में ॥५८९॥

जो ''शुद्धता'' ''परम ''द्रव्यस्वभाव'', स्थाई,
है ''पारमार्थ'' अपरापर ध्येय भाई।
औ वस्तु तत्त्व सुन ! ये सब शब्द प्यारे
हैं भिन्न भिन्न पर आशय एक धारें ॥५९०॥

होते पदार्थ नव, जीव, अजीव न्यारा,
है पुण्य, पाप विधि आस्रव, बंध खारा।
आराध्य हैं सुखद संवर, निर्जरा हैं,
आदेय है परम मोक्ष यही खरा है ॥५९१॥

है जीव, शाश्वत अनादि अनन्त ज्ञाता,
भोक्ता तथा स्वयम की विधि के विधाता।
स्वामी सचेतन तभी तन से निराला,
प्यारा अरूप उपयोग मयी निहाला ॥५९२॥

भाई कभी अहित से डरता नहीं है,
उद्योग भी स्वहित का करता नहीं है ।
जो बोध दुःख सुख का रखता नहीं है,
हैं मानते मुनि, "अजीव" उसे सही है ॥५९३॥

आकाश पुद्गल व धर्म, अधर्म, काल,
ये हैं "अजीव" सुन ! तू अयि ! भव्य बाल !
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते
हैं मूर्त पुद्गल, न शेष, अमूर्त भाते ॥५९४॥

आत्मा अमूर्त, नहिं इंद्रिय गम्य होना,
होता तथापि नित, नूतन ढंग ढोना ।
है आत्म की कलुषता विधि बन्ध हेतु
संसार हेतु विधि बन्धन जान रे ! तू ॥५९५॥

जो राग से सहित है वसु कर्म पाता,
होता विराग भवमुक्त, अनन्त ज्ञाता ।
संसारि-जीव भर की विधि बन्ध गाथा,
संक्षेप में समझ, क्यों रति गीत गाता ॥५९६॥

मोक्षाभिलाष यदि है तज राग रागी,
नीराग भाव गहले, बन वीतरागी ।
ऐसा हि भव्य जन शाश्वत सौख्य पाते,
शीघ्रातिशीघ्र भव वारिधि तैर जाते ॥५९७॥

है पाप पुण्य विधि दो विधि बंध हेतु,
है जान निश्चित शुभाशुभ भाव को तू
हैं धारते अशुभ तीव्र कषाय वाले,
शोभे सुधार "शुभ", मन्द कषाय वाले ॥५९८॥

धारें क्षमा खलजनों कटुभाषियों में,
लेवें नितान्त गुण शोध सभी जनों में ।
बोलें सदैव प्रिय बोल, उन्हीं जनों के
ये हैं उदाहरण मन्दकषायियों के ॥५९९॥

जो वैर भाव रखना चिर, साधुओं में,
प्रादोष को निरखना, गुण धारियों में ।
शंसा स्वकीय करना, उन पापियों के,
ये चिन्ह हैं परम तीव्र कषायियों के ॥६००॥

जो राग रोष वश मन बना भिखारी,
आधीन इन्द्रिय निकायन का विकारी ।
है अष्ट कर्म करता त्रय योग द्वारा,
कैसे खुले ? फिर उसे वर मुक्ति द्वारा ॥६०१॥

हिंसादि पंच विधि आस्रव द्वार द्वारा,
होता सदैव विधि आस्रव है अपारा ।
आत्मा भवाम्बुनिधि में तब डूब जाती,
नौका सछिद्र, जल में कब तैर पाती ? ॥६०२॥

हो वात से सरसि शीघ्र तरंगिता ज्यों,
वाक्काय से मनस से यह आतमा त्यों ।
त्रैलोक्य पूज्य जिन ''योग'' उसे बताते
वे योग निग्रहतया जग जान जाते ॥६०३॥

ज्यों ज्यों त्रियोग रुकते रुकते चलेंगे,
त्यों त्यों नितान्त विधि आस्रव भी रुकेंगे ।
संपूर्ण योग रुक जाय न कर्म आता
क्या पोत में विवर के बिन नीर जाता ? ॥६०४॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
वे चार आस्रव इन्हीं वश दुःख योग ।
सम्यक्त्व संयम, विराग, त्रियोग रोध,
ये चार संवर, जगे इनसे स्वबोध ॥६०५॥

हो बन्द, पोतगत छेद सभी सही है !!!
पानी प्रवेश करता उसमें नहीं है ।
मिथ्यात्व आदि मिटने पर शीघ्रता से,
हो कर्म संवर निजातम साम्यता से ॥६०६॥

रोके नितान्त जिनने विधि-द्वार सारे,
होते जिन्हें निज समा जग जीव प्यारे ।
वे संयमी परम संवर को निभाते,
हे पापरूप विधि-बन्धन को न पाते ॥६०७॥

मिथ्यात्वरूप विधि-द्वार खुले न भाई,
तू शीघ्र से दृग कपाट लगा भलाई ।
हिंसादि द्वार, व्रत रूप कपाट द्वारा,
हे ! भव्य बन्द कर दे, सुख पा अपारा ॥६०८॥

होता जलास्रव जहाँ तुम बांध डालो,
आये हुये सलिल बाद निकाल डालो ।
तालाब में जल लबालब हो भले ही,
औ सूखता सहज से पल में टले ही ॥६०९॥

हो संयमी परम आतम शोधता है,
संपूर्ण पाप विधि आस्रव रोकता है ।
निर्भ्रान्त कोटि भव संचित कर्म सारे,
होते विनिष्ट, तपसे क्षण में बिचारे ॥६१०॥

पाये बिना परम संवर को तपस्वी,
पाता न मोक्ष तप से, कहते मनस्वी ।
आता रहा सलिल बाहर से सदा ओ,
क्या सूखता सर कभी ? तुम ही बताओ ॥६११॥

है कर्म नष्ट करता जितना वनों में
जा अज्ञ धार तप, कोटि भवों भवों में ।
ज्ञानी निमेष भरमें त्रय गुप्ति द्वारा
है कर्म नष्ट करता उतना सुचारा ॥६१२॥

होता विनष्ट जब मोह अशान्तिदाई,
तो शेष कर्म सहसा नश जाय भाई ।
सेनाधिनायक भला रण में मरा हो
सेना कभी बच सके ? न बचे जरा ओ ॥६१३॥

लोकान्त लौं गमन है करता सुहाता,
है सिद्ध कर्ममलमुक्त, निजात्म धाता ।
सर्वज्ञ हो लस रहा नित सर्वदर्शी
होता अतींद्रिय अनन्त प्रमोद स्पर्शी ॥६१४॥

संप्राप्त जो सुख, सुरों असुरों नरों को,
औ भोगभूमिज जनों अहमिंद्रकों को ।
औ मात्र बिन्दु, जब सिद्धनका सुसिंधु,
खद्योत-ज्योत इक है इक पूर्ण इन्दु ॥६१५॥

संकल्प तर्क न जहाँ मन ही मरा है,
ना ओज तेज, मलकी न परंपरा है ।
संमोह का क्षय हुआ फिर खेद कैसे ?
ना शब्द गम्य वह मोक्ष, दिखाय कैसे ? ॥६१६॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध सुख की दुख से न क्रीड़ा ?
ना जन्म है मरण है जिसमें दिखाते,
''निर्वाण'' जान वह है गुरु यों बताते ॥६१७॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिसमें नहीं हैं
बाधा कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा है,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥६१८॥

चिन्ता नहीं उपजती चितमें जरा सी,
नोकर्म भी नहिं, नहीं वसु-कर्म-राशि ।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह रहा तुम यों विचारों ॥६१९॥

कैवल्य-बोध-सुख-दर्शन-वीर्य वाला,
आत्मा प्रदेश मय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण में निवसता निजनीति धारी,
अस्तित्व से विलसता जग-आर्तहारी ॥६२०॥

पाते महर्षि-ऋषि सन्त जिसे, वही है,
निर्वाण, सिद्धि, शिव मोक्ष मही, सही है ।
लोकाग्र है सुख अबाधक, क्षेम प्यारा
वन्दूँ उसे विनय से बस बार बारा ॥६२१॥

एरण्डबीज सहसा जब सूख जाता,
है उर्ध्व ही नियम से उड़ता दिखाता ।
हो पंक लिप्त जल में वह डूब जाती,
तुम्बी संपर्क तजती द्रुत ऊर्ध्व आती,

छूटा हुआ धनुष से जिस भांति बाण
हो पूर्व योग वश हो गतिमान मान !
श्री सिद्ध जीव गति भी उस भाँति होती,
धूमाग्नि की गति समा वह ऊर्ध्व होती ॥६२२॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल, नित्य, अनूप सारे ।
होते अतींद्रिय पुनः भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप विधि-हीन मुझे सुहाते ॥६२३॥

३५ द्रव्य सूत्र

ये जीव, पुद्गल ख, धर्म, अधर्म, काल,
होते जहाँ समझ "लोक" उसे विशाल ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
यों "वीर ने" सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२४॥

आकाश, पुद्गल अधर्म व धर्म, काल,
होते जहाँ समझ "लोक" उसे विशाल ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
यों "वीर ने" सदुपदेश दिया सुरेखा ॥६२५॥

ये पांच द्रव्य, नभ धर्म अधर्म, काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक हैं निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सब में निराला,
है जीव चेतन-निकेतन, बोध-शाला ॥६२६॥

ये जीव पुद्गल जु सक्रिय द्रव्य दो हैं,
तो शेष चार सब निष्क्रिय द्रव्य जो हैं ।
कर्माभिभूत जड़ पुद्गल से क्रियावान
है जीव, कालवश पुद्गल है क्रियावान ॥६२७॥

है एक एक नभ, धर्म, अधर्म तीनों,
तो शेष शाश्वत अनन्त अनन्त तीनों ।
हैं वस्तुतः सब स्वतंत्र स्वलीन होते,
ऐसा जिनेश कहते वसु कर्म खोते ॥६२८॥

है धर्म औ वह अधर्म त्रिलोक व्यापी,
आकाश तो सकल लोक अलोक व्यापी ।
है मर्त्य लोक भरमें व्यवहार काल,
सर्वज्ञ के वचन हैं सुन भव्य बाल ! ॥६२९॥

देते हुए श्रेय परस्पर में मिले हैं,
ये सर्व द्रव्य पय शक्कर से घुले हैं ।
शोभे तथापि अपने अपने गुणों से,
छोड़े नहीं निज स्वभाव युगों युगों से ॥६३०॥

है स्पर्शरूप, रस, गंध विहीन स्थाई,
है खण्ड खण्ड नहिं पूर्ण अखण्ड भाई ।
है लोकपूर्ण सुविशाल असंख्य देशी,
धर्मास्तिकाय वह है सुन तू हितैषी ॥६३१॥

त्यों धर्म, जीव जड़ को गति में सहाई,
ज्यों मीन के गमन में जल होय भाई !
औदास्य भाव धरना नहिं प्रेरणा है,
धर्मास्किाय यह है जिन देशना है ॥६३२॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चलें, गति है दिलाता ।
होता न प्रेरक निमित्त तथापि भाई,
ज्यों रेल के गमन में पटरी सहाई ॥६३३॥

है धर्म द्रव्य उस भाँति अधर्म द्रव्य,
कोई क्रिया न करता सुन भद्र ! भव्य !
औदास्य भाव धरती सम धार लेता,
ज्यों प्राणि पुद्गल रुकें स्थिति दान देता ॥६३४॥

आकाश व्यापक अचेतन भाव धाता,
होता पदार्थ दलका अवगाह दाता ।
भाई अमूर्त नभ के फिर भेद दो हैं,
है एक लोक, इक दीर्घ अलोक सो है ॥६३५॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ हैं,
माना गया अमितलोक यही यहाँ हैं
आकाश केवल अलोक वही कहाता
यों ठीक ठीक यह छन्द हमें बनाता ॥६३६॥

है स्पर्श रूप रस गन्ध विहीन होता,
संवर्त्तनामय सुलक्षण जो कि ढोता ।
है धारता गुण सदा अगुरूलघू को,
है काल स्वीकृत यही जग के प्रभू को ॥६३७॥

है हो रहा नित अचेतन पुद्गलों में,
धारा प्रवाह परिवर्तन चेतनों में ।
औ काल का बस अनुग्रह तो रहा है,
वैराग्य का परम कारण हो रहा है ॥६३८॥

घंटा निमेष समयावलि आदि देखो !
होते प्रभेद जिसमें सहसा अनेकों ।
होता वही समय में व्यवहार काल,
है वीतराग जिनका मत है निहाल ॥६३९॥

दो भेद, "स्कन्ध, "अणु" पुद्गल के पिछानो,
हैं स्कन्ध भेद छह दो अणु के सुजानो ।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
पै चर्मचक्षु अणु की करती न पूजा ॥६४०॥

है स्थूल स्थूल, फिर स्थूल, व स्थूल सूक्ष्म,
औसूक्ष्म स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म ।
भू, नीर, आतप, हवा विधि-वर्गायें,
ये है उदाहरण स्कन्ध के गिनाये ॥६४१॥

किंवा धरा सलिल, लोचन गम्य छाया,
नासादिके विषय पुद्गल कर्म माया ।
अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु, छहों यहाँ ये,
हैं स्कन्ध भेद जड़ पुद्गल के बताये ॥६४२॥

जो द्रव्य होकर न इंद्रिय गम्य होता,
है आदि मध्य अरु अन्त विहीन होता ।
है एक देश रखता अविभाज्य भाता,
ऐसा कहें जिन यही परमाणु-गाथा ॥६४३॥

जो स्कन्ध में वह क्रिया अणु में इसीसे,
तू जान पुद्गल सदा अणु को खुशी से ।
स्पर्शादि चार गुण पुद्गल धार पाता
है पूरता पिघलता पर स्पष्ट भाता ॥६४४॥

जो जीव है, विगत में चिर जी चुका है,
जो चार प्राण धर के अब जी रहा है,
आगे इसी तरह जीवन जी सकेगा,
उच्छ्वास-आयु-बल इंद्रिय पा लसेगा ॥६४५॥

विस्तार संकुचन शक्तितया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी ।
पै छोड़के समुद्घात दशा हितैषी !
हैं वस्तुतः एकत्व जीव असंख्य देशी ॥६४६॥

ज्यों दूध में पतित माणिक दूध को ही,
है लाल लाल करता सुन मूढ़ मोही !
त्यों जीव देह स्थित हो निज देह को ही
सम्यक प्रकाशित करें नहिं अन्य को ही ॥६४७॥

आत्मा तथापि वह ज्ञान प्रमाण भाता,
है ज्ञान भी सकल ज्ञेय प्रमाण साता ।
है ज्ञेय तो अमित लोक अलोक सारा,
भाई अतः निखिल व्यापक ज्ञान प्यारा ॥६४८॥

वे जीव हैं द्विविध, चेतन धाम सारे,
"संसारि" मुक्त" द्विविधा उपयोग धारें ।
संसारिजीव तनधारक हैं दुखी हैं,
हैं मुक्त जीव तनमुक्त तभी सुखी हैं ॥६४९॥

पृथ्वी-जलानल समीर तथा लतायें,
एकेन्द्रिय सब स्थावर ये कहायें
हैं धारते करण दो, त्रय, चार पंच
शंखादि जीव त्रय हैं करते प्रपंच ॥६५०॥

३६ सृष्टि सूत्र

है वस्तुतः यह अकृत्रिम लोक भाता,
आकाश हि इक भाग अहो ! कहाता !
आई अनादि अविनश्वर नित्य भी है
जीवादि द्रव्य दल पूरित पूर्ण भी है ॥६५१॥

पा योग अन्य अणु का अणु स्कंध होता,
है स्निग्ध रूक्ष गुणधारक चूंकि होता,
ना शब्द रूप अणु है, इक देश धारी,
प्रत्यक्ष ज्ञान लखता "अणु" निर्विकारी ॥६५२॥

ये सूक्ष्म स्थूल द्वयणुकादिक स्कन्ध सारे,
पृथ्वी जलाग्नि मरुतादिक रूप धारें ।
कोई इन्हें न ऋषि ईश्वर ही बनाते,
पै स्वीय शक्ति वश ही बनते सुहाते ॥६५३॥

सूक्ष्मादि स्कन्ध दल से त्रयलोक सारा,
पूरा ठसाठस भरा प्रभु ने निहारा ।
है योग्य स्कन्ध उनमें विधि रूप पाने,
होते अयोग्य कुछ है समझो सयाने ! ॥६५४॥

ज्यों जीव के विकृत भाव निमित्त पाती,
वे वर्गणा विधिमयी विधि हो सताती ।
आत्मा उन्हें न विधिरूप हठात् बनाता,
होता स्वभाव वश कार्य सदा दिखाता ॥६५५॥

रागादि से निरखता यदि जानता है,
पंचेंद्रिक के विषय को मन धारता है ।
रंजायमान उसमें वह हो फसेगा
दुष्टाष्टकर्म मल में चिर औ लसेगा ॥६५६॥

सर्वत्र हैं विपुल हैं विधि वर्गणायें,
आकीर्ण पूर्ण जिनसे कि दशों दिशायें ।
वे जीव के सब प्रदेशन में समाते,
रागादिभाव जब जीव सुधार पाते ॥६५७॥

ज्यों राग रोष मय भाव स्वचित्त लाता,
है मूढ़ पामर शुभाशुभ कर्म पाता ।
होता तभी वह भवान्तर को रवाना
ले साथ ही नियम से विधि के खजाना ॥६५८॥

प्राचीन कर्म वश देह नवीन पाते,
संसारिजीव पुनि कर्म नये कमाते ।
यों बार-बार कर कर्म दुखी हुए हैं
वे कर्म बन्ध तज सिद्ध सुखी हुए हैं ॥६५९॥

दोहा

"तत्त्वदर्शन" यही रहा निजदर्शन का हेतु,
जिनदर्शन का सार है भवसागर के सेतु ॥

तृतीय खण्ड समाप्त

स्याद्वाद चतुर्थ खण्ड

३७ अनेकान्त सूत्र

जो विश्व के विविध कार्य हमें दिखाते,
भाई विना जिसके चल वे न पाते ।
नेकान्तवाद वह है जगदेक स्वामी !
वन्दूँ उसे विनय से शिव पन्थ गामी ॥६६०॥

आधार द्रव्य गुणका, इक द्रव्य का ही
आधार ले गुण लसें, शिव राह राही !
पर्याय द्रव्य, गुण आश्रित हैं कहाते,
ये वीर के वचन ना जड़ को सुहाते ॥६६१॥

पर्याय के बिन कहीं नहि द्रव्य पाता,
तो द्रव्य के बिन न पर्यय भी सुहाता ।
उत्पाद-धौव्य-व्यय-लक्षण द्रव्य का है,
यों जान, लाभ द्रुत लूँ निज द्रव्य का है ॥६६२॥

उत्पाद भी न व्यय के बिन दीख पाता,
उत्पाद के बिन कहीं व्यय भी न भाता ।
उत्पाद और व्यय ना बिन धौव्य के हो,
विश्वास ईदृश न किन्तु अभव्य के हो ॥६६३॥

उत्पाद धौव्य व्यय हो इन पर्ययों में,
हो द्रव्य में नहिं तथा उसके गुणों में ।
पर्याय हैं नियत द्रव्य-मयी, तभी हैं,
वे "द्रव्य" ही कह रहे गुरु यों सभी हैं ॥६६४॥

है एक ही समय में त्रय भाव ढोता,
उत्पाद धौव्य व्यय धारक द्रव्य होता ।
तीनों अतः नियम द्रव्य यथार्थ में हैं
योगी कहें रत स्वकीय पदार्थ में हैं ॥६६५॥

पर्याय एक नशती जब लौं जहाँ है,
तो दूसरी उपजती तब लौं वहाँ है ।
पै द्रव्य है ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता,
ना जन्मता न मिटता यह शास्त्र गाता ॥६६६॥

पौरुष्य तो पुरुष में इक सार पाता,
ले जन्म से मरण लौं नहिं छोड़ जाता ।
वार्धक्य औ शिशु किशोर युवा दशायें,
पर्याय हैं जनमती मिटती सदा यें ॥६६७॥

पर्याय जो सदृश द्रव्यन की सुहाती,
"सामान्य" नाम वह निश्चित धार पाती ।
पर्याय हो विसदृशा वह हो "विशेषा",
ये द्रव्य को तज नहीं रहती निमेषा ॥६६८॥

सामान्य और सविशेष द्विधर्मवाला,
हो द्रव्य, ज्ञान जिसको लखता सुचारा ।
सम्यक्त्व का वह सुसाधक बोध होता
मिथ्यात्व मित्र, आर्य मित्र ! कुबोध होता ॥६६९॥

हो एक ही पुरुष भानज तात भाई,
देता वही सुत किसी नय से दिखाई ।
पै भ्रात तात सुत ओ सबका न होता,
है वस्तु धर्म इस भाँति अशांति खोता ॥६७०॥

जो निर्विकल्प-सविकल्प द्विधर्मवाला,
है शोभता नर मनो शशि हो उजाला ।
एकान्त से यदि उसे इक धर्मधारी,
जो मानता वह न आगम बोध धारी. ॥६७१॥

पर्याय नैक विधि यद्यपि हो तथापि,
भाई विभाजित उन्हें न करो कदापि ।
वे क्षीर नीर जब आपस में मिलेंगे,
औ "नीर" "क्षीर" यह" यों फिर क्या कहेंगे? ॥६७२॥

नि:शंक हो समय में तज मान सारा,
स्याद्वाद का विनय से मुनि लें सहारा ।
भाषा द्विधाऽनुभय सत्य सदैव बोलें,
निष्पक्ष भाव धर शास्त्र रहस्य खोलें ॥६७३॥

३८ प्रमाण सूत्र

संमोह-संभ्रम-ससंशय-हीन प्यारा,
कल्याण खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला ।
माना गया स्वपरभाव प्रभाव दर्शी,
साकार नैकनिध शाश्वत-सौख्य-स्पर्शी ॥६७४॥

सज्ज्ञान पंचविध ही मतिज्ञान प्यारा
दूजा श्रुतावधि-तृतीय सुधा-सुधारा ।
चौथा पुनीत मनपर्यय ज्ञान मानूँ,
है पाँचवा परम केवल ज्ञान-भानु ॥६७५॥

सज्ज्ञान पंचविध ही गुरु गा रहे हैं,
ले के सहार जिसका शिव जा रहे हैं ।
संपूर्ण क्षायिक सुकेवल ज्ञान नामी,
चारों क्षयोपशमिका अवशेष स्वामी ॥६७६॥

ईहा, अपोह, मति, शक्ति, तथैव संज्ञा,
मीमांस, मार्गण, गवेषण और प्रज्ञा ।
ये सर्व ही अभिनिबोधिक ज्ञान भाई,
पूजो इसे बस यही शिव-सौख्य दाई ॥६७७॥

आधार ले विषय का मति के जनाता-
जो अन्य द्रव्य, श्रुत ज्ञान वही कहाता ।
ओ लिंग शब्दज तथा श्रुत ही द्विधा है,
होता नितान्त मतिपूर्वक ही सुधा है ॥
है मुख्य शब्दज जिनागम में कहाता,
जो भी उसे उर धरे भव पार जाता ॥६७८॥

पाके निमित्त मन इन्द्रिय का, अघारी,
होता प्रसूत श्रुतज्ञान श्रुतानुसारी ।
है आत्म तत्त्व परसम्मुख थापने में
स्वामी ! समर्थ श्रुत ही, मति जानने में ॥६७९॥

हो पूर्व में मति सदा श्रुत बाद में हो,
ना पूर्व में श्रुत कभी मति बाद में हो ।
होती "पृ" धातु परिपूरण पालने में,
हो पूर्व में मति अतः श्रुत पूरणे में ॥६८०॥

सीमा बना, समय आदिक की सयाने ।
रूपी पदार्थ भरको इकदेश जाने ।
जो ख्यात भाव-गुण प्रत्यय से ससीमा,
माना गया अवधिज्ञान वही सुधीमान ! ॥६८१॥

है चित्त चिंतित अचिंतित चिंतना है,
या सार्ध चिंतित नृलोकन में यहाँ है ।
जो जानता बस उसे शिव सौख्य दाता
प्रत्यक्ष ज्ञान मन पर्यय नाम पाता ॥६८२॥

शुद्धैक औ सब, अनन्त विशेष आदि,
ये अर्थ हैं सकल केवल के अनादि ।
कैवल्य ज्ञान इन सर्व विशेषणों से,
शोभे अतः भज उसे, बच दुर्गुणों से ॥६८३॥

जो एक साथ सहसा बिन रोक टोक,
है जानता सकल लोक तथा अलोक ।
''कैवल्य ज्ञान'' जिसको नहिं जानता हो
ऐसा गतागत अनागत भाव[1] ना हो ॥६८४॥

---

[1] भव शब्द का ही भाव शब्द बना कर छन्द को निर्दोष बनाने का प्रयास किया है अवधि ज्ञान ''भव प्रत्यय'' और ''गुण प्रत्यय'' दो प्रकार का होता है।

(आ) प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाण

वस्तुत्व नित्य अवरुद्ध अबाध भाता,
सम्यक्तया सहज ज्ञान उसे जनाता ।
होता प्रमाण वह ज्ञान अतः सुधा है,
प्रत्यक्ष पावन परोक्षतया द्विधा है ॥६८५॥

ये धातु दो अशु तथा अश जो कहातीं,
व्याप्त्यर्थ में अशन में क्रमशः सुहातीं ।
है अक्ष शब्द बनता सहसा इन्हीं से,
ऐसा सदा समझ तू नहिं औ किसी से ॥६८६॥

है जीव अक्ष जग वैभव भोगता है,
सर्वार्थ में सहज व्याप सुशोभता है ।
तो अक्ष से जनित ज्ञान वही कहाता,
''प्रत्यक्ष'' है त्रिविध आगम यों बताता ॥६८७॥

द्रव्येंद्रियाँ मनस पुद्गलभाव धारे,
हैं अक्ष से इसलिए अति भिन्न न्यारे ।
संजात ज्ञान इनसे वह ठीक वैसा,
होता परोक्ष बस लिंगज ज्ञान जैसा ॥६८७॥

होते परोक्ष मति औ श्रुत जीव के हैं,
औचित्य है परनिमित्तक क्योंकि वे हैं ।
किंवा अहो परनिमित्तक हो न कैसे ?
हो प्राप्त-अर्थ-स्मृति से अनुमान जैसे ॥६८८॥

होता परोक्ष श्रुत लिंगज ही, महान,
प्रत्यक्ष हो अवधि आदिक तीन ज्ञान ।
स्वामी ! प्रसूत मति, इंद्रिय चित्र से जो,
"प्रत्यक्ष सव्यवहरा" उपचार से हो ॥६८९॥

३९ नय सूत्र

द्रव्यांश को विषय है अपना बनाता,
होता विकल्प श्रुत धारक का सुहाता ।
माना गया नय वही श्रुत भेद प्यारा,
ज्ञानी वही कि जिसने नय ज्ञान धारा ॥६९०॥

एकान्त को यदि पराजित है कराना,
भाई तुम्हें प्रथम है नयज्ञान पाना ।
स्यादवाद बोध नय के बिन ना निहाला,
चाबी बिना नहिं खुलें गृह द्वारताला ॥६९१॥

ज्यों चाहता वृष बिना "जड़" मोक्ष जाना,
किंवा तृषी जल बिना हि तृषा बुझाना ।
त्यों वस्तु को समझना नय के बिना ही,
है चाहता अबुध ही भवराह राही ॥६९२॥

तीर्थश का वचन सार द्विधा कहाता,
सामान्य आदिम द्वितीय विशेष भाता ।
दो द्रव्य पर्ययतया नय हैं उन्हीं के
ये ही यथा क्रम विवेचक भद्र दीखे ॥६९३॥

ये दोष भेद इनके नय शेष जो भी
तू जान ईदृश सदा तज लोभ लोभी !
सामान्य को विषय है नय जो बनाता,
तो शून्य ही वह "विशेष" उसे दिखाता ।
जो जानता नय सदैव विशेष को है,
सामान्य शून्य दिखता सहसा उसे है ॥६९४॥

द्रव्यार्थिकी नय सदा इस भांति गाता,
है द्रव्य तो ध्रुव त्रिकाल अबाध भाता ।
पै द्रव्य है उदित होकर नष्ट होता,
पर्याय आर्थिक सदा इस भाँति रोता ॥६९५॥

द्रव्यार्थि के नयनमें सब द्रव्य आते,
पर्याय अर्थिवश पर्यय मात्र भाते ।
"एक्सरे" हमें हृदय अंदर का दिखाती
तो 'कैमरा' शकल ऊपर की बताती ॥६९६॥

पर्याय गौण कर द्रव्यन को जनाता,
द्रव्यार्थिकी नय वही जग में कहाता ।
जो द्रव्य गौण कर पर्यय को जनाता,
पर्यायआर्थिक वही यह शास्त्रगाता ॥६९७॥

जो शास्त्र में कथित नैगम, संग्रहा. रे !
है व्यावहार, ऋजु सूत्र, सशब्द प्यारे ।
एवंभुता, समभिरूढ़ उन्हीं द्वयों के,
हैं भेद मूल नय सात, विवाद रोके ॥६९८॥

द्रव्यार्थिकी सुनय आदिम तीन प्यारे,
पर्याय आर्थिक रहें अवशेष सारे ।
हैं चार आदिम पदार्थ प्रधान जानो,
हैं शेष तीन नय शब्द प्रधान जानो ॥६९९॥

सामान्य ज्ञान इतरोभयरूप ज्ञान,
प्रख्यात नैक विध है अनुमान, मान ।
जाने इन्हें, सुनय नैगम है कहाता
मानो उसे "नयिक ज्ञान" अतः सुहाता ॥७००॥

जो भूत कार्य इस सांप्रत से जुडाना,
है भूत नैगम वही गुरु का बताना ।
वर्षों पूरा शिव गये युगवीर प्यारे,
मानें तथापि हम "आज उषा" पधारें ॥७०१॥

प्रारंभ कार्य भरको जन पूछने से,
"पूरा हुआ" कि कहना सहसा मजे से ।
औ वर्तमान नय नैगम नाम पाता,
ज्यों पाक के समय ही बस भात भाता ॥७०२॥

होगा, अभी नहि हुवा फिर भी बताना,
लो ! कार्य पूरण हुवा रट यों लगाना ।
भावी सुनैगम यही समझो सुजाना,
जैसा उगा रवि न किन्तु उगा बताना ॥७०३॥

कोई विरोध बिन आपस में प्रबुद्ध !
सत रूप से सकल को गहते "विशुद्ध" ।
नानात्मक भेद गहता उनमें "अशुद्ध",
यों है द्विधा सुनय संग्रह पूर्ण सिद्ध ॥७०४॥

संप्राप्त संग्रहतया द्विविधा पदार्थ-
जो है प्रभेद करता उसका यथार्थ ।
औ व्यावहार नय भी द्विविधा, स्ववेदी !
"शुद्धार्थ भेदक" अशुद्ध पदार्थ भेदी ॥७०५॥

जो द्रव्य में ध्रुव नहीं पल आयुवाली,
पर्याय हो वियत में बिजली निराली ।
जाने उसे कि ऋजु सूत्र सुसूक्ष्म भाता,
होता यथा क्षणिक शब्द सुनो सुहाता ॥७०६॥

देवादिपर्यय निजी स्थिति लौं सुहाना,
जो देवरूप उसको तबलौं जनाता ।
त मान स्थूल ऋजु सूत्र वही कहाता,
ऐसा यहाँ "श्रमण सूत्र" हमें बताता ॥७०७॥

जो द्रव्य कथन है करता, बुलाता,
आह्वान शब्द वह है जग में सुहाता ।
तत-शब्द-अर्थ-भर को नय जो गहाता,
औ हेतु सो "सुनय शब्द" अतः कहाता ॥७०८॥

एकार्थ के वचन मे वच लिंग भेद,
है देख शब्दनय ही करताऽर्थ भेद
पुलिंग में व तियलिंगन में सुचारा,
ज्यों पुष्य शब्द बनता "नखक्षत्र" "तारा" ॥७०९॥

जो शब्द व्याकरण सिद्ध, सदा उसी में,
होता तदर्थ अभिरूढ न औ किसी में ।
स्वीकारता बस उसे उस शब्द द्वारा,
है मात्र शब्द नयका वह काम सारा ।
ज्यों देव शब्द सुन आशय "देव" लेना
भाई तदर्थ गहना तज शेष देना ॥७१०॥

प्रत्येक शब्द अभिरूढ़ स्वअर्थ में हो,
प्रत्येक अर्थ अभिरूढ़ स्वशब्द में हो
है मानता समभिरूढ़ सदैव ऐसे,
ये शब्द "इन्दर" पुरन्दर" शक्र जैसे ॥७११॥

शब्दार्थ रूप अभिरूढ़ पदार्थ "भूत"
शब्दार्थ से स्खलित अर्थ अत: "अभूत" ।
एवं भुता सुनय है इस भाँति गाता,
शब्दार्थ ततपर विशेष अत: कहाता ॥७१२॥

जो जो क्रिया जन तनादितया करें ओ !
तत तत क्रिया गमक शब्द निरे निरे हो !
एवंभुता नय अत: उस शब्द का है,
सम्यक प्रयोग करता जब कामका है
जैसा सुसाधु रत साधन में सही हो
स्तोता वही कर रहा स्तुति स्तुत्यकी हो ॥७१३॥

४० स्याद्वाद सप्त भंगी सूत्र

हो "मान" का विषय या नय का भले ही,
दोनों परस्पर अपेक्ष लिए हुए हो ।
सापेक्ष है विषय ओ तब ही कहाता,
हो अन्यथा कि इससे निरपेक्ष भाता ॥७१४॥

एकान्त का नियति का करता निषेध
है सिद्ध शाश्वत निपाततया "अवेद"[१] ।
"स्यात" शब्द है वह जिनागम में कहाता,
सापेक्ष सिद्ध करता सबको सुहाता ॥७१५॥

---

१. अवेद - लिंगातीत स्यात शब्द अव्यय है

भाई प्रमाण-नय दुर्नय-भेद वाले,
हैं सप्त भंग बनते क्रमवार न्यारे
"स्यात्" की अपेक्ष रखते परमाण प्यारे !
शोभें नितान्त नय से नयभंग सारे
सापेक्ष दुर्नय नहीं, निरपेक्ष होते,
एकान्त पक्ष रखते दुख को सँजोते ॥७१६॥

12 -1

स्यादस्ति नास्ति उभयावक्तव्य चौथा,
भाई त्रिधा अवक्तव्य तथैव होता ।
यों सप्त भंग लसते परमाण के हैं,
ऐसा कहें जिनप आलय ज्ञान के हैं ॥७१७॥

क्षेत्रादिरूप इन स्वीय चतुष्टयों से,
अस्तिस्वरूप सब द्रव्य युगों युगों से ।
क्षेत्रादिरूप परकीय चतुष्टयों से,
नास्तिस्वरूप प्रतिपादित साधुओं से ॥७१८॥

जो स्वीय और परचतुष्टय से सुहाती,
स्यादस्ति नास्तिमय वस्तु वही कहाती ।
और एक साथ कहते द्वय धर्म को है,
तो वस्तु हो अवक्तव्य प्रमाण सो है ॥
यों स्वीय स्वीय नय संग पदार्थ जानो,
तो सिद्ध हो अवक्तव्य त्रिभंग मानो ॥७१९॥

एकैक भंग मय ही सब-द्रव्य भाते,
एकान्त से सतत यों रट जो लगाते ।
वे सात भंग तब दुर्नय-भंग होते,
स्यात् शब्द से सुनय से जब [illegible] होते ॥७२०॥

ज्यों वस्तु का पकड़ में इकधर्म आता,
तो अन्यधर्म उसका स्वयमेव भाता ।
वे क्योंकि वस्तुगत धर्म, अतः लगाओ
"स्यात" सप्तभंग सब में झगड़ा मिटाओ ॥७२१॥

४१ समन्वय सूत्र

जो ज्ञान यद्यपि परोक्षतया जनाता,
नैकान्तरूप सबको फिर भी बताता ।
है संशयादिक प्रदोष विहीन साता,
तू जान मान "श्रुत ज्ञान" वही कहाता ॥७२२॥

जो वस्तु के इक अपेक्षित धर्म द्वारा,
साधे सुकार्य जग के, नय ओ पुकारा ।
ओ भेद भी नय वही श्रुत ज्ञान का है,
माना गया तनुज भी अनुमान का है ॥७२३॥

होते अनन्त गुण धर्म पदार्थ में हैं,
पै एक ही हि चुनता नय ठीक से है ।
तत्काल क्योंकि रहती उसकी अपेक्षा,
हो शेष गौण गुण, ना उनकी उपेक्षा ॥७२४॥

सापेक्ष ही सुनय हो सुख को सँजोते,
माने गये कुनय हैं निरपेक्ष होते ।
संपन्न हो सुनय से व्यवहार सारे,
नौका समान भव पार मुझे उतारे ॥७२५॥

ये वस्तुतः वचन हैं जितने सुहाते,
हे भव्य जान नय भी उतने हि पाते ।
मिथ्या अतः नय हठी कुपथप्रकाशी,
सापेक्ष सत्य नय मोह-निशा-विनाशी, ॥७२६॥

एकान्तपूर्ण कुनयाश्रित पंथ का वे,
स्याद्वाद विज्ञ परिहार करें करावें ।
आ ख्याति लाभ वश जैन बना हठी हो,
ऐसा पराजित करो करो पुनि ना त्रुटी हो ॥७२७॥

सच्चे सभी नय निजी विषया स्थलों में,
झूठे परस्पर लड़े निशि वासरों में ।
"ये" सत्य" वे सब असत्य कभी अमानी,
ऐसा विभाजित उन्हें करते न ज्ञानी ॥७२८॥

ना वे मिले, यदि मिले तुम हो मिलाते,
सच्चे कभी कुनय पै बन हैं न पाते
ना वस्तु के गमक हैं उनमें न बोधि,
सर्वस्व नष्ट करते रिपु में विरोधी ॥७२९॥

सारे विरुद्ध नय भी बन जायें अच्छे,
स्याद्वाद की शरण ले कहलायें सच्चे
पाती प्रजा बल प्रजापति छत्र में ज्यों
दोषी विदोष बनते मुनि संघ में ज्यों ॥७३०॥

होते अनन्त गुण द्रव्यन में सयाने,
द्रव्यांशको अबुध पूरण द्रव्य माने
छू अंग अंग गज के प्रति अंगको ही,
ज्यों अंध वे गज कहें, अयि भव्य मोही ॥७३१॥

सर्वांगपूर्ण गज को दृग से जनाता,
तो सत्य ज्ञान गजका उसका कहाता
संपूर्ण द्रव्य लखना सब ही नयों से,
है सत्य ज्ञान उसका स्तुत साधुओं से ॥७३२॥

संसार में अमित द्रव्य अकथ्य भाते,
श्रीवीर देव कहते मित कथ्य पाते
जो कथ्य का कथित भाग अनन्तवाँ है,
जो शास्त्र रूप वह भी बिखरा हुवा है ॥१३३॥

निंदा तथापि नित जो पर के पदों की
शंसा अतीव करते अपने मतों की
पांडित्य, पूजन यथार्थ दिखा रहे हैं
संसार को सघन और बना रहे हैं ॥१३४॥

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ हैं
भाई अतः मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से, अनुज से, परसे, अरी से ॥१३५॥

हे भव्य जीव-मतिगम्य जिनेन्द्रवाणी,
पीयूष पूरित पुनीत-प्रशांति खानी
सापेक्ष पूर्ण नय आलय पूर्ण साता,
आस्मर्य जीवित रहे जयवन्त माता ॥१३६॥

४२ निक्षेप सूत्र

कोई प्रयोजन रहे तब युक्तिसाथ
औचित्य पूर्ण पथ में रखना पदार्थ
"निक्षेप" है समय में वह नाम पाता,
नामादि के वश चतुर्विध है कहाता ॥७३७॥

नाना स्वभाव अवधारक द्रव्य प्यारा,
जो ध्येय ज्ञेय बनता जिस भाव द्वारा ।
तद्भाव के वजह से इक द्रव्य के ही
ये चार भेद बनते सुन भव्य देही ! ॥७३८॥

ये "नाम" स्थापन" व "द्रव्य" स्वभाव" चारों,
निक्षेप हैं तुम इन्हें मन में सुधारो ।
है नाम मात्र बस द्रव्यन की सुसंज्ञा,
है नाम भी द्विविध ख्यात, कहे जिनज्ञा ॥७३९॥

आकार औ इतर "स्थापन" यों द्विधा है,
अर्हन्त बिम्ब कृत्रिमेतर आदिका है ।
आकार के बिन जिनेश्वर स्थापना को,
तू दूसरा समझ रे ! तज वासना को ॥७४०॥

जो द्रव्य को गत अनागत भाववाला,
स्वीकारता कर सुसांप्रत गौण सारा ।
निक्षेप "द्रव्य" वह आगम में कहाता,
विश्वास मात्र उसमें बस भव्य लाता

निक्षेप द्रव्य, द्विविधा वह है कहाता,
नोआगमतया सहसा सुहाता ।
ना शास्त्रलीन रहता, जिनशास्त्र ज्ञाता
ओ द्रव्य आगम जिनेश तदा कहाता

जो आगमता त्रिविध ''ज्ञायक देह'' भावी''
औ ''कर्म रूप'' जिन यों कहते स्वभावी ।
हैं, भव्य तू समझ ज्ञायक भी त्रिधा है
औ भूत सांप्रत भविष्यत या कहा है ॥
औ च्यक्त च्यावित तथा च्युत यों त्रिधा है
औ ''भूत ज्ञायक'' जिनागम में लिखा है ॥

शास्त्रज्ञ की जड़मयी उस देह को ही,
तद्रूप जो समझना अपि भव्य मोही
माना गया कि वह ''ज्ञायक देह'' भेद,
ऐसा जिनेश कहते जिनमें न खेद ॥
नीतिज्ञ के मृतक केवल देह को ले,
लो ''नीति'' ही मर चुकी जिस भाँति बोले

जो द्रव्य की कल दशा बन जाय कोई,
तद्रूप आज लखना उस द्रव्य को ही ।
श्री वीर के समय में बस ''भावि'' सोही
राजा यथा समझना युवराज को ही

कर्मानुसार अथवा जग मान्यता ले,
रे, वस्तुका ग्रहण जो करले कराले ।
हैं ''कर्म भेद'' वह निश्चित ही कहाता,
ऐसा ''वसन्त तिलका'' यह छन्द गाता ॥
देवायु कर्म जिसने बस बांध पाया,
ज्यों आज ही समझना यह ''देव राया''
या पूर्ण कुम्भ कल दर्पण आदि भाते,
लोकोपचारवश मंगल ये कहाते ॥७४१-७४२॥

है द्रव्य सांप्रतदशामय यों बताता,
निक्षेप ''भाव'' वह आगम में कहाता ।
ना आगमाऽऽगमतया वह भी द्विधा है
वाणी जिनेन्द्र कथिता कहती सुधा है

जो साधु आगति-अनागति कारणों को,
पीड़ा प्रमोद प्रद आस्रव-संवरों को।
औ जन्म को मरण को जिन के गुणों को,
त्रैलोक्य में स्थित अशाश्वत शाश्वतों को,

औ स्वर्ग को नरक को दुख निर्जरा को,
है जानते च्यवन को उपपादता को,
श्री मोक्ष पथ प्रतिपादन कार्य में हैं,
वे योग्य, वंदन त्रिकाल करूँ उन्हें मैं ॥७४५-७४८॥

वाणी सुभाषित सुधा, शुचि "वीर" की है
थी पूर्व प्राप्त न, अपूर्व अभी मिली है।
क्यों मृत्यु से फिर डरूँ, तज सर्वग्रंथी,
मैं हो गया जब प्रभो ! शिव-पंथ-पंथी ॥७४९॥

वीरस्तवन

सम्यक्त्व-बोध-व्रत पावन-शील न्यारे,
मेरे रहें शरण संयम शील सारे।
लूँ वीर की शरण औ मम प्राण प्यारे
नौका समान भव पार मुझे उतारें ॥७५०॥

निर्ग्रन्थ हैं अभय धीर अनन्त ज्ञानी,
आत्मस्थ हैं अमल हैं कर आयु हानि।
मूलोत्तरादिगुण धारक विश्वदर्शी,
विद्वान "वीर" जग में जग चित्त हर्षी ॥७५१॥

सर्वज्ञ हैं अनियताचरणावलम्बी,
पाया भवाम्बुनिधि का तट स्वावलम्बी।
हैं अग्नि से निशि नशा, स्वपर प्रकाशी,
हैं "वीर" धीर रवितेज अनंतदर्शी ॥७५२॥

ऐरावता वर गजों हरि ज्यों मृगों में,
गंगा नदी, गरुड़ श्रेष्ठ विहंगमों में ।
निर्वाणदि मनुजों, मुनि साधुओं में,
त्यों "ज्ञातृपुत्र" वर "वीर" मुमुक्षुओं में ॥७५३॥

ज्यों श्रेष्ठ सत्य वचनों वच कर्णप्रीय,
दानों रहा "अभय दान" समर्च्चनीय ।
है ब्रह्मचर्य तप उत्तम सत्तपों में,
त्यों "ज्ञातपुत्र" श्रमणेश धरातलों में ॥७५४॥

हैं जन्मते कब कहाँ जग जीव सारे,
जानो जगदगुरु ! तुम्हीं जगदीश ! प्यारे ।
धाता पितामह चराचर मोदकारी,
हो ! लोक बन्धु भगवन् ! जय हो तुम्हारी ॥७५५॥

संसार के गुरु रहें जयवन्त नामी !
तीर्थेश अंतिम रहें जयवन्त स्वामी !
विज्ञान स्रोत जयवन्त रहें महात्मा,
ये "वीरदेव" जयवन्त रहें महात्मा ॥७५६॥

दोहा

मेटे वादविवाद को निर्विवाद स्यादवाद,
सब वादों को खुश करें पुनि पुनि कर संवाद ॥

चतुर्थ खण्ड समाप्त

भूल क्षम्य हो

दोहा

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं मुझ में कुछ नहिं ज्ञान,
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़े धीमान ॥१॥

कुंदकुंद का कुंदन

मूल : समयसार (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

गुरु स्मृति-स्तुति

वसन्ततिलका छन्द

मैं आपको सदुपेदश सुधा न पीता,
जाती लिखी न मुझसे यह जैनगीता
दो ज्ञान सागर गुरो ! मुझको "सुविद्या"
"विद्यादिसागर" बनूँ तज दूँ अविद्या ।।२।।

मङ्गलकामना

दोहा

यही प्रार्थना "वीर से" अनुनय से कर जोर,
हरी भीर दिखती रहे धरती चारों ओर ।।३।।

मरहम पट्टी बाँध के वृण का कर उपचार,
ऐसा यदि ना बन सका, डंडा तो मत मार ।।४।।

फूल बिछाकर पन्थ में पर प्रति बन अनुकूल,
शूल बिछाकर भूल से मत बन तू प्रतिकूल ।।५।।

तजो रजोगुण, साम्यको सजो, भजो निज धर्म,
शम मिले भव दुख मिटे, आशु मिटे वसु कर्म ।।६।।

स्थान एवं समय-परिचय

श्रीधर केवलि शिवगये-कुण्डगिरि से हर्ष,
धारा वर्षा योग उन-चरणन में इस वर्ष ।।७।।

"बड़े बाबा" बड़ी कृपा, की मुझपे आदीश !
पूर्ण हुई मम कामना पाकर जिन-आशीष ।।८।।

संग गगनगतिगंध की भाद्रपदी सिततीज
पूर्ण हुवा यह ग्रन्थ हैं भुक्ति मुक्ति का बीज ।।९।।

मंगलाचरण

देव-शास्त्र-गुरु-स्तवन

- "सन्मति" को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे, गति पञ्चम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी, से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढ़ाय।
यह मुनि-मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय ? ॥३॥

श्री कुन्द-कुन्दाय नमः

"कुन्द-कुन्द" को नित नमूँ, हृद्य-कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री जयसेनाचार्याय नमः

स्वीकृत हो मम नमन ये, जय जय जय "जयसेन"।
जैन बना अब जिन बनूँ, मन रटता दिन रैन ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

समयसार का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

कुन्दकुन्द का कुन्दन

मैं वन्दना कर उन्हें, शिवको पधारें,
जो सिद्ध है अतुल अव्यय सौख्य धारें ।
भाई ! वही समयसार सुनो सुनाता,
जो भद्रबाहु श्रुत-केवलि ने कहा था ॥१॥

जो शुद्धबोधव्रत दर्शन में समाता,
होता निजी समय जीव वही सुहाता ।
रागादि का रसिक वो निजको भुलाया,
माना गया समय में समया पराया ॥२॥

प्यारा यही समय है निजधर्म कर्ता,
एकत्व शाश्वत शुभाशुभ कर्म हर्ता ।
पै बन्धकी वह कथा दुखकारिणी है,
अच्छी लगे न मुझको भव-वर्धिणी है ॥३॥

है काम भोग विधिबन्धन की कथायें,
भोगी सुनी बहुत की पर ये व्यथायें ।
एकत्व की निज कथा सुखदा अकेली,
अत्यन्त दुर्लभ, करूँ उस-संग केली ॥४॥

स्वात्मानुभूति बल से तुमको दिखाता,
एकत्वरूप शुचि आतम जो सुहाता ।
भाई ! दिखा यदि सका उरमें सुधारो,
हो काश ! भूल इसमें छल हा ! न धारो ॥५॥

ना अप्रमत्त मम आतम ना प्रमत्त,
है शुद्ध, शुद्धनय से मद-मान-मुक्त ।
ज्ञाता वही, सकल ज्ञायक यों बताते,
वे साधु शुद्धनय आश्रय ले सुहाते ॥६॥

विज्ञान औ चरित दर्शन विज्ञ के हैं,
जाते कहे सकल ये व्यवहार से हैं ।
ज्ञानी परन्तु यह ज्ञायक शुद्ध प्यारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥७॥

बोलो न आंग्ल नर से यदि आंग्ल भाषा,
कैसे उसे सदुपदेश मिले प्रकाशा ?
सत्यार्थ को न व्यवहार बिना बताया,
जाता सुबोध शिशु में गुरु से जगाया ॥८॥

सिद्धान्त के मनन से जिसने निहारा,
शुद्धात्म को सहज से, तज राग सारा ।
है पूर्ण भावश्रुत केवलि वो निहाला,
ऐसे कहें ऋषि, करें जग में उजाला ॥९॥

जाना समस्त श्रुत को श्रुत-केवली हैं,
ऐसे महेश कहते जिन केवली हैं ।
औचित्य ज्ञानमय आतम है सदी से,
है वन्द्य द्रव्य श्रुत केवलि वो इसी से ॥१०॥

भूतार्थ शुद्धनय है निजको दिखाता,
भूतार्थ है न व्यवहार हमें भुलाता ।
भूतार्थ की शरण लेकर जीव होता,
सम्यक्त्व मंडित, वही मन मैल धोता ॥११॥

सौभाग्य ! बोध दृग की सदुपासना हो,
चारित्र की बस निरन्तर साधना हो ।
तीनों अभिन्न गुण आतम के इसी से,
हो जा विलीन निज-आतम में रुचि से ॥१२॥

शुद्धात्म की विमल निर्मल भावना को,
भाते सहर्ष ऋषि वे तज वासना को ।
पाते विमुक्ति भव से अघ को मिटाके,
सद्यः निवास करते शिव-धाम जाके ॥१३॥

शुद्धात्म में निरत हो जब सन्त त्यागी,
जीवे विशुद्ध नय आश्रय ले विरागी ।
शुद्धात्म से च्युत सराग चरित्र वाले,
भूले न 'लक्ष्य' व्यवहार अभी संभाले ॥१४॥

ये पुण्य पाप अरु जीव अजीव आदि,
होते पदार्थ नव मानत साम्यवादी ।
भूतार्थ से विदित हो जब ये पदार्थ,
सम्यक्त्व के विषय हैं 'दृग' हैं यथार्थ ॥१५॥

आत्मा अबद्ध नित शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधि-बंधनों से ।
ऐसा मुनीश्वर निजातम को निहारें,
वे ही 'विशुद्धनय' हैं जिन यों पुकारें ॥१६॥

आत्मा अबद्ध स्थिर शून्य उपाधियों से,
अत्यन्त भिन्न पर से विधिबन्धनों से ।
ऐसा निजात्म लखते मुनि अक्ष जेता,
सूत्रार्थ का कथक आगम-पूर्णवेत्ता ॥१७॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्यख्यानगुण में लसता गुरो मैं ।
शद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१८॥

साधू चरित्र, दृग-बोध-समेत पाले,
आत्मा उन्हें समझ आतम गीत गा ले ।
ज्ञानी नितान्त निजमें निजको निहारे,
तो अन्त में गुण अनन्त अवश्य धारे ॥१९॥

ज्यों निर्धनी धनिक की कर खोज पाता,
आस्था धनार्थ उसमें फिर है जमाता ।
ले मात्र एक धुन वो धन की सदैवा,
पश्चात सहर्ष उसकी करता सुसेवा ॥२०॥

भाई ! इसी तरह आत्म गवेषणा हो,
श्रद्धा समेत उसको फिर देखना हो ।
चारित्र भी तदनुसार सुधारना हो,
ध्यातव्य ! मात्र मन में शिव कामना हो ॥२१॥

हूँ कर्म देह मय ये मुझसे न न्यारे,
किंवा शरीर मम है वसु कर्म सारे ।
भाई सदैव रटता जड़ मूढ़ ऐसा,
दीखे उसे परम आतम गूढ़ कैसा ? ॥२२॥

साम्याभिभूत बन आतमलीन होना,
पा मोक्ष ईश बनना, बनना सलोना ।
स्वच्छन्द हो विषय में मन को लगाना,
है कर्मबन्ध गहना-प्रभु का बताना ॥२३॥

आत्मा अशुद्धनय से हि विभाव कर्ता,
होता विशुद्ध नय से शुचि भाव कर्ता ।
मोहाभिभूत विविधों विधि बन्धनों का,
कर्ता अवश्य व्यवहारतया जड़ों का ॥२४॥

जो भी सचेतन अचेतन द्रव्य सारा,
संसार में लसरहा निज भाव द्वारा ।
मैं हूँ रहा यह रहा यह ही यहाँ मैं,
मेरा रहा यह रहा इसका अहा मैं ॥२५॥

मैं भी रहा विगत में इसका यथा था,
मेरा रहा नियम से यह भी तथा था ।
मैं भी नितान्त इसका यह भी बनेगा,
मेरा भविष्य भर में क्रम यों चलेगा ॥२६॥

ऐसा सदैव पर को निज मान लेता,
होता तभी दुखित हो वह मूढ़ नेता ।
पे मूढ़ता न करते मन-अक्षजेता,
वे धन्य-धन्य मुनि हैं निज तत्व-वेत्ता (त्रिकलम्) ॥२७॥

कर्मों जड़ात्मक तनों वचनों कुलों को,
रागादिकों सुतसुतादिजनों धनों को ।
अज्ञान से भ्रमित हो 'अपने' बताता,
संसार को अबुध और अरे ! बढ़ाता ॥२८॥

हे मित्र ! जीव उपयोगीमयी रहा है
सर्वज्ञ का सदुपदेश यही रहा है ।
तूही बता जड़ बना वह जीव कैसा ?
मेरा जिसे कह रहा बन अन्ध जैसा ॥२९॥

हो जाय जीव यदि पुद्गल द्रव्य भाई,
हो जाय पुद्गल सचेतन जीव स्थाई ।
निशंक हो कह सको जड़ है हमारा,
ऐसा परन्तु कब हो! प्रभु ने पुकारा (त्रिकलम्) ॥३०॥

मानो कि जीव यदि देहमयी नहीं है,
तो देव की सुगुरु की स्तुति ना सही है ।
भाई अत: समझलो तन आतमा है,
ऐसा सदैव कहता बहिरातमा है ॥३१॥

है 'भिन्न' निश्चय-तया तन जीव मानो,
है एकमेक व्यवहारतया सुजानो ।
हो दृष्टि में यदि विराग अमूर्त-मा की,
होती शरीर स्तुति से स्तुति आत्मा की ॥३२॥

जीवात्म से पृथक् भूत शरीर को ही,
वे वंदनादि करके मुनि वीत-मोही ।
हैं मानते नमित वंदित केवली हैं,
बाह्योपचारवश ही हम से बली हैं ॥३३॥

होती शरीर स्तुति केवलिकी नहीं है ?
औचित्य देह गुण केवलि में नहीं है ।
वीर्यादि अव्यय अनन्त अपूर्वधी की,
जो भी करे स्तुति वही स्तुति केवली की ॥३४॥

होता नहीं नगर वर्णन से कदापि,
भूपालका स्तवन जो बुध है प्रतापी ।
तो देह का विषद् वर्णन तू करेगा,
कैसा भला स्तवन केवलि का बनेगा ? ॥३५॥

पूरा किया दमन इन्द्रिय काय का है,
देखा चखा स्वयं का रस बोध का है ।
होता वही मुनि सही निज अक्षजेता,
ऐसा कहें जिन निजामृत के समेता ॥३६॥

संमोह को शमित भी जिनने किया है,
आधार ज्ञान गुणका मुनि हो लिया है ।
वे वीतराग जित मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥३७॥

जीता विमोह मुनिने, जिससे अभागा,
कोई पता नहिं कहाँ कब मोह भागा
वो ही नितान्त मुनिपुंगव क्षीण-मोही,
ऐसा जिनेश कहते तज मोह मोही ॥३८॥

मिथ्यात्व रागमय भाव विभाव सारे,
यों जान, ज्ञान इनको जड़से निकारे ।
हो प्रत्यख्यान फलत: निज 'ज्ञान' प्यारा,
मेरा उसे नमन हो शतकोटि बारा ॥३९॥

मेरी न वस्तु यह है जब जान लेता,
जैसा कि सज्जन उसे झट त्याग देता ।
रागादि भाव पर है पर से न नाता,
ऐसा पिछान मुनि भी उनको हटाता ॥४०॥

मेरा न मोह परसे उपयोग मेरा,
ऐसा सदा समझता बस मैं अकेला ।
साधू उसे परम निर्मम हैं बताते,
शास्त्रानुसार निज जीवन हैं बिताते ॥४१॥

धर्मादि द्रव्य मम ना उपयोग मेरा,
जो जानता स्वयम को नित मैं अकेला ।
वो धर्म आदि सब ज्ञेयन-का सुत्यागी,
ऐसा कहें समयविज्ञ सुधी विरागी ॥४२॥

हूँ शुद्ध पूर्ण दृग बोधमयी सुधा से,
मैं एक हूँ पृथक हूँ सबसे सदा से ।
मेरा न और कुछ है नित मैं अरूपी,
मेरा नहीं जड़मयी यह देह रूपी ॥४३॥

जीवाजीवाधिकार

सम्मोह से भ्रमित हैं जड़ मूर्ख नामी,
कर्त्तव्य मूढ़ कुछ है कुमतानुगामी ।
वे राग रोषमय भाव विभाव को ही,
स्वीकार 'जीव' तजते निज भाव को ही ॥४४॥

लो तीव्र मंद अनुभाव निबंधनों को,
है 'जीवरूप', कहते कुछ हैं तनों को ।
संमोह का यह विपाक यथार्थ में है,
जो हो रहा भ्रम निजीय पदार्थ में है ॥४५॥

कोई कहे कि उदयागत कर्म को ही,
विज्ञान धारक सचेतन जीव सो ही ।
तो तीव्र मंद विधि के फल को 'निजात्मा'
है अन्य लोक कहते बनते दुरात्मा ॥४६॥

रे ! आठ काठ मिल खाट बनी यथा है,
पा कर्म योग यह जीव बना तथा है ।
या कर्म और उदयागत कर्म दो वे,
है जीव, मूढ़ इस भाँति सदैव रोवे ॥४७॥

मंदातिमंद मति-बाल, अनात्म को ही,
माने निजात्म सदा तज तत्त्व बोधि ।
ये सर्व मात्र भवकानन पंथ पंथी,
ऐसा कहे मुनि सुधी, तज ग्रंथ ग्रंथी (पंचकम्) ॥४८॥

ये पूर्व के कथित भाव विभाव सारे,
है मूर्त से उदित है जड़ के पिटारे ।
आश्चर्य 'जीव' फिर रे बन जायें कैसे ?
है केवली वचन ये गज-मोति जैसे ॥४९॥

सर्वज्ञ ये कह रहे जिन चित्स्वरूपी,
है कर्म अष्टविध पुद्गलरूप रूपी ।
आता यदा उदय में बस कर्म बैरी,
दे दुःख मात्र फल हो, भव बीच फेरी ॥५०॥

जो राग रोषमय भाव तुझे दिखाते,
वे "जीव" मात्र व्यवहारतया कहाते ।
ऐसा सदा कह रही यह जैनवाणी,
पी, ले तृषा झट बुझा, अति शीत पानी ॥५१॥

है जा रही रभस से चतुरंग सेना,
भूपाल है चल रहा पर मान लेना ।
ऐसा सहर्ष व्यवहार स्वगीत गाता,
राजा यथार्थ वह यद्यपि एक जाता ॥५२॥

संयोग जन्य रति राग विभाव भावों,
को जीव मान चलती व्यवहारता वो ।
पूछो यथार्थ जिन आगम से, अकेला,
है जीव, बाह्य सब खेल झमेल मेला ॥५३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
आकार से रहित है सुखका पिटारा ॥५४॥

लो जीव के सरस गंध नहीं हैं,
ये स्पर्श वर्ण गुण रूप सभी नहीं हैं ।
संस्थान संहनन सुन्दर है न काया,
आलोक धाम जिसमें तम है न छाया ॥५५॥

ये जीव के न रति राग यथार्थ में हैं,
ना मोह विभ्रम विभाव पदार्थ में हैं ।
नो-कर्म, कर्म अघ प्रत्यय भी नहीं हैं,
वंदूँ इसे बस यही शिव की मही है ॥५६॥

है जीव की न विधि वर्ग न वर्गणाएँ,
ना तीव्र मंद विधि स्पर्धक की कलायें ।
अध्यात्म और अनुभाग न थान हीन,
वन्दूँ उसे रह सकूँ निज में विलीन ॥५७॥

ये योग थान नहिं आतम में दिखाते,
औ बन्ध-थान तक थान जहाँ न पाते ।
होते नहीं उदयथान न मार्गणायें,
शुद्धात्म को हम अतः शिर तो नवायें ॥५८॥

संक्लेश-थान स्थिति बन्धन थान दो, वे,
ना जीव के नहि सुसंयम लब्धि होवे ।
ये शुद्धि थान तक आतम के नहीं हैं,
मैं भी इसे विनत हूँ नत वे गणी हैं ॥५९॥

ये जीवथान गुणथान, न जीव के हैं
ये चूँकि सर्व जड़रूप अजीव के हैं ।
चैतन्य धाम, जड़ से अति भिन्न न्यारा,
आराध्य जीव वह है मम है सहारा (षट्कम्) ॥६०॥

वर्णादि भाव इस आतम में लसे हैं,
माने गये सकल वे व्यवहार से हैं ।
आत्मा अमूर्त अजरामर निर्विकारा,
ऐसा नितान्त नय निश्चय ने निहारा ॥६१॥

वर्णादि संग रहता फिर भी निराला,
आत्मा सुशोभित रहा उपयोग वाला ।
लो क्षीर में वह भले मिल जाय नीर,
पै नीर नीर रहता बस क्षीर, क्षीर ॥६२॥

कोई लुटा पथिक को लख के बिचारा,
मोही कहे पथ लुटा व्यवहार धारा ।
पै वस्तुतः पथ कभी लुटता नहीं है,
देखा गया पथिक ही लुटता सही है ॥६३॥

देहादि का सुभग वर्ण, निहार, मानो,
लो 'जीव' सुन्दर सुदृश्य सुधा सुजानो ।
ऐसा पुनीत जिन शासन शस्य बोले,
भाई अवश्य व्यवहार रहस्य खोले ॥६४॥

संस्थान आदिक शरीर विकार सारे,
ये स्पर्श रूप रस गंध गुणादि न्यारे ।
है जीव के पर सुनो व्यवहार से हैं ?
ऐसे कहे मुनि निजातम में बसे हैं (त्रिकलम्) ॥६५॥

औपाधिकी परिणती बदबू निराली,
संसारिजीव भर में दुख शील वाली ।
संसार मुक्त शुचि आतम में अकेली,
सच्चेतना महकती सुखदा चमेली ॥६६॥

वर्णादि निश्चयतया यदि जीव में हो,
कैसे प्रभेद फिर जीव अजीव में हो ।
थोड़ा विचार कर तू तज भोग भाई,
भिन्नाति भिन्न जड़ जीव पड़े दिखाई ॥६७॥

संसार में स्थिति भले इस जीव की है,
संयोग जन्य वह चूंकि अजीव की है ।
तादात्म्य जीव जड़ में यदि मानते हो,
तो जीव मूर्त बनता नहिं जानते हो ? ॥६८॥

हो जाय मूर्त जड़ जीव, अजीव होंगे,
सिद्धत्व प्राप्त सब सिद्ध न जीव होंगे ।
साम्राज्य मात्र जड़का जग में बनेगा,
संसार दुःख फिर क्या शिव क्या रहेगा ? (युगलं) ॥६९॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरादि,
ये नाम कर्म प्रकृति विकलेंद्रियादि ।
संसारि-जीव बंधता इनसे यदा है,
पूर्वोक्त नाम मिलते उसको तदा हैं ॥७०॥

रूपाभिभूत जड़ पुद्‌गल कर्म द्वारा,
ये जीव थान सब निर्मित हैं सुचारा ।
मानो उन्हें फिर सचेतन जीव कैसा ?
जो है असंभव, सुसंभव होय कैसा ? (युग्मम्) ॥७१॥

पर्याप्त सूक्ष्म त्रस थावर बादरा ये,
हैं वस्तुतः जड़मयी तनकी दशायें ।
संसारिजीव इनमें तन पा बसे हैं ।
ये जीव है इसलिए उपचार से हैं ॥७२॥

हो मोह उदय में गुण थान सारे,
माने गये परम आतम से निराले ।
जो हैं अचेतन निकेतन मूर्त भाई,
तो जीव होय किस भाँति अमूर्त थाई ॥७३॥

कर्तृकर्माधिकार

क्रोधादि आस्रव निरे मुझसे सदा से,
मैं हूँ अभिन्न निज-बोधमयी सुधा से ।
ऐसा न मूढ़ जब लौं, वह जान पाता,
क्रोधाग्नि से स्वयम को तबलौं जलाता ॥७४॥

क्रोधाग्नि से यह कुधी जबलौं जलेगा,
तो कर्म का चयन भी तबलौं करेगा ।
है जीव की यह रही विधिबन्ध गाथा,
सर्वज्ञ का मत यही यह छंद गाता (युग्मं) ॥७५॥

रागात्म में निहित अन्तर जान पाता,
ज्ञानी वही मुनि जिनागम में कहाता ।
पाता न आस्रव नहीं विधिबन्ध नाता,
होता सामाधिरत है परको भुलाता ॥७६॥

दुःखों अनात्म-मय-कार्मिक-आस्रवों को,
एकान्त से अशुचियों दुखकारणों को ।
अत्यंत हेय लखके तजता विरागी,
ज्ञानी वही मुनि अतः तज राग रागी ॥७७॥

मैं एक शुद्ध नय से दृग बोध स्वामी,
हूँ शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अबद्धनामी ।
नीराग भाव करता निज लीन होऊँ,
शुद्धोपयोग बलसे विधि पंक धोऊँ ॥७८॥

क्रोधादि कर्म मम आतम में बंधे हैं,
ना है शरण्य ध्रुव वे मुझसे जुदे हैं ।
है दु:ख, दु:ख फलदायक जान ऐसा,
हैं छोड़ते मुनि इन्हें धर नग्न-भेषा ॥७९॥

आत्मा अशुद्धनय से परभाव कर्ता,
होता विशुद्ध नय से निजभाव कर्ता ।
धर्मानुराग तक को 'पर मान' ज्ञानी,
विश्रांत हो स्वयम में बनते न मानी ॥८०॥

नोकर्म रूप जड़ पुद्गलकाय का भी,
मोहादिकर्म रतिराग विभाव का भी ।
कर्ता न आतम रहा, इस भाँति ज्ञानी,
हैं जानते हृदय से सुन सन्त वाणी ॥८१॥

जो भी अनेक विध हैं विधि आतमा में,
ज्ञानी उन्हें निरखते रत हो क्षमा में ।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न पर को परमें न जाते ॥८२॥

निष्पाप आप अपने अपने गुणों को,
ज्ञानी सदैव लखते तज दुर्गुणों को ।
आधार ले न परका परमें न जाते,
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते ॥८३॥

ज्ञानी नितान्त सुख के दुख के दलोंको,
हैं जानते जड़मयी विधि के फलों को ।
वे साधु किन्तु न कभी पर रूप पाते,
स्वीकारते न परको पर में न जाते ॥८४॥

विज्ञान-हीन जड़ पुद्गल भी सदा से,
होता सुशोभित नितान्त निजी दशा से ।
पै छोड़के न जड़ता पर रूप पाता,
स्वीकारता न परको परमें न जाता ॥८५॥

हो जीवमें विकृत रागमयी दशायें,
तो कर्मरूप ढलती विधिवर्गणायें ।
मोहादि का उदय पाकर जीव होता,
रागादिमान फलतः निज होश खोता ॥८६॥

कर्ता न जीव यह हो विधि के गुणों का,
कर्ता कभी न विधि चेतन के गुणों का ।
तो भी परस्पर निमित्त नहीं बनेंगे,
तो 'राग भाव' 'विधिभाव' न जन्म लेंगे ॥८७॥

भाई अतः समझ लो मनमें सुचारु,
कर्ता निजात्म, निजका निज भाव द्वारा ।
रूपादिमान जड़ पुद्गल कर्म सारे,
आत्मा उन्हें न करता जिन ये पुकारे (त्रिकलम्) ॥८८॥

आत्मा सुनिश्चित स्वभाव विभाव कर्त्ता,
भोक्ता स्वयं स्वयमका निज शक्ति भर्त्ता ।
जैसा सुशान्त सर हो सर ही हिलोरा,
लेता, उठी लहर हो, जब वायु जोरा ॥८९॥

कर्त्ता तथापि व्यवहारतया जड़ों का,
भोक्ता सचेतन रहा विधि के फलों का ।
ऐसा न हो फिर हमें सुख क्यों न होता ?
संसार क्यों फिर भला दिन रैन रोता ॥९०॥

आत्मा उसी तरह पुद्गल कर्म को भी,
ज्यों वेदता व करता निज धर्म को भी ।
ऐसा कहो यदि अरे ! पुरुषार्थ जाता,
संसार का सृजक ईश्वर-वाद आता ॥९१॥

आत्मा, स्वभाव-पर पुद्गल भाव को ही,
हो एकमेक करता इक साथ सो ही ।
ऐसा सदैव कहता लघु-धी विकारी,
मिथ्यात्व मंडित मुधा, द्विक्रियावधारी ॥९२॥

मिथ्यात्व मानमद मोह प्रलोभ द्वारा,
अज्ञान औ अविरती रतिराग सारा ।
ये हैं द्विधा जड़ सचेतन भेद द्वारा,
संसार मार्ग चलता इनसे असारा ॥९३॥

ज्यों मोह के उदय में यह शीघ्र आत्मा,
रागादिभाव करता बनता दुरात्मा ।
त्यों मोहका उदय पा निजको भुलाता,
आनन्दस्वीय तजता सुख दुःख पाता ॥९४॥

मिथ्यात्व से बन रही भव बीच फेरी,
अज्ञान औ अविरती त्रय योग वैरी ।
चारों अजीव जड़ पुद्गल-शील-वाले
औ चार जीवमय हैं, उपयोग वाले ॥९५॥

मोहाभिभूत उपयोग सुधार धरे अनादि,
निम्नोक्त तीन परिणाम करें प्रमादी ।
अज्ञान औ अविरती अरु दृष्टि मिथ्या,
पाया अत: न अबलौं सुख सत्य नित्या ॥९६॥

लो वस्तुत: शुचि निरंजन आतमा है,
तो भी रहा त्रिविध मोहतया भ्रमा है ।
जैसा विभाव करता उपयोग भाता,
कर्त्ता उसी समय है उसका कहाता ॥९७॥

रागादिभाव कर जीव जभी सुहाता,
तत्काल पुद्गल स्वयं विधि रूप पाता ।
आकाश में रवि लसे फिर होय वर्षा,
क्यों ना बने सुरधनु सहसा सहर्षा ? ॥९८॥

है अन्य रूप करता निजको विमोही,
औ आत्मरूप करता जड़ अन्य को ही ।
हा ! मूढ़ जीव विधि बन्धन को जुटाता,
धिक्कार कातप निरंतर पीर पाता ॥९९॥

जो अन्य को निजमयी करता नहीं है,
औ आपको परमयी करता नहीं है ।
ज्ञानी वही मुनिवशी सुख बीज बोता,
ना कर्म बन्ध करता निज लीन होता ॥१००॥

मिथ्यादिरूप ढलता उपयोग गाता,
मैं क्रोध हूँ सतत यों रट है लगाता ।
कर्त्ता अत: वह निजी उस भावका है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भावका है ॥१०१॥

मिथ्यादि रूप ढलता उपयोग गाता ।
धर्मादि द्रव्यमय हूँ निज को भुलाता ।
कर्त्ता अतः वह निजी उस भाव का है,
ज्ञाता नहीं विमल निर्मल भाव का है ॥१०२॥

अज्ञान से भ्रमित हो पर को निजात्मा,
शुद्धात्म को परमयी करता दुरात्मा ।
घोरान्धकार चहुँ ओर घनी निशा में,
औचित्य ! पैर पड़ते उल्टी दिशा में ॥१०३॥

आत्मा सुनिश्चित निजीय विभाव कर्त्ता,
आत्मज्ञ हैं कह रहे पर भाव हर्त्ता ।
ऐसा रहस्य सुन के मुनि अप्रमादी,
कर्तृत्त्व भाव तजते, भजते समाधि ॥१०४॥

कर्त्ता कुम्हार घटका व्यवहार से है,
वो क्योंकि निश्चित सहायक बाह्य से है ।
होता उसी तरह जीव निमित्त कर्त्ता,
नोकर्म कर्म मनका, निज शक्ति-भर्त्ता ॥१०५॥

मानो कुम्हार घट निश्चय से बनाता,
क्यों कुम्भ रूप ढल तन्मय हो न पाता ।
कर्त्ता स्वकार्य घटकी मृतिका अतः है,
कर्त्ता निजातम रहा निजका स्वतः है ॥१०६॥

कर्त्ता नहीं जड़ अचेतन वस्तुओं का,
आत्मा निमित्त तक भी न घटादिकों का ।
योगोपयोग जिनमें कि निमित्त होते,
योगादिको कर कुधी जड़ सत्य खोते ॥१०७॥

निस्सारभूत जड़ पुद्गल भाव धारे,
ये ज्ञान-आवरण आदिक-कर्म सारे ।
आत्मा इन्हें न करता इस भाँति योगी,
ज्ञानी सदा समझते, तज भोग भोगी ॥१०८॥

आत्मा शुभाशुभ विभाव जभी करेगा,
कर्ता तभी नियम से उसका बनेगा ।
यों बार बार कर कर्म कुधी सरागी,
है भोगता दुख कभी सुख, दोष भागी ॥१०९॥

जो द्रव्य आप अपने-अपने गुणों में,
होता न संक्रमित है पर के गुणों में ।
वो अन्य को परिणमा सकता हि कैसे ?
अन्धा भला पथ दिखा सकता हि कैसे ? ॥११०॥

तादात्म्य धार निज द्रव्य निजीगुणों से,
आत्मा उन्हें कर रहा कि, युगों युगों से ।
पाया सुयोग विधि पुद्गल का तथापि,
स्वामी न आतम बना, विधि का कदापि ॥१११॥

अज्ञानिका विकृत भाव निमित्त होता,
तो आप पुद्गल अहो ! विधिरूप होता ।
जीवात्म ने विविध कर्म किये इसी से,
माना अवश्य उपचार किया खुशी से ॥११२॥

ज्यों युद्ध यद्यपि सुसैनिकने किया है,
लोकोपचार वह भूपति ने किया है ।
दुष्टाष्ट कर्म दलको जड़ने बनाया,
पै मानना विकृत आतमने बनाया ॥११३॥

राजा, गुणी अवगुणी करता प्रजा को,
वो पूर्ण सत्य व्यवहार, नहीं मजा-को ।
आत्मा करे विधिमयी जड़द्रव्य को है,
ऐसा न मान्य व्यवहार, अभव्य को है ॥११४॥

स्वीकारता परिणमा करता कराता,
आत्मा सबंध पर पुदगल को उगाता ।
ऐसा नितान्त व्यवहार सुबोलता है,
जो भव्य के सहज लोचन खोलता है ॥११५॥

सामान्य से चउविधा विधिबन्ध कर्त्ता,
निम्नोक्त है दुखद है शुचि-भाव-हर्त्ता ।
मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ज्यों ये मिटे नियम से भवका वियोग ॥११६॥

मिथ्यात्त्व लेकर सुयोगि सुकेवली लौं,
ये हैं विभेद उनके दस तीन भी लो
ये दीन जीव गुणथानन, में पड़े हैं,
स्वाधीन सिद्ध सब वे इनसे परे हैं ॥११७॥

मिथ्यात्त्व आदि गुण पुद्गल से बने हैं,
सारे अचेतन निकेतन ही तने हैं ।
ये कर्म को कर रहे यदि हों तथापि,
आत्मा न भोग सकता उनको कदापि ॥११८॥

निर्भ्रान्त ! प्रत्यय सभी गुण-नाम वाले,
दुष्टाष्ट कर्म करते मनको विदारे ।
ज्ञाता विशुद्ध नयसे,, निजधर्म धर्ता,
कर्तानआतमरहागुण, कर्म-कर्ता (चुतष्क) ॥११९॥

है जीव से समुपयोग अभिन्न जैसा,
है क्रोध भी यदि त्रिकाल अभिन्न वैसा ।
तो एक-मेक सब जीव अजीव होंगे,
ये बंध मोक्ष फिर तो सब साफ होंगे ॥१२०॥

हो क्रोध आत्ममय ज्यों उपयोग भाता,
आत्मा अनात्मं जड़ में ढल पूर्ण जाता ।
नोकर्म कर्म तक प्रत्यय आदि सारा,
आत्मीय हो फिर नहीं भव का किनारा ॥१२१॥

पूर्वोक्त दोष भय से यदि भिन्न मानो,
है क्रोध भिन्न निज आतम भिन्न मानो ।
बाधा रही न फिर तो अति भिन्न न्यारे,
शुद्धात्मसेजड़मयीविधिकायसारे(त्रिकलम्) ॥१२२॥

जो जीव में जड़ बँधा न स्वयं बँधा है,
वो कर्म रूप ढलता न स्वयं सदा है ।
ऐसा त्वदीय मनका यदि भाव होगा,
तो मित्र पुद्गल नहीं परिणामि होगा ॥१२३॥

किंवा स्वयं न ढलती विधि वर्गणायें,
कर्मत्व में सहज पुद्गल की घटायें ।
साम्राज्य सांख्य मतका फिर तो चलेगा,
संसार का फिर पता रह ना सकेगा ॥१२४॥

आत्मा स्वयं परिणमाकर पुद्गलों को,
देता बना विधि, मनो ! विधि शक्तियों को ।
आश्चर्य है ! जड़ नहीं परिणामि वैसे !!
आत्मा उन्हें परिणमा सकता हि कैसे ? ॥१२५॥

है कर्म-रूप ढलता जड़ द्रव्य आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
आत्मा स्वयं विधिमयी जड़को बनाता,
यों मानना फिर असत्य न सत्य भाता ॥१२६॥

निष्कर्ष चूँकि निकला विधि वर्गणायें,
हैं कर्म रूप ढलती जड़ शक्तियाँ ये ।
है अष्टकर्म सब पुद्‌गल शील वाले,
विश्वास ईदृश अत: मन में जमाले ॥१२७॥

आत्मा स्वयं यदि नहीं विधि से बँधा है,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं सदा है ।
तू मानता इस विधि कर बोध आत्मा,
तो क्यों न हो अपरिणामि त्वदीय आत्मा ॥१२८॥

किंवा मनो अपरिणामि त्वदीय आत्मा,
क्रोधाभिभूत यदि हो न स्वयं दुरात्मा ।
संसार का फिर पता चल ना सकेगा,
साम्राज्य सांख्य मतका सहसा चलेगा ॥१२९॥

मानो कि क्रोध खुद, पुद्‌गल जो सुहाता,
क्रोधाभिभूत यदि आतम को बनाता ।
आत्मा रहा अपरिणामि तथापि कैसा ?
क्रोधी उसे कि, वह क्रोध बनाय कैसा ? ॥१३०॥

क्रोधाभिभूत बनता बस आत्म आप,
हो मानते यदि यहाँ इस भाँति आप ।
तो क्रोध, क्रोधमय-आतम को बनाता ।
यों मानना फिर असत्य न सत्य गाथा ॥१३१॥

आत्मा करे जब प्रलोभ तभी प्रलोभी,
मानी तभी जब करे अघ मानको भी ।
मायाभिभृत बनता कर निंद्य माया,
क्रोधी बने करत क्रोध स्वको भुलाया ॥१३२॥

हो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
जो लीन आत्मरति में बनके अनंगा ।
साधु निसंग वह निश्चय से कहाता,
ऐसा कहे सब पदार्थ यथार्थ ज्ञाता ॥१३३॥

सम्मोह को शमित भी जिनने किया है ?
आधार ज्ञान-गुणका मुनि हो लिया है ।
वे वीतराग निज मोह सुधी कहाते,
विज्ञान के रसिक यों हमको बताते ॥१३४॥

शुद्धोपयोग भजते तज सर्व भोग,
धर्मानुराग तक त्याग शुभोपयोग ।
वे हैं सुधी मुनि पराश्रित धर्मत्यागी,
ऐसा कहें गणधरादिक वीतरागी ॥१३५॥

आत्मा स्वयं हृदय में कुछ भाव लाता,
कर्त्ता उसी समय वो उसका कहाता ।
हो ज्ञान-भाव मुनि में अपरिग्रही में,
अज्ञान भाव जु गृहस्थ परिग्रही में ॥१३६॥

है ज्ञान भाव करता मुनि अप्रमादी,
तो कर्म से न बँधता लखता समाधि ।
अज्ञान भाव कर नित्य गृही प्रमादी,
है कर्म जाल फसता मनि को मिटादी ॥१३७॥

लो ! ज्ञान से उदित ज्ञान नितान्त होता,
हे साधु बीज सम ही फल चूँकि होता ।
हो वीतराग मुनि जो कुछ ध्यान ध्याता,
वो सर्व ज्ञानमय ही, विधि को मिटाता ॥१३८॥

उत्पन्न मात्र भ्रम से भ्रमभाव होता,
औचित्य कारण समा बस कार्य होता ।
अज्ञानि-जीव मन में कुछ भी विचारे ?
अज्ञान से भरितभाव नितान्त पाले ॥१३९॥

लो ! स्वर्ण के मुकुट कुण्डल ही बनेंगे,
अच्छे किसे नहिं लगे मनको हरेंगे ।
विज्ञानि के विमल भाव रहे रहेंगे,
वे पूर्व के समल कर्म हरे हरेंगे ॥१४०॥

लो ! लोह, लोहमय आयुध का विधाता,
देखो जिन्हें कि भय से मन काँप जाता ।
अज्ञानि में तरल राग तरंग माला,
देती उसे दुख पिलाकर पाप हाला ॥१४१॥

अज्ञान का उदय आतम में जभी हो ।
है आत्म ज्ञान मिटता, उलटा सभी हो ।
मिथ्यात्व के उदय में पर को निजात्मा,
है मान भूल करता, बनता दुरात्मा ॥१४२॥

आत्मा स्वयं जब असंयम से घिरेगा,
स्वच्छन्द हो विषय सेवन ही करेगा ।
कालुष्य की सघन कालिख से लिपेगा-
आत्मा, कषायमय दीपक ज्यों जलेगा ॥१४३॥

आत्मा स्वयं तब तरंगित हो हिलोरा-
लेता, चले जब शुभा-शुभ योग जोरा ।
हो तीव्र या पवन मंद जभी चलेगी,
भाई अवश्य सरमें लहरें उठेंगी ॥१४४॥

पूर्वोक्त रूप घटना घटती जभी से,
तो वर्गणा विधिमयी विधि हो तभी से ।
है अष्ट कर्म बँधते इस जीव से हैं,
देते अतीव दुख हैं कटुनाम से हैं ॥१४५॥

ये ही यदा उदय में वसु कर्म आते,
तो जीव की विकृति में पड़ हेतु जाते ।
संसार की प्रगति औ गति हो चलेगी,
मंदइन्हेंमुनि जिन्हेंमुक्ती मिलेगी (पत्रचकम) ।१४६।

रागादि ये विकृत चेतन की दशायें,
मोहादि के उदय में दुख आपदायें ।
पै जीव कर्म मिलके यदि राग होगा,
तो कर्म चेतन, अचेतन जीव होगा ॥१४७॥

मोहादिका उदय पाकर जीव रागी,
होता स्वयं नहिं कभी कहते विरागी ।
धूली बिना जल कलंकित क्या बनेगा ?
क्या अग्नि योग बिन नीर कभी जलेगा ? ॥१४८॥

लो ! जीव संग यदि पुद्गल वर्गणायें,
है कर्म रूप ढलतीं दुख आपदायें ।
दोनों नितान्त तब पुद्गल ही बनेंगे,
आकाश फूल भव औ शिव भी बनेंगे ॥१४९॥

रागादि भाव करता जड जीव ज्योंही
है कर्म रूप ढलते जड़ द्रव्य त्यों ही ।
रागादि से पृथक पुद्गल है उसी से,
ऐसा समाधिरत साधु लखे रुची से ॥१५०॥

गाता विशुद्धनय जीव सदा जुदा है,
दुष्टाष्ट कर्म दलसे न कभी बँधा है ।
संसारिजीव विधि से बँधता बँधा था
यों भावभीनि स्वर में व्यवहार गाना ॥१५१॥

है पक्षपात यह तो नय नीति सारी,
है निर्विकार यह आतम या विकारी ।
वे वस्तुत: समयसार बने लसे हैं
जो साधु ऊपर उठे नय पक्ष से हैं ॥१५२॥

सर्वज्ञ ज्यों समयसारमयी बने हैं,
साक्षी बने सहज दो नयके तने हैं ।
त्यों साधु भी न बनता नय पक्षपाती,
हो आत्मलीन तजता पररीति-जाति ॥१५३॥

संसार में समयसार सुधा सुधारा,
लेता प्रमाण नय का न कभी सहारा ।
होता वही दृगमयी व्रत बोध धाम,
मेरा उसे विनय से शतश: प्रणाम ॥१५४॥

पुण्यपापाधिकार

मोही कहे कि शुभ भाव सुशील प्यारा,
खोटा बुरा अशुभभाव कुशील खारा ।
संसार के जलधि में जब जो गिराता,
कैसे सुशील शुभ भाव ! मुझे न भाता ॥१५५॥

दो बेड़ियाँ कनक की इक लोह की है,
ज्यों एकसी पुरुष को कस बाँधती है ।
त्यों कर्म भी अशुभ या शुभ क्यों न होवे,
त्यों बाँधते नियम से जड़ जीव को वे ॥१५६॥

दोनों शुभाशुभ कुशील, कुशील त्यागो,
संसर्ग राग इनका तज नित्य जागो ।
संसर्ग राग इनका यदि जो रखेगा,
स्वाधीनता विनशती, दुख ही सहेगा ॥१५७॥

संरक्षणार्थ निजको लख तस्करों को,
जैसा यहाँ मनुज सज्जन, दुर्जनों को ।
संसर्ग राग उनका, झट छोड़ देता,
देता न साथ, उनसे मुख मोड़ लेता ॥१५८॥

वैसा हि दुःख सुखदो अशुभों शुभों को,
कर्मों असार जड़-पुद्गल के फलों को ।
शुद्धात्म में निरत साधु विसारते हैं,
सानन्द वे समय-सार निहारते हैं ॥१५९॥

जो राग में रँगरहा वसुकर्म पाता,
योगी विराग भवमुक्त बने प्रमाता ।
ऐसा जिनेश कहते शिव है विधाता,
रागी ! विराग बन क्यों रति गीत गाता ॥१६०॥

ये केवली समय औ मुनि शुद्ध ध्यानी,
एकार्थ के वचन हैं परमार्थ ज्ञानी।
साधू स्वभाव रत वे निज धाम जाते,
आते न लौट भव बीच विराम पाते ॥१६१॥

आतापनादि तपसे तनको तपाना,
अध्यात्म से स्खलित हो व्रत को निभाना।
हे सन्त बाल तप संयम वो कहाता,
ऐसा जिनेश कहते भव में घुमाता ॥१६२॥

लो ! अज्ञ साधु यम संयम शील धारी,
शास्त्रानुसार करता तप धीर भारी।
मानो न लीन परमार्थ समाधि में है,
पाता न पार दुख पाय भवाब्धि में है ॥१६३॥

साधू समाधि-च्युत मूढ़ यथार्थ में है,
दूरातिदूर परमार्थ पदार्थ से है।
संसार हेतु शिव हेतु न जानते हैं,
वे पुण्य को इसीलिए बस चाहते हैं ॥१६४॥

तत्त्वार्थ की रुचि सुदर्शन नाम पाता,
औ तत्व को समझना वह ज्ञान साता।
रागादि त्याग करना वह वृत्त होता,
तीनों मिले बस वही शिव पन्थ होता ॥१६५॥

ज्ञानी कभी न भजते व्यवहार व्याधि,
होनिर्विकल्प, तजते न सुधी समाधि।
होते विलीन परमार्थ पदार्थ में हैं,
काटे कुकर्म बस साधु यथार्थ में है ॥१६६॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
मिथ्यात्व की मलिनता मुझको न भाती,
सम्यक्त्व की उजलता शुचिता मिटाती ॥१६७॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मल-धूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
अज्ञान की मलिनता चिपकी जभी से,
विज्ञान की उजलता मिटती तभी से ॥१६८॥

ज्यों वस्त्रपे चिपकती मलधूल-माती,
तो वस्त्र की धवलता मिट क्या न जाती ?
काषायिकी मलिनता लगती जभी से,
चारित्र की उजलता मिटती तभी से ॥१६९॥

आत्मा विशुद्ध-नयसे निज भाव स्पर्शी,
होगा भले सकलविज्ञ त्रिकाल दर्शी ।
पै वर्त्तमान ! विधिसे कस के बँधा है,
है जानता न कुछ भी समझो मुधा है ॥१७०॥

सम्यक्त्व का यदि जग में विरोधी,
मिथ्यात्व है, कह रहे जिन, धार बोधि ।
मिथ्यात्व के उदय में यह जीव होता,
मोही कुदृष्टि, दुख से दिन रैन रोता ॥१७१॥

आलोक का तम विरोधक ज्यों बताया,
अज्ञान ज्ञान गुण का जिन देव राया ।
अज्ञान के उदय में यह जीव होता,
कर्त्तव्य मूढ़ फिरता भव बीच रोता ॥१७२॥

चारित्र का रिपु कषाय, कषाय-त्यागी,
ऐसा जिनेश कहते, प्रभु-वीतरागी ।
दुःखात्मिका उदय में कुकषाय आती,
तो जीवको चारित्रहीन बना, सताती ॥१७३॥

आस्रवाधिकार

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योग,
ये हैं अचेतन सचेतन से द्वियोग ।
संयोग रूप जड़ है पुनि आत्म रूप,
होते अनेक विध हैं अघ दुःख कूप ॥१७४॥

संयोग रूप जड़ प्रत्यय हेतु होते,
दुष्टाष्ट कर्म दलके दुख बीज बोते
रागादिमान उनके पुनि हेतु होते,
होते तभी नित दुखी जग जीव रोते ॥१७५॥

ना कर्म बंध करता समदृष्टि होता,
पै रोक आस्रव, सुसंवर तत्त्व जोता ।
प्राचीन बंध भरको बस जानता है,
पजूँ उसे झट तजूँ अभिमानता मैं ॥१७६॥

ज्यों जीव राग करता निज भूल जाता,
तो कर्म बंध करता प्रतिकूल जाता ।
जो राग से मुनिसुधी मन मोड़ लेता,
होता अबंध भव बंधन तोड़ देता ॥१७७॥

आ, जारहा उदय में फल दे तथापि,
वो ही पुनः करम ना बँधता कदापि ।
लो वृक्ष से फल पका गिरता महीपे,
जाके पुनः वह वहीं लगता नहीं पे ॥१७८॥

रागादिरूप उपयोग ढला नहीं है,
ज्ञानी तभी निरखता विधिको सही है ।
अज्ञान से कुछ बँधे विधि हो पुराणे,
दीवार पे चिपकती रज के प्रमाणे ॥१७९॥

प्रत्येक काल चउप्रत्यय कर्म-भारा,
बाँधे सरागमय-दर्शन-बोध द्वारा ।
ज्ञानी अत: न बँधता विधि बंधनों से,
होता विभूषित सदा मुनि सद्गुणों से ॥१८०॥

ना निर्विकल्प, सविकल्पक हो तना है,
वो ज्ञान-ज्ञान नहि रागमयी बना है ।
है बार-बार वह ज्ञान कुकर्म लाता,
स्वामी ! नहीं परम पूरण वृत्त पाता ॥१८१॥

सम्यक्त्व बोध व्रत ये जबलौं न पूरे,
होते सराग फलत: रहते अधूरे ।
ज्ञानी नितान्त तबलौं विधिबंध बाँधे,
साधे न मोक्ष निजको न लखे अराधे ॥१८२॥

बाँधे हुए विगत में विधि बंध सारे,
सम्यक्त्व युक्त मुनि में रहते विचारे ।
आते यदा उदय में यदि राग होता,
होता नवीन विधि बंधन, साम्य खोता ॥१८३॥

जैसी यहाँ नव लता सम सौम्य बाला,
होती युवा पुरुष की नहिं भोग शाला ।
ज्यों ही वही मद भरे कुचधार पाती,
भोग्या, बनी पुरुष के मनको चुराती ॥१८४॥

वे सुप्त गुप्त विधि भी नहि भोग्य होते,
आते सदा उदय में फिर भोग्य होते।
रागादि, जीवकृत-भाव निमित्त पाते,
सप्ताष्ट भेद मय कर्म तभी बनाते ॥१८५॥

शुद्धोपयोग बलसे समदृष्टि योगी,
होता न बंधक अतः, तज भोग भोगी।
औचित्य आस्रव बिना विधिबंध कैसा ?
हो जाय कारण बिना फिर कार्य कैसा ? ॥१८६॥

योगी विराग समदृष्टि वही सही है,
संमोह रोष रति ये जिसमें नहीं है।
रागादि आस्रव बिना, विधि बंध हेतु,
होते न प्रत्यय कभी यह जान रे तू ॥१८७॥

सिद्धान्त में कथित प्रत्यय चार होते,
दुष्टाष्ट कर्म जिस कारण बंध होते।
रागादि हेतु बनते चउ प्रत्ययों के,
रागादिका विलय ही विधि-बंध रोके ॥१८८॥

जैसा यहाँ उदर के • अनलानुसार,
औ क्षेत्र आयु निजकाय बलानुसार।
खाया हुआ अशन मांसवसादिकों में,
कालानुसार ढलता तन-धातुओं में ॥१८९॥

वैसा अनेक विधि पुद्गल प्रत्ययों में,
ज्ञानी बँधा विगत में विधिबंधनों से।
हो ! कर्म-बन्ध, परसे मन जोड़ता है,
आधार शुद्धनयका जब छोड़ता है ॥१९०॥

संवराधिकार

शुद्धात्म में नियम से उपयोग भाता
क्रोधादि में न उपयोग कभी सुहाता ।
वो क्रोध, क्रोध भर में उपयोग में ना,
हे ! भव्य क्रोध अब तो बस छोड़ देना ॥१९१॥

चैतन्य धाम उपयोग निरा निहाला,
नोकर्म कर्म जिसमें न सदा उजाला ।
नोकर्म कर्म जड़ पुद्गल का पिटारा,
होता कभी न उसमें, उपयोग प्यारा ॥१९२॥

ऐसा जिसे अविपरीत विबोध होता,
सारी प्रवृत्ति तजता, मन मैल धोता ।
शुद्धोपयोग सर में डुबकी लगाता,
योगी वही, नित उसे शिर मैं नँवाता ॥१९३॥

भारी तपा कनक यद्यपि हो तथापि,
भाई नहीं कनकता तजता कदापि ।
त्यों कर्म के उदय में तप साधु जाता,
पै साधुता न तजता, सुख आशु पाता ॥१९४॥

ज्ञानी सहर्ष शुचि जीवन नित्य जीता,
शुद्धोपयोग-पयको भर-पेट पीता ।
रागी, सराग-निजको लखता रहेगा,
अज्ञान-रूपतम में भटका फिरेगा ॥१९५॥

साधू समाधिरत हो निजको विशुद्ध,
जाने, बने सहज शुद्ध अबद्ध बुद्ध ।
रागी स्वको समझ रागमयी बिचारा,
अज्ञान के तिमिर में निजको बिसारा ।
होता न मुक्त भव से दुख हो अपारा ॥१९६॥

जो आपको सब शुभाशुभ वृत्तियों से,
पूरा बचाकर सुखासुख साधनों से ।
सम्यक्त्व बोधव्रत में रुचि से लगाता,
है त्याग राग परका, निज गीत गाता ॥१९७॥

वो सर्व संग तज के मुनि हो इसी से,
जाने नितान्त निज में निजको निजी से ।
एकत्व की वह छटा मनको लुभाती,
नोकर्म, कर्म तक को सबको भुलाती ॥१९८॥

ऐसा निरन्तर निजातम-तत्त्व ध्यानी,
सम्यक्त्व बोध व्रत में रत साधु ज्ञानी ।
हो, कर्म-मुक्त गुणयुक्त सदा लसेगा,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसेगा ॥१९९॥

शिल्पादि लेख लख के जिस भाँति जाना-
जाता परोक्षतम-पूर्ण पदार्थ बाना ।
सत शास्त्र के मनन से गुरुदेशना से,
हो जाय ज्ञात यह जीव सुसाधना से ॥२००॥

प्रत्यक्ष ज्ञान बल से जिन केवली है,
जैसे निजात्म लखते सबसे बली है ।
साक्षातकार निजका बन जाय ऐसा-
छद्मस्थ होकर कहे बुध कौन वैसा ॥२०१॥

मिथ्यात्व औ अविरती जड़-बोध, योग,
रागादि के जनक ये सुख के वियोग ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥२०२॥

होता जभी विलय भी इनका तभी से,
हो नष्ट आस्रव मुनीश्वर का सही से ।
औचित्य ! आस्रव जभी मिटते सभी हैं,
आठों कुकर्म मिटते सहसा तभी हैं ॥२०३॥

दुष्टाष्ट कर्म मिटते तन मेल टूटे,
संदेह क्या तन मिटा जग जेल छूटे ।
विज्ञान की किरण उज्ज्वल पूर्ण फूटे,
आनन्द लाभ फिर तो चिरकाल लूटे ॥२०४॥

निर्जराधिकार

धारा विराग दृग जो मुनिधर्म पाके,
होते उन्हें विषय कारण निर्जरा के ।
भोगोपभोग करते सब इंद्रियों से,
साधू सुधी न बंधते विधि बँधनों से ॥२०५॥

भोगोपभोग जब वे मुनि भोगते हैं ?
होते अवश्य सुख-दु:ख नियोग से हैं ।
ले स्वाद दु:ख सुख का बनते न रागी,
वे निर्जरा करम की करते विरागी ॥२०६॥

खाता भले विष सुधी विष मंत्र ज्ञाता,
पाता न मृत्यु फिर भी दुख भी न पाता ।
त्यों निर्विकल्पक समाधि विलीन ध्यानी,
भोगे विपाक विधि के बँधते न ज्ञानी ॥२०७॥

होता प्रमत्त नहि मादकता घटाके,
जो मद्यपान करता रुचिको हटाके ।
ज्ञानी विराग मुनि भोगत भोग सारे,
ये कर्म से न बँधते, निजको निहारे ॥२०८॥

जो भोग भोग कर भी मुनि हो न भोगी,
भोगे बिना जड़ कुधी बन जाय भोगी ।
इच्छा बिना यदि करें कुछ कार्य त्यागी,
कर्त्ता कथं फिर बने परके विरागी ॥२०९॥

विश्वास हो विविध है विधि के विपाक,
ऐसे कहें जिन, जिन्हें मम ढोक लाख ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा, नित मैं अकेला ॥२१०॥

होता यदा उदय पुद्गल क्रोध का है,
तो भाव क्रोध उगता रिपु बोध का है ।
होगा नहीं यह विभाव, स्वभाव मेरा,
ज्ञानी निरामय निरा नित मैं अकेला ॥२११॥

रागादि भाव तुममें जब हो रहे हैं,
कैसा कहो फिर उन्हें पर वे रहे हैं ।
भाई 'विभाव' न 'स्वभाव' अतः निरे हैं,
कायादि भी पर अतः मुझसे घिरे हैं ॥२१२॥

होता वही श्रमण है समदृष्टि वाला,
पीता सदा परम पावन बोध प्याला ।
है डूबता बहुत भीतर-चेतना में,
देता न दृष्टि उदयागत वेदना में ॥२१३॥

तू राग को तनिक भी तन में रखेगा,
शुद्धात्म को फिर कदापि नहीं लखेगा,
होगा विशारद जिनागम में भले ही
आत्मा त्वदीय कुछ औ भव में डुले ही ॥२१४॥

आत्मा न आतम अनातम को लखेगा,
सम्यक्त्व पात्र किस भाँति अहो बनेगा ।
यों कुन्द-कुन्द कहते बन वीतरागी,
क्यों व्यर्थ दु:ख सहता तज राग रागी ॥२१५॥

ये द्रव्य भाव मय कर्म विभाव सारे,
छोड़ो इन्हें ध्रुव नहीं व्यय शील वाले ।
शुद्धात्म से प्रभव भाव-स्वभाव धारो,
जो है अबाध ध्रुव केवल विश्व सारो ॥२१६॥

विज्ञान पंचविधि एक निजातमा है,
सत्यार्थ है निरखते अघ-खातमा है ।
लेता सहारा निजका यदि चाव से तू,
लेगा विराम चिर चेतन छाँव में तू ॥२१७॥

होते कई मुनि, बिना निज बोध जीते,
पीते सुधा न निजकी रह जाय रीते ।
विज्ञान को भज अत: विधि काटना है,
तू चाहता यदि निजी निधि छाँटना है ॥२१८॥

सद्‌बोध रूप सर में डुबकी लगाले,
संतप्त तू स्नपित हो सुख शांति पाले ।
और अन्त में बल अनन्त ज्वलन्त पाके,
विश्राम ले अमित काल स्वधाम जाके ॥२१९॥

ऊबा हुआ विषय से मुनि वीतरागी,
डूबा हुआ स्वमय में सब ग्रन्थ त्यागी ।
मेरा शरीर यह है तज बुद्धिमानी,
ऐसा भला कहत है वह कौन ज्ञानी ? ॥२२०॥

देहादि को यदि मदीय मनो ! कहूँगा,
नि:शंक चेतन, अचेतन मैं बनूँगा ।
मैं तो सचेतन निकेतन हो तना हूँ ?
मेरा, नहीं पर, परिग्रह मैं बना हूँ ॥२२१॥

हा जीर्ण शीर्ण तन पूर्ण सड़े गले ही,
भाई भले अनल से पल में जले ही ।
हो खंड खंड अणु होकर भी बिखेरगा,
मेरा न राग तन में फिर भी जगेगा ॥२२२॥

धर्मानुराग शुभराग शुभोपयोग,
चाहे नहीं मुनि परिग्रह का सुयोग ।
त्यागी रहा इसीलिए शुभ धर्म का है,
ज्ञाता निरन्तर, न बंधक कर्म का है ॥२२३॥

होता अधर्ममय है अशुभोपयोग,
ज्ञानी न चाहत कभी अघ संग योग ।
ज्ञाता अत: मुनि निसंग कुभोग का है,
सच्चा उपासक रहा उपयोग का है ॥२२४॥

ज्ञानी वही श्रमण है अपरिग्रही है,
वो चाहता तरलपान कभी नहीं है ।
ज्ञाता रहा इसीलिए रस पान का है,
निस्संग है रसिक भी निज ज्ञान का है ॥२२६॥

तत्त्वार्थ का सब पदार्थन का यथार्थ,
शब्दार्थ अर्थ गहता सबके हितार्थ :
साधू तथापि श्रुत का अभिमान त्यागी,
संसार सौख्य नहिं चाहत वीतरागी ॥२२७॥

यों अंतरंग बहिरंग निसंग ज्ञानी,
होता निरीह सबसे सुनमन वाणी ।
आकाश सा निरवलम्बन जी रहा है,
ज्ञानाभिभिन्न-समता रस पी रहा है ॥२२८॥

ना भूत की स्मृति अनागत की अपेक्षा,
भोगोपभोग मिलने पर भी उपेक्षा ।
ज्ञानी जिन्हें विषय तो विष दीखते हैं,
वैराग्य पाठ उनसे हम सीखते हैं ॥२२९॥

संभोग-भाव सब भोग्य पदार्थ भाई,
प्रत्येक काल मिटते न यथार्थ स्थाई ।
ज्ञानी मुनीश इस भाँति जभी लखेगा,
कांक्षा पुनः किसलिए किसकी रखेगा ? ॥२३०॥

संसार काय विधिबंधन भोग द्वारा ।
धारा प्रवाह चलते जग में सुचारा,
ज्ञानी तभी मुनि करे उनमें न प्रीति,
आश्चर्य क्या ? जब हुई निजकी प्रतीति ॥२३१॥

ज्ञानी न बंध करता विधि से घिरा हो,
पंचेन्द्रि के विषय से जब वो निरा हो ।
हो पंक में कनक पे रहता सही है,
आत्मीयता कनकता तजता नहीं है ॥२३२॥

पंचेंद्रियों विषय में रममान होता,
तो मूढ़ बंध विधि को स्वयमेव ढोता ।
लोहा स्वयं कि जब कर्दम संग पाता,
धिक्धिक् स्वभाव तजता झट जंग खाता ॥२३३॥

सिंदूर नाग-फणिकी जड़ ढूंढ लाओ,
औ मंत्र भी हरिथिनि की उनमें मिलाओ।
ज्यों धौंकनी धुनकते रस प्राप्त होता,
सीसा सुवर्ण बनता जब भाग्य होता ॥२३४॥

है अष्ट कर्म मल किट्ट असार सारा,
लोहा बना पतित आतम है हमारा।
रागादि ही कलुष कालिख मात्र जानो,
सम्यक्त्व बोध व्रत औषध पात्र मानो ॥२३५॥

सद्ध्यान की धधकती अगनी जलाओ,
त्यों धौंकनी तपमयी तुम तो चलाओ।
योगी बनो सतत आतम गीत गा लो,
ज्योतिर्मयी शुचिमयी निज को बना लो ॥२३६॥

जैसा सफेद वह शंख सुशोभता है
निर्जीव जीवमय द्रव्य सुभोगता है।
कोई नहीं धवलता उसकी मिटाता,
है कृष्णता न उसमें पुनि डाल पाता ॥२३७॥

नाना अचेतन सचेतन भोग भोगे
जानी मुनीश मुनिके-व्रत पा अनोखे।
ऐसा विबाध मुनिका दिग क्यों सकेगा ?
रागाभिभूत कर कौन उसे सकेगा ? ॥२३८॥

मानो कि शंख खुद ही निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि वो तजेगा।
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
स्वभावकी परिणती फिर क्यों सकेगी ? ॥२३९॥

निर्जीवशंख खुद वो निज से चिगेगा,
आत्मीयता धवलता यदि है तजेगा !
तो कृष्णता कलुषता उसमें उगेगी,
वैभाविकी परिणती फिर क्यों रुकेगी ॥२४०॥

ज्ञानी स्वयं यदि मनो ! भजता विधि को,
विज्ञान की उजलता तजता निधी को ।
अज्ञान रूप ढलता फिर क्या बताना !!
दुर्भाग्य पाक सहता भव दुःख नाना ॥२४१॥

कोई यहाँ नर नराधिप की सुसेवा,
मानो धनाढ्य बनने करता सदेव ।
राजा उसे सुखद सुन्दर सम्पदायें,
देता सुदुर्लभ अभीष्ट विलासतायें ॥२४२॥

हो कर्म-सेव करता इस ही प्रमाणे-
संसारिजीव यदि संपति-भोग पाने ।
तो कर्म भी विविध सौख्य प्रमोदकारी,
देता उसे क्षणिक भौतिक दुःखकारी ॥२४३॥

मानो धनाढ्य बनने करता न सेवा,
कोई यहाँ नर नराधिप की सदैवा ।
राजा कभी न मनवांछित सम्पदायें,
देता उसे सुखद पूर्ण विलासतायें ॥२४४॥

साधू विराग दृग पा निजमें लसें वे,
ना कर्म को विषय सेवन हेतु सेवें ।
तो कर्म भी न उनको सुख सम्पदा दे,
तू कर्म धर्म पर ध्यान अतः सदा दे ॥२४५॥

निःशंक हो मुनि सदा समदृष्टि वाले,
सातों प्रकार भय छोड़ स्वर्गीत गाले ।
निःशंकिता अभयता इक साथ होती,
तो भीति ही स्वयम हो भयभीत रोती ॥२४६॥

मिथ्यात्व औ अविरती कुकषाय योगों -
को रोकते, विधिविमोहक बाधको को ।
निःशंक है निडर हैं समदृष्टि वाले,
रे वीतराग बनके मुनिशील-पाले ॥२४७॥

कांक्षा कभी न रखता जड़ पर्ययों में,
धर्मों पदार्थ दल के विधि के फलों में ।
होता वही मुनि निकांक्षित अंग धारी,
वंद् उसे बन सकूँ द्रुत निर्विकारी ॥२४८॥

कोई घृणास्पद नहीं जग में यथार्थ,
सारे सदा परिणमें निज में यथार्थ ।
ज्ञानी न ग्लान करते मुनि हो किसी से,
धारे तृतीय दृग अंग तभी रुची से ॥२४९॥

ना मुग्ध मूढ़ मुनि हो जग वस्तुओं में,
हो लीन आप अपने अपने गुणों में ।
वे ही महान समदृटि समूढ़ दृष्टि,
नासाग्र दृष्टि रख नासत कर्म सृष्टि ॥२५०॥

मिथ्यात्व आदिक शुभाशुभ भाव छोड़े,
है सिद्धभक्तिरत है मनको मरोड़े ।
सम्यक्त्वसंग उपगूहण अंगधारी,
वे मान्य पूज्य अनगार, नहीं अगारी ॥२५१॥

उन्मार्ग पे विचरता मन को हटाता,
सन्मार्ग पे नियम से मुनि जो लगाता ।
वो ही स्थितीकरण अग सुधारता है
संसार से तिर रहा जग-तारता है ॥२५२॥

ज्ञानादि रत्नत्रय में शिवपंथियों में,
वात्सल्य भाव रखता मुनि-पुंगवों में ।
माना गया समय में सम-दृष्टिवाला,
वात्सल्य अग अवधारक शांत शाला ॥२५३॥

हो रूढ ध्यान रथ, हाथ लगाम लेता,
जो धावमान मन को झट थाम लेता ।
सम्यक्त्व मंडित महा मुनि साधना है,
होती नितान्त जिन-धर्म प्रभावना है ॥२५४॥

बन्धाधिकार

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
लो अंग अग तिल तेल लगा लगाके,
आयाम नित्य करता बलको जगाके ॥२५५॥

स्वच्छंद हो सरसा नीरस पादपों को
बांसो तमाल कदली तरुके दलों को ।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता,
आमूलत: कर उखाड़ उन्हें मिटाता ॥२५६॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
लो देह में चिपकती रज आ अपारा ।
क्यों वस्तुत: चिपकती रज आ वहाँ है ?
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ॥२५७॥

वो तैल लेप वश ही रज आ लगी है,
भाई अकाट्य ध्रुव सत्य यही सही है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२५८॥

मिथ्यात्व मंडित कुधी त्रय योग द्वारा,
चेष्टा निरंतर किया करता बिचारा ।
ज्यों रागरंग रंगता उपयोग को है,
पाता स्वयं नियम से विधि योग को है ॥२५९॥

फैली जहाँ मलिन धूलि अमेय राशि,
कोई सशस्त्र नर जाकर के विलासी ।
ले ! अंग-अंग तिल तैल बिना लगाया
व्यायाम नित्य करता बलको जगाया ॥२६०॥

स्वच्छन्द हो सरस नीरस पादपों को,
बाँसों तमाल कदली तरुके दलों को ।
वो तोड़-तोड़ टुकड़े-टुकड़े बनाता,
आमूलत: कर उखाड़ उन्हें मिटाना ॥२६१॥

नाना प्रकार इस ताण्डव नृत्य द्वारा,
है देह में न चिपकी रज आ अपारा ।
क्यों, वस्तुत: चिपकती रज ना वहाँ है,
क्या जानते तुम कि कारण क्या रहा है ? ॥२६२॥

ना तैल लेप तन पे उसने किया है,
भाई नितान्त यह कारण ही रहा है ।
व्यायाम कारण नहीं उस कार्य में है,
ऐसा जिनेश कहते निज कार्य में है ॥२६३॥

होता इसी तरह ही सम दृष्टि वाला,
चेष्टा अनेक विध है करता निराला ।
रागाभिभूत उपयोग नहीं बनाता,
पाता न बंध, उसको शिर मैं नवाता ॥२६४॥

मारूँ उसे वह मुझे जब मारता है,
मोही कुधी मनमना यह मानता हैं ।
मेरा नहीं मरण, है ध्रुव शीलवाला,
ज्ञानी कहे मुनि, निरा जड़ में निराला ॥२६५॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को सँजोती ।
तू जीव की जब न आयु चुरा सकेगा,
कैसा भला सहज मार उसे सकेगा ? ॥२६६॥

देहावसान जब आयु विलीन होती,
है भारती जिनप की सुख को संजोती ।
कोई त्वदीय नहि आयु चुरा सकेगा ?
तेरा भला मरण क्या कि करा सकेगा ? ॥२६७॥

मैं आपकी मदद से बस जी रहा हूँ,
जीता तुम्हें सहज आज जिला रहा हूँ ।
ऐसा सदैव कहता वह मूढ़ प्राणी,
ज्ञानी विलोम चलता जड़ से अमानी ॥२६८॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता ।
तू जीव में यदपि आयु न डाल देता,
कैसा उसे तदपि जीवित पाल लेता ? ॥२६९॥

है आयु के उदय पा जग जीव जीता,
ऐसा कहे जिन जिन्हें मद ने न जीता।
कोई न आयु तुझमें जब डाल देता,
कैसे तुझे फिर सुजीवित पाल लेता? ॥२७०॥

मैंने तुझे धन दिया कि सुखी बनाया,
मारा, चुरा धन अपार, दुखी बनाया।
मोही प्रमत्त जड़की यह धारणा है,
ज्ञानी चले न इस भाँति महामना है ॥२७१.

साता यदा उदय में अथवा असाता,
होता सुखी जगदुखी, यह छंद गाता,
तू डालता न पर में जब कर्म वैसा,
भाई दुखी जग सुखी बन जाय कैसा? ॥२७२॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी जो,
औचित्य है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे हुए तुम अपार दुखी तथापि ॥२७३॥

लो कर्म का उदय जीवन में जभी हो,
सिद्धांत है जग दुखी व सुखी तभी हो।
देता न कर्म जग है तुमको कदापि,
कैसे अकारण सुखी तुम हो तथापि ॥२७४॥

दुःखानुभूति करता यम धाम जाता,
संसारिजीव उदयागत कर्म पाता।
मारा तुम्हें दुखित पूर्ण किया कराया,
वो मान्यता तव मृषा, जिन देव गाया ॥२७५॥

मानो दुखी नहिं हुवा न मरा सदेही,
जो भी हुवा वह सभी विधिपाक से ही ।
मैंने दुखी मत नहीं तुमको बनाया,
ऐसा विचार भ्रम है जिसने बताया ॥२७६॥

मैं शीघ्र ही अति दुखी परको बनाता,
किंवा उसे सहज शीघ्र सुखी बनाता ।
ऐसा कहा भ्रमित ही मति आपकी है,
बांधे शुभाशुभ विधि ग्लानि पापकी है ॥२७७॥

ऐसा विकल्प यदि हो जग को दुखी ही,
सामर्थ्य है कर सकूं अथवा सुखी ही ।
वो पाप का मलिन संग दिला सकेगा,
या पुण्य का मुख तुम्हें दिखला सकेगा ॥२७८॥

मैं मित्र मैं सदय हो कर प्राण डालूं
औ शत्रु को अदय होकर मार डालूं ।
ऐसा विभाव मन में यदि धारते हो,
तो पुण्य पाप क्रमशः तुम बांधते हो ॥२७९॥

प्राणो हरो मत हरो जग जंगमो के
संकल्प, बंध करता विधिबंधनों के ।
लो बंधका विधि विधान यही रहा है,
ऐसा सहर्ष नय निश्चय गा रहा है ॥२८०॥

एवं असत्य अरु स्तेय सब्रह्महानी,
औ संग संकलन में रुचि की निशानी ।
माने गये अशुभ अध्यवसाय सारे,
ये पाप बंध करते दुख के पिटारे ॥२८१॥

अस्तेय सत्य सुमहाव्रत को निभाना,
जो ब्रह्मचर्य धर, संग सभी हटाना ।
ये हैं अवश्य शुभ अध्यवसाय सार,
है पुण्य बंधक कथंचित, पाप टारें ॥२८२॥

पंचेंद्रि के विषय को लखता तभी से,
रागादिमान यह आतम हो तभी से ।
पै वस्तुतः विषय बंधक वे नहीं हैं ।
रागादिभाव विधिबंधक हैं सही है ॥२८३॥

मैं आपको अति दुखी व सुखी बनाता,
या बाँधता झटिति बंधन से छुड़ाता ।
ऐसी त्वदीय मति सन्मति हारिणी है,
मिथ्यामयी विषमयी दुखकारिणी है ॥२८४॥

रागादि से जबकि बंधन जीव पाते,
आरूढ़ मुक्ति पथ पे मुनि मुक्ति जाते ।
मैं बाँधता जगत को अथवा छुड़ाता,
तेरा विकल्प फिर वो किस काम आता ? ॥२८५॥

ज्यों जीव राग रति की कर आरती है,
होता सुरेश नर वानर नारकी है ।
है पाप-पुण्य परिपाक जु आप पाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छंद गाता ॥२८६॥

शुद्धात्म से पृथक द्रव्य छहों निराले,
हैं भिन्न-भिन्न गुण लक्षण धर्म धारें ।
संसारि-जीव, पर, अध्यवसान द्वारा,
संसार को हि अपना करता बिचारा ॥२८७॥

रे कायसे जगत को दुख है दिलाते,
ऐसा कहीं तुम कहो बलधार पाते ।
निर्भ्रान्त भ्रान्त तब तो मति है तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८८॥

लो विश्व को वचन से दुख है दिलाते,
ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
संसार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२८९॥

संसार को दुखित हैं मनसे कराते,
ऐसी कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीड़ित क्यो कि भारी ॥२९०॥

या विश्व को दुखित आयुध से कराते,
ऐसा कहीं तुम मनो मति धार पाते ।
निर्भ्रान्त ! भ्रान्त मति है तब तो तुम्हारी,
ससार कर्मवश पीड़ित क्योंकि भारी ॥२९१॥

या काय से वचन से मन से कराते,
हैं विश्व को हम सुखी करुणा दिखाते ।
ऐसा कहो मति मृषा फिर भी तुम्हारी,
पा कर्म का फल सुखी जग क्योंकि भारी ॥२९२॥

ऐसे अनेक विध अध्यवसाय छोड़े,
नीराग भाव धरके मनको मरोड़े ।
ज्ञानी मुनीश्वर शुभाशुभ रेणुओं से,
होते नहीं मलिन, शोभित हो गुणों से ॥२९३॥

संकल्प जन्य सविकल्प अरे ! करेगा,
तो पाप-पुण्य विधिबंध नहीं टरेगा ।
ना बोध दीप दिल में उजला जलेगा,
फैला विमोहतम ना तबलौं टलेगा ॥२९४॥

जो पारिणाम मति अध्यवसाय भाव,
विज्ञान बुद्धि व्यवसाय चितविभाव ।
हे भव्य ये वसु जिनोदित शब्द सारे,
हैं भिन्न-भिन्न, पर आशय एक धारे ॥२९५॥

है नित्य निश्चय निषेधक मोक्षदाता,
होता निषिद्ध व्यवहार मुझे न भाता ।
लेते सुनिश्चय नयाश्रय संत योगी,
निर्वाण प्राप्त करते, तज भोग भोगी ! ॥२९६॥

भाई अभव्य व्रत क्यों न सदा निभा ले,
लेते भले हि तप संयम गीत गा ले ।
औ गुप्तियाँ समितियाँ कल शील पाले,
पाते न बोध दृग वे न बने उजाले ॥२९७॥

एकादशांग श्रुत पा न स्व-में रुचि है,
श्रद्धान मोक्ष सुख का जिसको नहीं है ।
ऐसा अभव्य जनका श्रुत पाठ होता,
रे राम ! राम ! रटता दिन रात तोता ॥२९८॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे अभव्य फिर भी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥२९९॥

तत्त्वार्थ में रुचि हुई दृग हो वहीं से,
सज्ज्ञान हो मनन आगम का सही से ।
चारित्र, पालन चराचर का सुहाता,
संगीत ईदृश सदा व्यवहार गाता ॥३००॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो मैं ।
शुद्धात्म की परम-पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख, है दुख वासना का ॥३०१॥

ज्योतिर्मयी स्फटिक शुभ्रमणी सुहाती,
आत्मीयता तज स्वयं न विरूप पाती ।
पै पार्श्व में मृदुल फूल गुलाब होती,
आश्चर्य क्या फिर भला मणि लाल होती ॥३०२॥

ज्ञानी मुनीश इस भाँति निरा निहाला,
होता स्वयं नहिं कदापि विकार वाला ।
मोहादि के वश कभी प्रतिकूलता में,
रंजाय-मान बनता निज भूलना में ॥३०३॥

संमोहराग करते नहिं रोष, ज्ञानी,
होते प्रभावित नहीं पर से अमानी ।
कर्त्ता अतः नहि कषाय उपाधियों के,
साधू उपास्य जब हैं हम प्राणियों के ॥३०४॥

क्रोधादियों विकृतभाव-प्रणालियों में,
मोही उदीरित कुकार्मिक-नालियों में ।
होता प्रवाहित तभी निज-भूल जाता,
है कर्म कीच फसता प्रतिकूल जाता ॥३०५॥

अज्ञान की कलुष-राग तरंग माला,
काषायिकी परिणती भव दुःख-शाला ।
भावी नवीन विधिबंधन हेतु होती,
आत्मा स्वबंध बनता मिट जाय ज्योति ॥३०६॥

होता द्विधा परम पाप अप्रत्याख्यान,
हे भव्य दो हि अप्रतिक्रमण सुजान ।
माना गया इसीलिए मुनि वीतरागी,
है कर्म का वह अकारक संग-त्यागी ॥३०७॥

है द्रव्य भावमय दोष अप्रत्यख्यान,
एवं द्विधाहि अप्रतिक्रमण सुजान ।
ये निंद्य निंद्यतर निंद्यतमा रहे है,
ज्ञानी इन्हें तज सदा निज में रहे हैं ॥३०८॥

आत्मा समाधिगिरि से गिर के सरागी,
मानो इन्हें कर रहा मुनि दोष भागी ।
तो धूलि-धूसरित भूपर आ हुवा है ?
कर्माभिभूत बन के पर को छुवा है ॥३०९॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव पर पुद्गल के पुकारे ।
साधु करे फिर उन्हें किस भाँति ज्ञानी,
वे अन्य द्रव्य गुण हैं यह वीर वाणी ॥३१०॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे-निरे हैं,
चैतन्य से रहित है जड़ता धरे हैं,
ज्ञानी विचार करता मुनिराज ऐसा,
वो अन्य कर्म जड़कर्म मदीय कैसा ॥३११॥

अध्वादि कर्म कृत भोजन दोष सारे,
जाते अजीव जड़ पुद्गल के पुकारे ।
है अन्य से रचित ये गुण देख लेता,
ज्ञानी उन्हें अनुमती किस भाँति देता ? ॥३१२॥

औद्देशिकादि सब कर्म निरे निरे हैं,
चैतन्य से रहित हैं जड़ता धरे हैं ।
हूँ ज्ञानवान जब मैं मुझसे कराया,
कैसा गया वह, नहीं कुछ जान पाया ॥३१३॥

मोक्षाधिकार

मैं पाश से कस कसा करके कसा हूँ ?
बंधानुभूति करता चिर से लसा हूँ ।
यों बंध बंधफल बंधित गीत गाता,
कोई मनो पुरुष है तुम को दिखाता ॥३१४॥

पै बंध को यदि नहीं वह छोड़ता है,
हा ! जान बूझकर भी नहिं तोड़ता हैं ।
पाता न मुक्ति उस बंधन से कदापि,
दुस्सह्य दुःख सहता चिर काल पापी ॥३१५॥

त्यों कर्म कर्म-स्थिति, कर्म प्रदेश जाने,
औ कर्म की प्रकृति औ अनुभाग माने ।
छोड़े न बंध यदि जान सराग होते,
होते न मुक्त, मुनि मुक्त विराग होते ॥३१६॥

जो पाश बद्ध, बस बंधन चिंतता है,
होता न मुक्त उससे वह अंधता है ।
तू कर्म बंध भर को यदि चिंतता है,
होगा न मुक्त विधि से, मति मंदता है ॥३१७॥

जो पाश से कस बंधे यदि पाश तोड़े,
तो पाश से झट विमुक्त नितान्त होले ।
तू कर्म बंध झट से यदि काटता है,
पाता विमुक्त बन शीघ्र विराटता है ॥३१८॥

शुद्धात्म का परम निर्मल धर्म क्या है,
क्या बंध लक्षण विलक्षण कर्म क्या है ।
यों जान, मान मतिमान प्रमाण द्वारा,
छोड़े कुबंध, गहते शिवधाम द्वारा ॥३१९॥

ये जीव, बंध अपने अपने गुणों से,
है भिन्न मोहवश एक हुए युगों से ।
है भिन्न-भिन्न कहती इनको, सुपैनी,
तो एकमात्र वर बोधमयी सुछैनी ॥३२०॥

यों स्वीय स्वीय गुण लक्षण भेद द्वारा,
तू भिन्न-भिन्न कर बंध निजात्म सारा ।
शुद्धात्म है समयसार-मयी सुधा पी,
हे ! भव्य बंध विष पै मत पी कदापि ॥३२१॥

कैसा निजातम मिले यदि भावना हो,
विज्ञान की सतत सादर साधना हो ।
जाता किया पृथक् बंधन से निजात्मा,
विज्ञान से हि मिलता बनता महात्मा ॥३२२॥

संवेदनामय निजी वह चेतना "मैं",
यों जान, लीन रहना निजचेतना में ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिर से निराले ॥३२३॥

विज्ञान से विदित निश्चत शर्म दृष्टा
मैं ही रहा वह स्वयं निजधर्म सृष्टा ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
हैं हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२४॥

विज्ञान से विदित चेतन राम ज्ञाता,
मैं ही रहा वह निजी गुण धाम धाता ।
जो भी अचेतन निकेतन शेष सारे,
है हेय ज्ञेय मुझसे चिरसे निराले ॥३२५॥

साधू जिसे स्वपर बोध भला मिला है,
सौभाग्य से दृग सरोज खुला खिला है ।
वो क्या कदापि परको अपना कहेगा,
ज्ञानी न मूढसम भूल कभी करेगा ॥३२६॥

ऐसा न होकि मुझको कहिं मार देवे,
तू चोर है कह मुझे जन बाँध देवे ।
ऐसा विचार करता नहिं ठीक सोता,
चौर्यादि पापकर चोर सुभीत होता ॥३२७॥

चौर्यादि कार्य करता नहिं है कदापि,
निर्भीक हो विचरता जग में अपापी ।
होता जिसे कि भय भी अघगैल से है,
चिंता उसे न फिर बंधन जेल से है ॥३२८॥

त्यों संग संकलनलीन असंयमी है,
हो बंध भीति उसको यमी है ।
साधू जिसे भय भला किस बात का है,
है राग भी न जिसको निज गात का है ॥३२९॥

संसिद्धि राध अरु साधित सिद्ध सारे
आराधिना वचन आशय एक धारे ।
आराधिता रहित आतम ही कहाता,
है दोष धाम अपराधक पाप पाता ॥३३०॥

निश्चिंत हो निडर हो निजको निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे ।
आराधना स्वयम की करते सुहाते,
ना तो स्वय न परको डरते डराते ॥३३१॥

निंदा निवृत्ति परिहार सुधारणाएँ,
गर्हा प्रतिक्रमण शुद्धि प्रसारणाएँ ।
पीयूष कुम्भ तब ही शुद्धि मुनिमन होते,
शुद्धोपयोग जब हो विषकुम्भ होते ॥३३२॥

आठो अनिंदन अशुद्धि अधारणादि-
पीयूष कुम्भ जब साधु सधे समाधि ।
ऐसा सुजान समयोचित कार्य साधो ।
एकान्तवाद तजदो अयि आर्य साधो ॥३३३॥

सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार

होते अनन्य अपने-अपने गुणों से,
उत्पद्यमान सब द्रव्य युगों युगों से ।
ज्यों पीलिमा व मृदुता तजता न सोना,
लो कुण्डलादिमय ही लसता सलोना॥३३४॥

वो जीव लक्षण अनन्य स्वचेतना है,
है जीव जीवित तभी जिन देशना है ।
एवं अजीव अपने गुण पर्ययों से,
जीते त्रिकाल चिरसे निज लक्षणों से ॥३३५॥

उत्पन्न जो न परकीय पदार्थ से है,
आत्मा अत: न परकार्य यथार्थ से है ।
उत्पन्न भी कर रहा परको नहीं है,
आत्मा अत: कि परकारण भी नहीं है ॥३३६॥

कर्त्ता हमें विदित हो लख कर्म को है,
कर्त्ता लखो कि अनुमानित कर्म ही है,
कर्त्ता व कर्म इनकी विधि बोलती है,
ऐसी कहीं न मिलती दृग खोलती है ॥३३७॥

आत्मा विमोहवश ही निज को विसारा,
उत्पन्न हो विनशता अघभाव द्वारा ।
रागादिमान इस चेतन का सहारा-
ले कर्म भी उपजता मिटता बिचारा ॥३३८॥

एवं परस्पर निमित्त बने सकाम,
रागी व कर्म बंधते बनते गुलाम ।
संसार का तब प्रवाह अबाध भाता,
रागादि भाव मिटता भवनाश पाता ॥३३९॥

मोहादि से यदि प्रभावित हो रहा है ।
आत्मा अरे स्वयम् के प्रति सो रहा है ।
मिथ्यात्व मंडित असंयत है कहाता,
अज्ञान जन्य दुख की वह गंध पाता॥३४०॥

होता न लीन उदयागत कर्म में है,
ज्ञानी वशी निरत आतम धर्म में है ।
शीघ्रातिशीघ्र मुनि केवल ज्ञान-दर्शी,
होता विमुक्त भवसे शिव सौख्य-स्पर्शी ॥३४१॥

मक्खी बना मुदित मानस हो मलों में,
है मूर्ख मूढ़ रमता विधि के फलों में ।
साक्षी बना, न विधि के फल भोगता है,
ज्ञानी वशी न तजता निज योगता है ॥३४२॥

निश्चिंत हो निडर हो निज को निहारे,
निर्दोष वे निरपराधक साधु प्यारे ।
आराधना स्वयम् की करते सुहाते,
न तो स्वयं, न पर को, डरते डराते ॥३४३॥

हे भव्य ! पूर्ण पढ़ भी जिन-दिव्य वाणी,
त्यागे अभव्यपन को न अभव्य प्राणी ।
मिश्री मिला पयपिलाकर हा अही भी,
क्या कालकूट तजता जग में कभी भी ॥३४४॥

निर्वेग भाव मुनि होकर धारता है
जो मात्र कर्मफल मौन निहारता है ।
साता रहो सुखद दुःखद हो असाता,
ज्ञानी उन्हें न चखता यह साधु-गाथा ॥३४५॥

संभोगते न करते विधि को कदापि,
ज्ञानी समाधिरत हो मुनि वे अपापी ।
पै पाप पुण्य विधि बंधन के फलों को,
हैं जानते, नमन हो उनके पदों को ॥३४६॥

दृष्टा बने युगल लोचन देखते हैं,
ना दृष्य-स्पर्श करते न हि हर्षते हैं,
ज्ञानी अकारक अवेदक जानता है ।
त्यों बंध मोक्ष विधि को तज मानता है ॥३४७॥

विख्यात लोकमत है सुरमानवों का,
निर्माण विष्णु करता पशुनारकों का ।
स्वीकारते श्रमण चूँकि चराचरों को,
आत्मा जगाय जगजंगम जन्तुओं को ॥३४८॥

माना कि एक मत में वह विष्णु कर्त्ता,
आत्मा रहा इतरमें जग जीव कर्त्ता ।
दोनों समा श्रमण लौकिक वादियों में,
पाया न भेद फिर भी इन दो मतों में ॥३४९॥

हाँ मोक्ष की महक ही इन में न आती,
कर्तृत्व की विषमगंध सही न जाती ।
कोई विशेष इनमें न हि भेद भाता,
ऐसा सुनों समयसार सदैव गाता ॥३५०॥

मेरे खरे धन मकाँ परिवार आदि,
पी मोह मद्य बकता व्यवहारवादी ।
लेते विराम मुनि निश्चय का सहारा,
गाते सदा, न परका अणु भी हमारा ॥३५१॥

कोई यहां पुरुष हैं कहते हमारे,
ये देश खेट पुर गोपुर प्रान्त प्यारे ।
ये वस्तुतः न उनके बनते कदापि,
व्यामोह से जड़ प्रलाप करें तथापि ॥३५२॥

है काय भिन्न पर जानत भी अमानी,
शुद्धोपयोग तज के यदि काश ज्ञानी ।
मानो मदीय तन है इस भाँति बोले,
मिथ्यात्व पा नियम से भव बीच डोले ॥३५३॥

ऐसा विचार, पर को अपना न मानो,
औ राग त्याग परको पर रूप जानो ।
कर्तृत्ववाद धरते इन दो मतों को,
मिथ्यात्व मण्डित लखो उन पामरों को ॥३५४॥

मिथ्यात्व की प्रकृति पापिन जो कहाती,
मिथ्यात्व मण्डित हमें यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार किन्तु नहिं वो जिन देशना को ॥३५५॥

किं वा कहो यदि निजातम ही जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप करता इन पुदगलों को,
मिथ्यात्व पात्र फिर पुद्गल ही बनेगा,
आत्मा त्रिकाल फिर शुद्ध बना तनेगा ॥३५६॥

आत्मा तथा प्रकृति ये मिल के जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप कर ते इनपुद्गलों को
ऐसा कहो यदि तदा जड़ के-दलों को
दोनों हि स्वाद चखते विधि के फलों का ॥३५७॥

आत्मा तथा प्रकृति भी न कभी जड़ों को,
मिथ्यात्व रूप कहते इन पुद्गलों को ।
ऐसा कहो तदपि पुद्गल ही हुआ है,
मिथ्यात्व क्या मत त्वदीय नहीं हुआ है ॥३५८॥

सम्यक्त्व की प्रकृति पुद्गल को सुहाती,
सम्यक्त्व मंडित हमें यदि है कराती ।
तो कारिका वह बनी कि अचेतना हो,
स्वीकार पै न यह है जिन देशना को ॥३५९॥

अज्ञान का सदन पुद्गल कर्म द्वारा,
होता विबोध घर आतम पूर्ण प्यारा ।
है कर्म से विवश हो कर गाढ़ सोता,
है कर्म के वश सुजागृत पूर्ण होता ॥३६०॥

पा कर्म के फल अतीव सदीव रोते,
मिथ्यात्व मंडित असंयत जीव होते ।
हैं डूबते भव पयोनिधि में दुखी हैं,
होते कभी क्षणिक पा सुख को सुखी हैं ॥३६१॥

आत्मा शुभाशुभ कभी पशु योनियों में,
पाता निवास कुछ काल सुरालयों में।
है कर्म ही नरक में इसको गिराता,
संसार के विपिन में सबको भ्रमाता ॥३६२॥

जो भी करे करम ही करता कराता,
संसार का रचियता बस कर्म भाता ।
ऐसा हि सांख्य मत 'सा' यदि तू कहेगा,
आत्मा अकारक रहा, भव क्या रहेगा ॥३६३॥

स्त्रीवेद को पुरुष वेद सदैव चाहे,
पुँवेद को नियम से तियवेद चाहे ।
आचार्य की परम पूत परंपरा है,
जो जैन से जबकि स्वीकृत सुन्दरा है ॥३६४॥

लो बार बार हम तो कहते इसी से,
है ब्रह्मलीन सब जीव सदा रुची से ।
है कर्म कर्म भरको बस चाहता है,
आत्मा जिसे सतत मात्र निहारता है ॥३६५॥

होती विनष्ट परसे परको मिटाती,
एकान्त से प्रकृति ही नव जन्म पाती ।
भाई अतः प्रकृति भी पर घात वाली,
है सर्व सम्मत रही जड़-गात-वाली ॥३६६॥

आत्मा रहा अमर वो मरता नहीं है,
औ मारता न पर को कहना सही है ।
तो कर्म कर्म भर को बस मारता है,
यों मात्र सांख्यमत आशय धारता है ॥३६७॥

ऐसा हि साँख्य मत से यदि बोलते हो,
साधू हुए अमृत में विष घोलते हो ।
रागादिका करन ही बन जाय कर्त्ता,
तो सर्वथा सकल जीव बने अकर्त्ता ॥३६८॥

आत्मा मदीय करता निजको निजी से,
ऐसा त्वदीय मत स्वीकृत हो सदी से ।
तो भी रहा मत नितान्त असत्य तेरा,
कूटस्थ नित्य मत में न हि हेर फेरा ॥३६९॥

है एक हेतु इसमें सुन ए हितैषी,
आत्मा रहा अमर नित्य असंख्य देशी ।
वो एकसा, न घटता बढ़ता नहीं है,
ऐसा कथन आगम का सही है ॥३७०॥

हो केवली समुद्घात त्रिलोक व्यापी,
आत्मा प्रमाण तनके, तनमें तथापि ।
ऐसी दशा फिर भला उसको बढ़ाता,
वो कौन सक्षम उसे क्रमशः घटाता ॥३७१॥

आत्मा त्रिकाल यदि ज्ञायक ही रहा हो,
वैराग्य राग किसको कब हो कहां हो ?
आत्मा कथंचित अतः विधि से सरागी,
हो बोध-धाम तज राग बने विरागी ॥३७२॥

आत्म सदा मिट रहा निज पर्ययों से,
शोभे वही ध्रुव किन्हीं ध्रुव सदगुणों से ।
एकान्त है यह नहीं ध्रुव दृष्टि द्वारा-
कर्त्ता वही इतर , पर्यय दृष्टि द्वारा ॥३७३॥

पर्याय से मिट रहा गुण से नहीं है,
आत्मा त्रिकाल ध्रुव भी रहता वही है ।
एकान्त है नहि, वही ध्रुव भाव द्वारा
भोक्ता, निरा क्षणिक पर्यय भाव द्वारा ॥३७४॥

भोक्ता वही न बनता बन कर्म कर्त्ता,
यों बौद्ध लोक कहते निज धर्म हर्त्ता ।
सिद्धान्त जो कि क्षण-भंगुर वादियों का,
उद्भ्रान्त है वितथ मात्र कुदृष्टियों का ॥३७५॥

भोक्ता निरा बस निरा बन जाय कर्त्ता,
सिद्धान्त बौद्ध यह है अघकार्य कर्त्ता ।
जो भी सहर्ष इसका गुण गीत गाते,
सद्धर्म से सरकते विपरीत जाते ॥३७६॥

शिल्पी स्वयं मुकुट आदिक को बनाते,
होते न तन्मय नहीं पर रूप पाते ।
मोहादि कर्म करता रहता निराला,
आत्मा कभी न तजता निज चित्त-शाला ॥३७७॥

हस्तादि से मुकुट आदिक को बनाते,
शिल्पी न शिल्पमय किन्तु हुए दिखाते ।
त्यों जीव कर्म करता निज इन्द्रियों से
तादात्म्य पै न रखता उन पुद्गलों से ॥३७८॥

शस्त्रास्त्र शिल्प करने गहता अनेकों,
शिल्पी न तन्मय बना वह भिन्न देखो ।
स्वीकारता यदपि कर्म तथापि, पापी,
आत्मा न कर्ममय आप बना कदापि ॥३७९॥

है शिल्प कार्य करता धन धान्य पाता,
शिल्पी अनन्य बनता नहिं, अन्य भाता ।
नाना प्रकार फल भोग शुभाशुभों के,
आत्मा न पुद्गल बना निज बोध खो के ॥३८०॥

आत्मा कुकर्म करता फल चाखता है,
ऐसी अवश्य कहती व्यवहारता है ।
पै भोगता व करता परिणाम को ही,
ऐसा सुनिश्चय कहे सुन ए विमोही ॥३८१॥

मैं कुण्डलादिक करूँ मन भाव लाता,
शिल्पी उसी समय तन्मय हो सुहाता।
रागादिभाव करता जब जीव ऐसा,
तद्रूप आप बन जाय तदीव ऐसा ॥३८२॥

ऐसा विकल्प कर आकुल हो उठेगा
शिल्पी सुनिश्चित दुखी बन वो मिटेगा।
रागाभिभूत बनता निज भूल जाता,
जो जीव दुःखमय हो प्रतिकूल जाता ॥३८३॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
है ज्ञेय ज्ञेय वश ज्ञेय प्रकाशता है,
वो ज्ञान, ज्ञान रह ज्ञायक भासता है ॥३८४॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
है दृश्य दृश्य बस दृश्य दिखा रहा है,
आत्मा सुदर्शक सुदर्शक भा रहा है ॥३८५॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
त्यों त्याज्य त्याज्य पर त्याग न तन्मयी है,
साधू स्वयं सहज संयत संयमी है ॥३८६॥

दीवार के वश नहीं खटिका सफेदी,
दीवार भिन्न वह भिन्न स्वयं सफेदी।
श्रद्धेय के वश नहीं समदृष्टि वाला,
साधू स्वदृष्टि वश ही समदृष्टिवाला ॥३८७॥

ऐसे विबोध व्रत दर्शन तीन प्यारे,
होते सुनिश्चय सदा अघ हीन सारे ।
संक्षेप में अब सुनो व्यवहार गाता,
सन्मार्ग साधक सुनिश्चय का विधाता ॥३८८॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रंग॰ यही दिलाती ।
विज्ञान से विशद् विश्व सुजानता है,
ज्ञाता बना सहज भाव सुधारता है ॥३८९॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजल रूप यही दिलाती ।
आलोक से सकल लोक अलोक देखा,
दृष्टा बना विमल दर्शन पा सुरेखा ॥३९०॥

चूना निसर्ग धवला शशिसी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही दिलाती ।
यों जान मान परको पर रूप ज्ञानी,
है त्यागता व भजता निजरूप ध्यानी ॥३९१॥

चूना निसर्ग धवला शशि सी सुहाती,
दीवार को उजलरूप यही बनाती ।
जीवादि तत्त्व भर में रख पूर्ण आस्था,
सम्यक्त्व धारक चले अनुकूल रास्ता ॥३९२॥

ज्ञानादि जो न निजकी करते उपेक्षा,
भाई तथापि पर की रखते अपेक्षा ।
सिद्धान्त में बस यही व्यवहार माना,
सर्वत्र यों समझना भवपार जाना ॥३९३॥

पंचेंद्रि के विषय चेतन से परे हैं,
सम्यक्त्व बोध व्रत मे नहिं वे भरे हैं ।
हे साधु चेतन अचेतन का तथापि,
कैसा विघात करता, नहिं वो कदापि ॥३९४॥

दृष्टाष्ट कर्म शुचि चेतन से परे हैं,
सम्यक्त्व बोध व्रत से नहिं वे भरे हैं ।
हे साधु चेतन अचेतन कर्म का भी,
कैसा विघात करता नहिं वो कदापि ॥३९५॥

काया अचेतन निकेतन हो तभी है,
सम्यक्त्व बोध व्रत मे न हि वो बनी है ।
हे ! साधु चेतन, अचेतन काय का भी,
कैसा विघात करता नहि हो कदापि ॥३९६॥

विज्ञान चारित सुदर्शन ये भले ही,
संमोह के वश मिटे क्षण में टले ही ।
होता न घात पर पुदगल का इसी से,
गाता यही समयसार सुनो रुची से ॥३९७॥

ज्ञानादि दिव्य गुण आतम मे अनेकों,
दीखे परन्तु परपुदगल में न देखो ।
सम्यक्त्व की मुनि विराग, पराग पीते,
पीते न राग विष, सो चिरकाल जीते ॥३९८॥

है जीव की यह अनन्य विभाववाली,
संमोह रोष रति की दुखदा प्रणाली ।
रागादि ये इसीलिए जड़में नहीं है,
हे साधु तेल, मिलता तिल में सही है ॥३९९॥

भाई बना न सकता परके गुणों को,
कोई पदार्थ, कहते जिन सज्जनों को ।
प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने गुणों से,
उत्पन्न हो लस रहे कि युगों-युगों से ॥४००॥

निन्दामयी स्तुतिमयी वचनावली है,
चैतन्य शून्य जड़ पुद्गल की कली है ।
हो रुष्ट तुष्ट उसको सुन मूढ़ ऐसा,
मैं निंद्य पूज्य खुद हूँ कर भूल ऐसा ॥४०१॥

जो शब्द रूप ढल पुद्गल द्रव्य भाता,
बोला मुझे न कुछ भी मुझसे न नाता ।
हे ! मूढ क्यों न इस भाँति विचारता है,
क्यों रोष-तोष कर होश विसारता है ॥४०२॥

वो शब्द हो अशुभ हो शुभ हो "सुनो" रे,
ऐसा कभी न कहता कि मुझे गुणों रे ।
जो कर्ण का विषय मात्र बना हुवा है,
होता गृहीत न, स्वतन्त्र तना हुवा है ॥४०३॥

वो रूप ! हो अशुभ हो, शुभ हो, लखो रे !
ऐसा कहे न कि मुझे दृग से चखो रे ।
जो नेत्र का विषय मात्र बना हुवा है,
होता गृहीत न स्वतंत्र तना हुआ है ॥४०४॥

वो गंध हो अशुभ यो शुभ सूँघ लेना,
ऐसा कहे न कि मुझे कुछ मूल्य देना ।
पै नासिका विषय केवल वो बनी है,
आती नहीं पकड़ में यह तो सही है ॥४०५॥

ऐसा तुम्हें न कहता रस वो कदापि,
चाखो मुझे अशुभ या शुभ हो तथापि ।
जिह्वेन्द्रिका विषय हो पर स्वाश्रयी है,
आता नहीं पकड़ में न पराश्रयी है ॥४०६॥

बोले न स्पर्श कि शुभा-शुभ यों किसी से,
संस्पर्श तू कर मुझे कर से रुची से ।
पै स्पर्श स्पर्श रहता वश में न आता,
हो काय का विषय वो पर भिन्न भाता ॥४०७॥

जानों हमें गुण शुभा-शुभ ये कदापि,
ऐसा न बाध्य करते तुमको अपापी ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं,
होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०८॥

अच्छे बुरे सब पदार्थ हमें पिछानों,
ऐसा कभी न कहते कि हमें सुजानो ।
वे बुद्धि के विषय मात्र बने हुए हैं,
होते नहीं वश स्वतंत्र तने हुए हैं ॥४०९॥

यों भाव की पकड़ से रह मूढ़ रीता,
जीता पिपासु बन, साम्य सुधा न पीता
सम्भोग का रसिक मात्र परानुरागी,
विज्ञान से विरत है विधि से सरागी ॥४१०॥

अज्ञान से विगत में निजभाव बाना,
भूला किया अशुभ या शुभ भाव नाना ।
शुद्धात्म को सजग हो उनसे छुड़ाना,
माना प्रतिक्रमण आज उसे निभाना ॥४११॥

भावी शुभा-शुभ विभाव विकार देखो !
होंगे प्रमादवश आतम में अनेकों ।
आत्मा स्वयं यदि उन्हें निज से हटाता,
है प्रत्यख्यान वह है सुख का विधाता ॥४१२॥

तत्काल जो कलुषराग तरंगमाला,
है जन्मती हृदय में दुख पूर्ण हाला ।
विज्ञान से बस उसे झट से हटाना,
आलोचना वह रही प्रभु का बताना ॥४१३॥

जो प्रत्यख्यान करता रुचिसंग साता,
साधू प्रतिक्रमण धार, सदा सुहाता ।
आलोचना सरसि में डुबकी लगाता,
चारित्र निश्चय जिसे शिर मैं नवाता ॥४१४॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को,
आत्मीय मान, चखता जड़ के दलों को ।
मोही नवीन विधि के दुख बीज बोता,
खोता विवेक चिर औ भव बीच रोता ॥४१५॥

आए हुए उदय में विधि को फलों को,
है भोगता तज कुधी निज में गुणों को ।
मैंने किया यह सभी जब मान लेता,
मोही नवीन दुख को पुनि माँग लेता ॥४१६॥

आए हुए उदय में विधि के फलों को,
जो भोगता तज कुधी निज के गुणों को ।
मोही दुखी यदि सुखी नित हो रहा है,
हा दुःख बीज विधि के पुनि बो रहा है ॥४१७॥

है जानता स्वपर को न कभी निजी से,
वो शास्त्र, ज्ञान नहिं हो सकता इसी से ।
पै शास्त्र, शास्त्र 'जड़' केवल नाम पाता,
पै ज्ञान, ज्ञान बस चेतन धाम भाता ॥४१८॥

ये शब्द ज्ञान नहिं हो सकते इसी से,
वे जानते न परको निजको निजी से,
पै शब्द शब्द पर पुद्गल है निराला,
पै ज्ञान ज्ञान बस चेतन है निहाला ॥४१९॥

रे ! रूप, ज्ञान नहिं है जिन हैं बताते,
वे क्योंकि आप-पर को नहिं जान पाते ।
तो रूप रूप जड़रूप निरा निरा है,
औ ज्ञान ज्ञान जगभूप निरा खरा है ॥४२०॥

ना जानता वह कभी कुछ भी यतः है,
रे वर्ण ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
हो वर्ण, वर्ण यह वर्णन वर्ण का है,
हो ज्ञान ज्ञान, मत दिव्य जिनेन्द्र का है ॥४२१॥

जो जानता न कुछ भी जड़ की निशानी,
है 'गंध' ज्ञान नहिं है यह वीर वाणी ।
हो 'गंध' 'गंध' भर ही यह गंध गाथा,
हो ज्ञान ज्ञान ध्रुव जीवन संग-नाता ॥४२२॥

ना जानता रस कभी रस को यतः है,
होता न ज्ञान, रस वो रस ही अतः है ।
है ज्ञान भिन्न रस भिन्न निरे निरे हैं,
ऐसा कहे जिन हुए अघ से परे हैं ॥४२३॥

वो स्पर्श ज्ञान है नहिं कहते यमी है,
हो जानता स्वपर को न यहीं कमी है ।
हो स्पर्श स्पर्श पर हो जड़ मात्र न्यारा,
हो ज्ञान ज्ञान गुण चेतन पात्र प्यारा ॥४२४॥

ना कर्म जान सकता कुछ भी यतः है,
वो कर्म, ज्ञान नहिं हो सकता अतः है ।
है कर्म कर्म पर पुद्गल धर्म-वाला,
है ज्ञान ज्ञान शुचिचेतन-शर्मशाला ॥४२५॥

धर्मास्तिकाय वह ज्ञान नहीं अतः है,
वो जानता स्वपर को न कभी यतः है ।
धर्मास्तिकाय वह भिन्न सदा रहा है,
है ज्ञान भिन्न मत यों जिनका रहा है ॥४२६॥

होता न ज्ञान यह द्रव्य अधर्म ज्ञाता-
औचित्य है न कुछ भी वह जान पाता ।
अत्यन्त भिन्न चिर द्रव्य अधर्म भाता,
है ज्ञान भिन्न पर से रखता न नाता ॥४२७॥

वो काल ज्ञान नहिं हो सकता अतः है,
वो काल जान सकता कुछ भी यतः है ।
पै काल काल जड़ ही चिरकाल भाता,
लो ज्ञान ज्ञान मणिमाल निहाल साता ॥४२८॥

आकाश जान सकता कुछ भी नहीं है,
आकाश ज्ञान नहिं हो सकता सही है ।
आकाश भिन्न यह ज्ञान विभिन्न प्यारा,
देते जिनेश जग को उपदेश सारा ॥४२९॥

होता ना ज्ञान यह अध्यवसान सारा,
वो जानता न कुछ भी जड़ का पिटारा ।
बोले जिनेश वह अध्यवसान न्यारा,
चैतन्य धाम यह ज्ञान प्रमाण प्यारा ॥४३०॥

है जानता सतत जीव अतः प्रमाणी ।
है शुद्ध ज्ञान घन ज्ञायक पूर्ण ज्ञानी ।
होता न ज्ञान उस ज्ञायक से निराला,
जैसा अनन्य इस दीपक से उजाला ॥४३१॥

विज्ञान संयम सुदर्शन है सुहाता,
औ द्वादशांग श्रुत पूर्ण वही कहाता ।
विज्ञान साधुपन धर्म अधर्म भी है,
ऐसा सदैव कहते बुध ये सभी है ॥४३२॥

आत्मा अमूर्त वह मूर्त कभी नहीं है,
आहार ग्राहक अतः बनता नहीं है ।
आहार मूर्त जड़ पुद्‌गल धर्म वाला,
पीते मुनीश कहते शिव शर्म-प्याला ॥४३३॥

होता सदोष गुण है पर द्रव्य ग्राही,
ऐसा सदा समझते शिवराह राही ।
निर्दोष आत्म गुण निश्चय से किसी को,
पै त्यागता न गहता, गहता निजी को ॥४३४॥

ना तो चराचर सजाति विजातियों को,
जो छोड़ती न गहती पर वस्तुओं को ।
आदर्श सी विमल निर्मल चेतना है,
पूजूँ उसे विनशती चिर वेदना है ॥४३५॥

ये दीखते जगत में मुनिसाधुवों के,
हैं भेष, नैक विधि भी गृहवासियों के ।
वे अज्ञ मूढ़ इनको जब धारते है,
है मोक्ष मार्ग यह यों बस मानते हैं ॥४३६॥

पर्याप्त केवल नहीं तन नग्नता है,
तू मान पंथ शिवका निज मग्नता है ।
होते निरीह तन से अरिहन्त तातै,
चारित्र बोध दृग लीन स्वगीत गाते ॥४३७॥

पाखंडिलिंग गृहिलिंग धरो तथापि ।
वो मोक्ष मार्ग नहिं हो सकता कदापि ।
तीनों मिले चरितदर्शन बोध सोही,
है मोक्ष-मार्ग कहते जिन वीत-मोही ॥४३८॥

सागार और अनगार पदानुराग,
वाक्काय से मनस से झट त्याग जाग ।
सम्यक्त्व बोध व्रत में शिवपंथी में ही,
भाई विहार कर तो सुख हाथ में ही ॥४३९॥

ध्याओ निजात्म नित ही निज को निहारो ।
अन्यत्र छोड़ निजको न करो विहारो ।
संबंध मोक्ष पथ से अविलंब जोड़ो,
तो आपको नमन हो मम ये करोड़ो ॥४४०॥

गार्हस्थ्यलिंग भर में मुनिलिंग में ही,
जो मुग्ध साधक रहा बहिरंग में ही ।
अज्ञात ही समयसार उसे रहेगा,
संसार में भटकता दुख ही सहेगा ॥४४१॥

दो द्रव्य भावमय लिंग नितान्त पाये-
जाते विमोक्ष पथ में 'व्यवहार' गाये ।
पै लिंग का न शिव के पथ में सहारा,
'आत्मा' अलं सहज निश्चय ने पुकारा ॥४४२॥

साधु स्वयं समयसार सुना सुनाता,
सारांश आदर सदा गुणता गुणाता ।
पीता सदा समयसार-सुधा-सुधारा,
सानन्द शीघ्र तिरता भवसिंधु-दारा ॥४४३॥

समाप्त

हे ! कुन्द-कुन्द गुरु कुन्दनरूपधारी,
स्वीकार हो कृति तुम्हें कृति है तुम्हारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूँ तज दूँ अविद्या ॥

चेतना के गहराव में

परम पूज्य आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी के पुनीत सानिध्य में, पूज्य जयसेनाचार्य कृत सुगम-सरस-समरसपूरित तात्पर्यवृत्ति के माध्यम से ग्रन्थराज समयसार का रसास्वादन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। तदुपरान्त पूज्य अमृतचन्द्र-सूरि कृत आत्मख्याति को देखने की मन में अभिरुचि हुई। गुरु महाराजश्री के चरणों में सविनय भावना अभिव्यक्त की। उदार हृदय वाले, करुणा से ओत-प्रोत, वात्सल्य की साकार मूर्ति गो-माता जैसी बछड़े को स्तन पिलाती है वैसे ही गुरुवर ने मुझे अपूर्व अध्यात्मरस से परिपूरित, सहज शान्त सुख का विधान, आत्म-ख्याति टीका का रसास्वादन कराया। फलस्वरूप आत्म ख्याति आत्म-सात हुई। चेतना की लीला ज्ञात हुई। तप्त था, तृप्त हुआ। क्लान्त था, शान्त हुआ। मेरा आत्मा तुष्ट हुआ, संतुष्ट हुआ। निरन्तर अभय की अनुभूति के साथ निराबाध। यत्र-तत्र-सर्वत्र स्वतन्त्र यात्रा कर रहा हूँ। एकाकी यात्री।

स्वय को अवगाहित कर रहा हूं!
अतल अगम, मन चेतना के गहराव में!
मस्तक के बल पर,
दोनों हाथो से,
नीचे से नीर को चीरता हुआ,
चीरता हुआ
ऊपर की ओर फेंकता हुआ,
फेंकता हुआ,
जा रहा हू,
आर-पार होने जा रहा हूं।
अपार की यात्रा करने जा रहा हूँ।
पथ मे कोई आपत्ति नहीं है।
आपत्ति की सामग्री अवश्य,
ऊपर-नीचे,
आगे-पीछे
बिछी है।
किन्तु अभी कोई ओर!
छोर
दृष्टि में नहीं आ रही है,
और भी तो नहीं।
चारों ओर मौन का साम्राज्य।
विस्तृत वितान
बस!
सब कुछ स्वतन्त्र
अपनी-अपनी सत्ता को संजोये हुए
सहज सलील समुपस्थित।
परस्पर में किसी प्रकार का टकराव नहीं,
लगाव के भाव नहीं।
अपने अपने ठहराव में।
अपने अपने संवेदन
अपने अपने भाव
पर से भिन्न
अपने मे अभिन्न
निरभ्र आकाश-मण्डल में-
उडुगण की भाति
ज्ञानादि उज्ज्वल उज्ज्वल गुणमणियां
अवभासित है,
अवलोकित है।

आलोक का परिणमन यहां
घनीभूत प्रतीत होता है।
लो!
यहीं पर मिथ्यात्व रूपी मगर-मच्छ से भी
साक्षात्कार।
किन्तु उधर से आक्रमण नहीं,
कटाक्ष नही
संघर्ष के लिये
कोई आमन्त्रण भी नहीं।
अनन्तकाँटों से निष्पन्न
उसका शरीर है।
कठोरता का शुद्ध परिणमन
कठोरता की परम सीमा है।
परन्तु मृदुता विरोध नहीं करती।
विरोध में बोध कहां ?
बोध बिना शोध कहां ?
विरोध तो अज्ञान का प्रतीक,
अन्धकार ॥
ओ!
नयन-गवाक्षों से
फूटती हुई
अबाधित ज्योति किरण
मेरी ओर चान्दी की पतली धार सी,
आ रही है।
सानन्द आसीन है,
सत्तागत अनन्तानुबन्धी सर्प
कंदर्प-दर्प से पूरा भरा है।
ज्ञान-ज्ञेय का सहज सम्बन्ध हुआ।
शुद्ध-सुधा
और विष का संगम हुआ।
यह ज्ञान के लिए अपूर्व अवसर है।
ज्ञान न तो दुखित हुआ,
न सुखित हुआ
किन्तु यह सहज
विदित हुआ
कि
ध्यान-ध्येय के सम्बन्ध से भी
ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध
महत्वपूर्ण है
पूर्ण है।
सहज है।
कोई तनाव नहीं।
इसमें केवल स्वभाव है।
भावित भाव।
ध्येय एक होता है।
जब ध्यान ध्येय में उतरता है,
तब ज्ञान संकीर्ण होता है,
ससीम होता है।
संकुचित ज्ञान
अनंत का मुख, छू नहीं सकता।
अत: ज्ञान प्रवाहित होता हुआ,
अनाहत बहता हुआ
जा रहा है।
सहज अपनी स्वाभाविक गति से।
अद्भुत है।
अननुभूत है।
विकार नहीं,
निर्विकार है।
तप्त नहीं,
क्लान्त नहीं।
तृप्त है,
शान्त है।
जिसमें नहीं ध्यान्त है।
जीवित है

जागृत भी नितान्त है।
आपने में विश्रान्त है।
यह विभूति!
अविकल, अनुभूति!
ऐसे ज्ञान की शुद्ध परिणिति का ही
यह परिपाक है,
कि उपयोग का द्वितीय पहलु,
दर्शन ने अपने चमत्कार का परिचय देना,
प्रारम्भ किया है।
अब भेद
पतझड़ होता जा रहा है,
अभेद की बसन्त क्रीडा प्रारम्भ।
द्वैत के स्थान पर अद्वैत उग आया है।
विकल्प मिटा,
अविकल्प उठा।
आर-पार हुआ,
तदाकार हुआ
निराकार हुआ,
समयसार हुआ
वह मैं !!!
"मैं" मे सब,
सब मे 'मैं'
प्रकाश मे प्रकाश का अवतरण।
विकाश में विनाश का उत्सर्गित होता हुआ,
सम्मिलित होता हुआ,
सत साकार हो उठा।
आकार में निराकार हो उठा।
इस प्रकार
उपयोग की लंबी यात्रा
मत, त्वत् और तत् को
चीरती हुई
पार करती हुई,
आज !!!
सत् में विश्रान्त है।
पूर्ण काम है।
अभिराम है।
हम नहीं,
तुम नहीं,
यह नहीं,
वह नहीं,
मैं नहीं,
तू नहीं
सब घटा,
सब पिटा,
सब मिटा,
केवल उपस्थित
सत, सत सत है! है! है!

❑ ❑

ज्ञान से अज्ञात की ओर जाने के लिए भगवत् कुन्दकुन्द आचार्य कृत समय-सार पथ एवं पाथेय का कार्य करता है। इसका आश्रय लेकर ही सत्-पथ-पथिक, ध्रुव-बिन्दु की ओर गतिमान होता हुआ, समुचित -समय पर कृत-कृत्य हो जाता है। सत्य तथ्य पाता है। ऐसे अपूर्व ग्रन्थराज समयसार के ऊपर, सर्वप्रथम अमृत चन्द्र सूरिजी ने आत्म-ख्याति नामक वृहत संस्कृत टीका का अविमान किया जो अपने आप में एक अनुपम निधि है। मैंने जब इसका अवलोकन किया, तब भाषा की गहनता का पूर्ण परिचय मिला और साथ-साथ अनुपम पद लालित्य ने मन को मोहित किया। इसी पद लालित्य ने इस कृति का बार-बार अवलोकन कराया। फलस्वरूप विषय विदित हुआ, अवगत हुआ, आत्मा से सहज संगम हुआ।

समय-सार

हम भाषा के माध्यम से मन में उठते हुए विचारों को दूसरों तक सहज एवं स्पष्टरूपेण भेज सकते हैं। इसी प्रकार ग्रंथ के गूढतम विषयों को टीकाओं भाष्यों एवं अनुवादों के माध्यम से अवगत करा सकते हैं। भाव स्पष्ट करने की पद्धति भिन्न-भिन्न हो सकती है। कोई लेखक गद्य के, कोई पद्य के, कोई अभय नाटक (चम्पू) के माध्यम से ग्रन्थ के आशय को उद्घाटित करते हैं। प्रासंगिक समयसार पर लिखी हुई आत्म-ख्याति टीका भी नाटक-पद्धति का अनुकरण करती है जो विश्व का प्रथम संस्कृत नाटक काव्य माना जा सकता है। अतः इस नाटक काव्य के अन्तर्गत आई हुई २७८ भिन्न-भिन्न कारिकाओं का (काव्यों का) पृथक रूपेण संकलन कर ग्रन्थ का रूप देना नाटक काव्य-प्रणाली को समाप्त-लुप्त करना है जो इष्ट नहीं है। तथापि हमने इन कारिकाओं का पृथक जो पद्यानुवाद किया है, उसका कारण भिन्न है। उसका स्पष्टीकरण यहीं आगे करेंगे।

आचार्य कुन्दकुन्द की तीन रचनायें बहुत प्रौढ मानी जाती हैं। एक प्रवचन सार, दूसरा पंचास्तिकाय और तीसरा समयसार। इन्हीं तीन रचनाओं पर पू. अमृतचन्द्र सूरि ने विशद्-संस्कृत टीकायें लिखी हैं जो भाषा की दृष्टि से बहुत क्लिष्ट बन पड़ी है और शब्दान्वयी नहीं होने से प्रत्येक पाठक की, मूल तक गति नहीं हो पाती है। इन्हीं समयसार आदि पर पूज्य जयसेन आचार्य कृत टीकायें, जो शब्दान्वयी है, उपलब्ध होती हैं, अतः सुगम सरस होने से मूल ग्रन्थों की कर्ता-कर्त्री खोलती है। कुन्दकुन्द से परिचय कराती है। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस अभय टीकाओं में मूल गाथाओं की संख्या समान नहीं मिलती।

पूज्य आ. अमृतचन्द्र की टीकाओं में कम और आचार्यवर्य जयसेनजी की टीकाओं में अधिक। (बहुत कुछ विचार करने के उपरान्त भी रहस्य खुल नहीं रहा था) किन्तु जब प्रवचन-सार की चूलिका अवलोकन कर रहा था, उस समय एक विशेष प्रसंग पर ध्यान गया- वह प्रसंग है "स्त्री-मुक्ति निषेध का"। वहाँ पर एक साथ १०-१२ गाथायें छूटी है जिन पर आ. अमृतचन्द्र सूरिजी की टीका उपलब्ध नहीं होती। जबकि उन सभी प्रासंगिक गाथाओं की टीका आ. जयसेनजी ने लिखी है। ज्ञात होता है कि आ. अमृतचन्द्रजी को स्त्री मुक्ति निषेध का प्रसंग इष्ट प्रतीत नहीं हुआ। आगे जाकर उभय टीकाओं की समाप्ति पर क्रमश: दो प्रशस्तिया भी मिलती है। आ. अमृतचन्द्रसूरि कृत टीका सम्बन्धी जो प्रशस्ति लिखी गई है, उसमें काष्ठा संघ की परम्परा का ज्ञान कराते हुये आ. श्री जयसेनजी को मूल संघ के अन्तर्गत माना गया है। इस प्रकार उभय प्रशस्तियों से ज्ञात होता है कि आ. श्री जयसेनजी मूल संघ के और अमृतचन्द्र सूरिजी काष्ठा संघ के सिद्ध होते हैं। टीकागत गाथायें कम बढ क्यों ? इस विषय की अन्वेषणा ने मुझे संघ निर्णय कराया। इससे एक नवीन विषय उपलब्ध हुआ।

मनोगत भावों को भाषा का रूप देना तो कठिन है ही, उन्हें लेखबद्ध करना उससे भी कठिन है। भाषा को काव्य के साचे में ढालना तो कठिन से कठिनतर कार्य है। प्रत्येक लेखक को काव्य कला प्राप्त नहीं होती। काव्य-कला निष्णात लेखनी से, काव्य के नियमों का उल्लंघन किये बिना, भाषा एक विशेष लय में ढ़लती जाती है और वही काव्य बनता है। श्राव्य बनता है। सामान्यत: पद्यात्मक रचना को ही काव्य संज्ञा प्राप्त है। किन्तु काव्य का यह सही लक्षण नहीं है। कवे: कृति: काव्यम। कवि की प्रत्येक कृति काव्य हैं। चाहे गद्य हो, चाहे पद्य वह काव्य है जिससे पर्याप्त मात्रा में लय-ध्वनिया फूटती हों। आत्म-ख्याति भी एक अनुपम काव्य है जो अध्यात्म रस से भरपूर है। इस काव्य में, नाटक की पद्धति होने से, प्रत्येक अधिकार में कुछ पद्य काव्य भी हैं जो काव्य-रसिक-पाठक के चंचल मन को अविचल बनाते हैं और अध्यात्म की गहराइयों में सहज ही ले जाते हैं। उन पद्य काव्यों की सख्या २७८ है। इन्हीं का संकलन आज वर्तमान में कलशा के नाम से ख्याति प्राप्त है। किन्तु ये भिन्न-भिन्न छन्दों-बन्धनों से अलंकृत हैं। कहीं अनुष्टुप आर्या, द्रुतविलंबित आदि छन्द हैं, तो कहीं मन्दाक्रान्ता, शार्दूल, शिखरिणी बसन्ततिलका, स्रग्धरा, मालिनी आदि छन्द हैं। इससे यह भी ज्ञात होता है कि आचार्य श्री को केवल छन्द शास्त्र का ही ज्ञान नहीं, अपितु उन पर अधिकार भी है।

लयात्मक काव्य का (अतुकान्त) आविष्कार

कुछ दिनों तक इस कलश का प्रतिदिन पाठ भी किया करता था। फलस्वरूप कुछ काव्य कण्ठस्थ भी हुए थे। किन्तु १८८ वां काव्य, जिसमें यद्यपि लय की धारा प्रवाहित है, कण्ठस्थ होना तो दूर रहा, किन्तु कण्ठ को ही पकड़ने लगा, लगा मुझे, इस काव्य में अवश्य दोष है या मुझे इस छन्द का ज्ञान नहीं है। तब भिन्न-भिन्न संस्थाओं से प्रकाशित समयसार का एवं कलशों का अवलोकन प्रारम्भ किया। किन्तु कुछ भी हाथ नहीं लगा। एक दिन निर्णय सागर मुद्रणालय से मुद्रित प्रथम गुच्छक का अवलोकन कर रहा था। तब प्रासंगिक काव्य को संख्या क्रम में तो स्थान मिला था, परन्तु इस काव्य के सम्मुख प्रश्नार्थक चिन्ह अवश्य लगा था तब लगा कि इस काव्य में कुछ ना कुछ रहस्य अवश्य है। इसी वर्षा योग की बात है, सिद्ध क्षेत्र नैनागिरि पर डा. पन्नालालजी साहित्याचार्य से भी इस काव्य के सम्बन्ध में चर्चा हुई। आपने भी यह कहा कि आज तक इसके सम्बन्ध में कुछ निर्णय नहीं हुआ कि यह गद्य है या पद्य और कुछ ऐसे ही प्रकरण हरिवंश आदि पुराणों में भी उपलब्ध होते हैं। पंडितजी के विचार सुनकर और भी अभिरुचि बढ़ गई कि इस काव्य के सम्बन्ध में सही-सही निर्णय लेना ही होगा। अत: इस ओर अविरल चिन्तन की धारा चलती ही रही। उसी का यह सुफल मानता हूँ कि आकस्मिक, गत तीन-चार वर्षों पूर्व की बात स्मृति में उतर आई। वह भी "निराला" की अनामिका और तार सप्तक अज्ञेय का संपादन। इन कृतियों में भी भाषा न तो गद्य में ढली है और न तो छन्दों-बद्ध पद्य में सब बन्धनों से मुक्त, स्वतन्त्र। किन्तु भाषा में उच्छृंखलता, स्वच्छन्दता नहीं, एक लय बद्ध-धारा में भाषा अपनी सहज गति से प्रवाहित है। यद्यपि सर्वप्रथम इन कृतियों का हिन्दी साहित्य क्षेत्र में समादर नहीं हुआ, तथापि नूतन-आविष्कार होने से दिनों-दिन लोकप्रियता बढ़ती गई और ये कृतियां विशेष सम्मानित हैं इसीलिए निराला आदि कवियों को हिन्दी कवि-जगत् लयात्मक नूतन काव्यों के आविष्कर्ता स्वीकार करता है।

इससे यह पूर्ण निर्णय होता है कि प्रासंगिक कलशा काव्य सदोष नहीं किन्तु निर्दोष, एक लयात्मक काव्य है जो हिन्दी लयात्मक काव्यों की अपेक्षा प्राचीनतम है। ऐसी स्थिति में आ. पूज्य अमृतचन्द्रजी संस्कृत-लयात्मक काव्य के आद्य आविष्कर्ता हैं। अत: केवल जैन समाज के लिए ही नहीं अपितु दिगम्बर साधुओं के लिए भी यह गौरव का विषय है।

ज्ञान आत्मा का अनन्य गुण है। वह आत्मा से किसी भी तरह कभी पृथक् हो नहीं सकता। उसका कार्य केवल ज्ञेय-भूत पदार्थों को जानना है ज्ञेय भूत पदार्थ स्व भी हो सकता है पर भी। किन्तु समयसार में, आत्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए, ज्ञान और तद्वान ज्ञानी की स्तुति की गई है। वह ज्ञान सामान्यत: तीन प्रकार का है। शब्द-ज्ञान, अर्थ ज्ञान और ज्ञानाभूति। जैसाकि 'आत्मा' इस शब्द का स्वर व्यंजन के साथ ज्ञान होना, शब्द ज्ञान है - अर्थात् इस ज्ञान के साथ अर्थ ज्ञान और ज्ञानानु-भूति का सम्बन्ध नहीं रहता। केवल तोते के समान 'आत्मा' 'आत्मा' रटना होता है। इस ज्ञान के उपरान्त, अर्थ ज्ञान होता है। यह पदार्थ के स्वरूप, लक्षण, गुण धर्म के सम्बन्ध में परोक्ष रूप ज्ञान कराता है। जैसेकि आत्मा अमूर्त है, ज्ञान-दर्शन स्वभाव वाला है इत्यादि। इन दोनों ज्ञानों के साथ आत्म पदार्थ सम्बन्धी यथार्थ श्रद्धान तो हो सकता है, किन्तु तदनुभूति का कोई नियम नहीं है। हां, प्राप्त श्रद्धान के बल पर ही उसकी यात्रा ज्ञानानुभूति के लिए होगी। ऐसी ज्ञानानुभूति जब तक परिग्रह एवं प्रमाद-दशा रहेगी तब तक केवल गृहस्थ को ही नहीं अपितु दिगम्बर मुनियों के लिए भी प्राप्त नहीं होगी। परिग्रहवान् को भी यदि ज्ञानानुभूति (आत्मानुभूति) का लाभ हो जाये तो कैवल्य प्राप्ति भी होना चाहिए, क्योंकि कैवल्य का कारण ही ज्ञानानुभूति, आत्मानुभूति है। अत: गृहस्थ दशा में ज्ञानानुभूति मानना कैवल्य ज्ञान को प्रकारान्तर से उसी दशा में मानना है। यह महान दोष है एवं सिद्धान्त विरुद्ध है संप्रति ऐसे भी अध्यात्म प्रेमी बन्धु हैं जो शब्द-ज्ञान एवं अर्थ-ज्ञान भर को ज्ञानानुभूति- आत्मानुभव मान कर विषय वासना में आपाद-कण्ठ डूबे हैं और बताते हैं कि विषय-वासना तो चरित्र-मोहनीय का परिणाम है। हम तो ज्ञान में व्यस्त हैं, मस्त हैं। एकान्त से उनका भी यह कहना दोषपूर्ण नहीं है क्योंकि समय-सार ही एक ऐसा ग्रंथ है कि अच्छे-अच्छे विद्वान भी उसके सही-सही अर्थ से भाव से वंचित रह जाते हैं। आज से वर्षों पूर्व की बात है कि समयसार का गहन अध्ययन करते हुए भी पं. कविवर बनारसीदासजी बिना रस के ही रहे। उन्हीं के शब्दों में देखिए !!

करनी को तो रस मिट्यो आयो न निज को स्वाद।
भई बनारसी की दशा जैसो ऊट को पाद॥

समयसार, समयसार कलश आदि इन ग्रन्थों में, सम्यगदृष्टि, ज्ञानी, सम्यगदृष्टि का भोग, निर्जरा का कारण, इत्यादि प्रयोगों का बाहुल्य है। अत: पाठक सहज ही यह निर्णय ले लेता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गृहस्थावस्था में भी सम्भव है। अत: पूर्वकृत-कर्मों की निर्जरा होगी ही। भोग भले, भोगते रहो,

उसमें कुछ होने वाला नहीं है इत्यादि। इससे विदित होता है कि पं. बनारसीदासजी परम्परा अभी अबाधित चल रही है। बुद्धिमानों को यह विचार करना चाहिए कि भोग निर्जरा कारण हो तो बन्ध का कारण क्या होगा ? और 'सम्यग्दृष्टि का भोग' निर्जरा का कारण है तो कौन से सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण है ? क्योंकि शुभोपयोग में आया हुआ सम्यग्दृष्टि जब देव गुरु आदि आराध्यों की आराधना करता है तब उसका भी उपयोग बन्ध का कारण है, ऐसा आगम में उल्लेख मिलता है। बात यह है कि सम्यग्दृष्टि मुनि या श्रावक के पूजन आदि आवश्यक तो बन्ध का कारण और सम्यग्दृष्टि का भोग निर्जरा का कारण, यह किस दशा में ?

बन्धुओं ! इन समयसारादि अध्यात्म ग्रन्थों में वीतरागी सम्यग्दृष्टि को ही ग्रहण किया है और वीतराग चरित्र के साथ अविनाभाव सम्बन्ध रखने वाला वीतराग विज्ञान ज्ञानानुभूति या आत्मानुभव स्वीकार किया है। अत: ये रत्नत्रय की निधियां अपरिग्रही निःसंग दिगम्बर मुनियों में ही उपलब्ध हो सकती हैं। उनका जो पूर्व कर्म के उदय से अनिच्छापूर्वक पंचेन्द्रिय विषयों का भोग भोगना होता है वह निर्जरा का कारण होता है रागपूर्वक भोग तो केवल बन्ध का ही कारण है।

अत: गृहस्थ दशा में राग के साथ भोगानुभूति तो संभव है किन्तु ज्ञानानुभूति, उपयोगानुभूति तो त्रिकाल असंभव। हां ज्ञानानुभूति या आत्मानुभूति ही उपादेय है, ऐसी भावना वह गृहस्थ सराग सम्यग्दृष्टि संध्याकालीन सामायिकों में भा सकता है, कर सकता है, करता ही है, किन्तु भावना और अनुभूति, इस दोनों में उतना ही अन्तर है, जितना अन्तर जल के चिन्तन में और जलपान में। अस्तु !

इसी विषय को पुष्ट एवं स्पष्ट करने वाले प्रसंग कलशा का अनुवाद देखिए !

ज्ञान बिना, रट निश्चय, निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया-कलापि भी ये डूबे, डूबे संयम से ऊबे ।
प्रमत बन कर कर्म न करते अकम्प, निश्चल शैल रहें,
आत्म-ध्यान मे लीन किन्तु मुनि, तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

वीतराग-विज्ञान को स्वीकार किए बिना विषय-कषाय रूपी दलदल में फंसे हुए, अपने आपको ज्ञानी मानने वाले, दम्भी निश्चय-वादी, केवल निश्चय की दिन रात रट लगाते लगाते डूब गये अर्थात संसार समुद्र को पार नहीं कर पाये। उसी प्रकार वीतराग की भूमिका का बहि निर्वाह करने वाला-दिगम्बरत्व को स्वीकार करते हुए भी कुछ ऐसे मुनि, जो मात्र बाह्य क्रिया काण्ड में दिन रात लीन हैं, वे भी

भव-कूल-किनारा नहीं पाये। डूब गये। और संयम से भयभीत होने वाले भी संसार सागर में डूब गये! किन्तु ख्याति-पूजा-लाभादिक की वांछा नहीं रखने वाले सभी प्रकार के प्रमादों से दूर, अप्रमत दशा का अनुभव करते हुए निर्विकल्प-समाधि में लीन, पर्वत के समान निश्चल, आत्मानुभूति के बल पर वीतरागी ज्ञानी मुनिराज तैर रहे हैं। वे अब संसार-सागर में डूब नहीं सकते।

ऐसे ही अनेक प्रसंग शुभचन्द्राचार्य कृत ज्ञानार्णव में भी उपलब्ध होते हैं। यथा-

रत्नत्रयमनासाद्य यः साक्षादध्यातुमिच्छति ।
खपुष्पैः कुरुते मूढः स वन्ध्या सुत शेखरम् ॥

आकाश के फूलों से वन्ध्या के पुत्र के लिए सेहरा (मुकुट) बनाने का प्रयास करने वाला जैसा मूर्ख माना जाता है, वैसा ही रत्नत्रय अर्थात महाव्रत को स्वीकार किए बिना जो आत्मध्यान की इच्छा करता है वह मूर्ख माना जाता है।

अनिषिध्याक्ष सदोह यः साक्षात मोक्तुमिच्छति ।
विदारयति दुर्बुद्धि स शिरसा महीं धरम् ॥

इन्द्रिय-दमन किये बिना, जो व्यक्ति मोक्ष-ध्यान के फल को प्राप्त करने में उद्यत हुआ है वह उसी तरह हास्य का पात्र है जिस तरह कोई मूढ-मति-हीन, मस्तक के बल पर पर्वत को फोड़ने में रत है। यह निश्चित है कि पर्वत के बदले में उसका मस्तक ही फूटेगा।

अतः वीतराग स्वसंवेदन, वीतराग सम्यग्दर्शन, वीतराग चारित्र, शुद्धोपयोग, स्वरूपाचरण, शुद्ध ज्ञान चेतना, शुद्धात्मानुभूति, निर्विकल्प समाधि, आत्मा-ध्यान आदि, इस अपूर्व निधियों का अधिकारी-स्वामी कौन हो सकता हैं यह गूढ रहस्य उद्घाटित हो इसी भावना से कलशा का पृथक रूपेण भावानुवाद (पद्यानुवाद) किया है। किन्तु अब अनुभव कर रहा हूँ कि इन विषयों को और स्पष्ट करने हेतु कलशा, भले ही छोटा हो, परन्तु भाष्य नितान्त आवश्यक है। देखो !! समय पर !!! सम्भावना है!

प्रेरणा

सर्व सेवा संघ, वाराणसी से प्रकाशित समणसुत्तम का पद्यानुवाद "जैन गीता" के नाम से जो किया है, उसी पूर्वार्द्ध की पाँडुलिपि सतना में पूर्ण की। उसे देख कर स्थानीय धर्म-प्रेमी श्री धीमान नीरजजी ने कहा कि जैन गीता को पूर्ण करने के उपरान्त हिन्दी के प्रचलित छन्द में कलशा का पद्यानुवाद हो तो एक नई चीज हम लोगों को उपलब्ध होगी। उत्तर में मैंने और कुछ नहीं कहा देखो !!! समय पर जो बन जाये !! अभी तो जैन गीता पूर्ण करना है।

उसी समुचित प्रेरणा का यह सुफल है कि "जैन गीता" को सिद्ध क्षेत्र कुण्डल गिरि पर पूर्ण करने के उपरान्त, उसी पवित्र स्थान पर, ग्रन्थराज समयसार का भी पद्यानुवाद "कुन्द कुन्द का कुन्दन" के नाम से पूर्ण किया। आज यह अध्यात्मरस से भरपूर कलशा का पद्यानुवाद "निजामृत-पान" के रूप में प्रस्तुत है जो "मेरी-भावना" के लय पर है तथा इस छन्द का नाम आचार्य गुरुवर ज्ञानसागरजी महाराज की पुण्य स्मृति में ज्ञानोदय रखा है। हां ! यह अनुवाद कहीं-कहीं पर शब्दानुवाद बन पड़ा, तो कहीं-कहीं पर भाव निखर आया है। आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि "निजामृत पान" का पान कर भव्य मुमुक्षु पाठकगण भावातीत ध्यान में तैरते हुए अपने आप को उतरंगित पायेंगे, चेतना में समर्पित पायेंगे।

यह सब स्व. वयोवृद्ध, तपोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध आचार्य गुरुवर श्री ज्ञानसागरजी महाराजश्री के प्रसाद का परिपाक है । परोक्ष-रूप से उन्हीं के अभय चिन्ह-चिन्हित-युगल कर-कमलों में "निजामृतपान" का समर्पण करता हुआ.................।

गुरुचरणारविन्द चंचरीक
ॐ शुद्धात्मने नम:
ॐ निरंजनाय नम:
ॐ जिनाय नम:
ॐ निजाय नम:

- आचार्य विद्यासागर

वीर जयन्ती
(चैत शुक्ला त्रयोदशी)
वीर सं. २५०४
दमोह (कुण्डलपुर)

निजामृतपान

निजामृत पान

मूल : समयसार कलश (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य अमृतचंदजी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

निजामृतपान

मंगलाचरण

दोहा:

देवशास्त्र गुरु स्तवन

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर-नर-पशु-गति सब मिटे, गति पंचम-गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चांदनी, से जिन-धुनि, अति शीत ।
उसका सेवन मैं करूं, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय ।
यह मुनि, मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय ? ॥३॥

श्री कुन्द कुन्दाय नमः

"कुन्द कुन्द" को नित नमूं, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री अमृतचन्द्राय नमः

"अमृतचन्द्र" से अमृत है, झरता जग अपरूप ।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥५॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

प्रयोजन

अमृत-कलश का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र कामना मम रही, मोह मिटे परमाद ॥७॥

ज्ञानोदय-छन्द

मणिमय, मनहर निज अनुभव से झग झग झग झग करती है ।
तमो रजो अरु सतोगुणों के गण को क्षण में हरती है ।
समय समय पर समय-सार मय चिन्मय निज ध्रुव मणिका को,,
नमता मम निर्मम मस्तक, तज मृणमय जड़मय मणिका को ॥१॥

गाती रहती गुरु की गरिमा अगणित धारे गुण गण हैं,
मोह मान मद माया मद से रहित हुए हैं ये जिन हैं ।
अनेकान्तमय वाणी जिनकी जीवित जग में तब लों हो,
रवि शशि उडुगण लसते रहते विस्तृत नभ में जब लौं हो ॥२॥

समय सार की व्याख्या करता, चाहूँ कुछ नहिं विरत रहूँ,
चिदानन्द का अनुभव करता निशिदिन निज में निरत रहूँ ।
मोह भाव मम बिखर-बिखर कर क्षण-क्षण कण-कण मिट जावे,
पर परिणतिका मूल यही बस मोह मूल झट कट जावे ॥३॥

स्यात् पद भूषित, दूषित नहिं है जिन वच मुझे सुहाते हैं,
उभय-नयों के आग्रह कर्दम इकदम स्वच्छ धुलाते हैं ।
जिन वच रमता, सकल मोह मुनि बन वन में वमन किया,
समकित अमित 'समय' लख मुनि ने शत शत वन्दन नमन किया ॥४॥

निर्विकल्पमय समाधि जब तक साधक मुनिगण नहिं पाते,
तब तक उनको प्रभु का आश्रय समयोचित है मुनि गाते ।
निश्चय नयमय नभ में लखते चम चम चमके चेतन ज्योत,
अन्तर्विलीन मुनिवर को पर, प्रभु आश्रय तो जुगनू ज्योत ॥५॥

विशुद्ध नय का विषय भूत उस विरागता का पूरा-पन,
पूर्ण ज्ञान का अवलोकन औ सकल संग से सूना-पन ।
निश्चय सम्यग्दर्शन है वह वही निजामृत है प्यारा,
वही शरण है वहीं शरण लूँ तज नव-तत्त्वों का भारा ॥६॥

निर्मल निश्चय-नय का तब-तक आश्रय ऋषि अवधारत हो,
अन्तर्जगती-तल जब तक जग मग जग मग जागृत हो ।
फलत: निश्चित लगता नहीं वो मुनि के मन में मैलापन,
नव तत्त्वों में भला ढला हो चला न जाता उजला-पन ॥७॥

नव तत्त्वों में ढल कर चेतन मृण्मय तन के खानन में,
अनुमानित है चिर से जैसा कनक कनक पाषाणन में ।
वही दीखता समाधि रत को शोभित द्युतिमय शाश्वत है,
एक अकेला तन से न्यारा ललाम आतम भास्वत है ॥८॥

निजानुभव का उद्भव उसमें विराग मुनि में हुआ तभी,
भेदभाव का खेदभाव का प्रलय नियम से हुआ तभी ।
प्रमाण नय निक्षेपादिक सब पता नहीं कब मिट जाते,
उदयाचल पर अरुण उदित हो उडुगण गुप लुप छुप जाते ॥९॥

आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित है अरहन्ता,
विकल्प जल्पों संकल्पों से रहित अवगुणों गुणवन्ता ।
इस विध गाता निश्चय नय है पूरण आतम प्रकटाता,
समरस रसिया ऋषि उसमें हो उदित उजाला उपजाता ॥१०॥

क्षणिक भाव है क्षणिक काल लौं ऊपर ऊपर दिख जाते,
तन मन वच विधि दृग चरणादिक जिसमें चिर नहि टिक पाते ।
निजमें निज से निज को निज ही निरख निरख तू नित्यालोक,
सकल मोह तज फिर झट करले अवलोकित सब लोकालोक ॥११॥

विशुद्ध नय आश्रय ले होती स्वानुभूति है कहलाती,
वही परम ज्ञानानुभूति है वाणी जिनकी बतलाती ।
जान मान कर इस विध तुमको निजमें रमना वांछित है,
निर्मल बोध निरंतर प्यारा परित: पूर्ण प्रकाशित है ॥१२॥

आत्मध्यान में विलीन होकर मोह भाव का करे हनन,
विगत अनागत आगत विधि के बन्धन तोड़े झट मुनिजन ।
शाश्वत शिव बन शिव सुख पाते लोक अग्र पर बसते हैं,
निज अनुभव से जाने जाते कर्म-मुक्त, ध्रुव लसते हैं ॥१३॥

चिन्मय गुण से परिपूरित है परम निराकुल छविवाली,
बाहर भीतर सदा एकसी लवण डली सी अति प्यारी ।
सहज स्वयं बस लस लस लसती ललित-चेतना उजयाली,
पीने मुझको सतत मिले बस समता-रस की वह प्याली ॥१४॥

ज्ञान सुधा रस पूर्ण भरा आतम नित्य निरंजन है,
यदपि साध्य साधक वश द्विविधा तदपि एक मुनि रंजन है ।
ऋद्धि सिद्धि की पूर्ण वृद्धि को यदि पाने मन मचल रहा,
स्वातम साधन करलो, करलो चंचल मन को अचल अहा ॥१५॥

द्रव्य दृष्टि से निरखो आतम एक एक आकार बना,
पर्यय दृष्टि बनती दिखता अनेक नैकाकारतना ।
चंचल मन में वही उतरता विद्यादृगव्रत धरा हुआ,
दिखता समाधिरत मुनियों को सचमुच चिति से भरा हुआ ॥१६॥

दृग-व्रत बोधादिक में साधक नियम रूप से ढलता है,
पल-पल-पग-पग आगे बढ़ता अविरल शिवपथ चलता है ।
एक यदपि वह तदपि इसी से बहुविध स्वभाव धारक है,
इस विध यह व्यवहार कथन है कहते मुनि व्रत पालक हैं ॥१७॥

पूर्ण रूप से सदा काल से व्यक्त पूर्ण है उचित रहा,
ज्ञान-ज्योति से विलस रहा है एक आप से रचित रहा ।
वैकारिक-वैभाविक भावों का निज आतम नाशक है,
इसीलिये वह माना जाता एक भाव का शासक है ॥१८॥

एक स्वभावी नेक स्वभावी द्रव्य गुणों से खिलता है,
ऐसा आतम चिन्तन से वह मोक्ष धाम नहीं मिलता है ।
मर्माकित विद्याव्रत से मिलती मुक्ति हमें अविनश्वर है,
सच्चा साधन साध्य दिलाता इस विध कहते ईश्वर हैं ॥१९॥

रत्नत्रय में ढली घुली पर मिली खिली इक सारा है,
धारा प्रवाह बहती रहती जीवित चेतन धारा है ।
कुछ भी हो पर स्वयं इसी में अवगाहित निज करता हूँ,
नहिं-नहिं इस बिन शांति, तृप्ति हो, आत्म-पाप सब हरता हूँ ॥२०॥

स्वपर बोध का मूल स्वानुभव जहाँ जगत प्रतिबिम्बित हो,
जिन-मुनिवर को मिला स्वतः या सुन गुरु वचन अशंकित हो ।
पर न विभावों से वे अपना कलुषित करते निजपन है,
कई वस्तुयें झलक रही है तथापि निर्मल दर्पण है ॥२१॥

मोह मद्य का पान किया चिर अब तो तज जड़मति ! भाई,
ज्ञान सुधारस एक घूंट लें मुनि जन को जो अति भाई ।
किसी समय भी किसी तरह भी चेतन तन में ऐक्य नहीं,
ऐसा निश्चय मन में धारो, धारो मन में दैन्य नहीं ॥२२॥

खेल खेलता कौतुक से भी रुचि ले अपने चिन्तन में,
मर जा "पर कर निजानुभव कर" घड़ी घड़ी मत रच तन में ।
फलतः पल में परम पूत को द्युतिमय निज को पायेगा,
देह-नेह तज, सज-धज निजको निज से निज घर जायेगा ॥२३॥

दशों दिशाओं को हैं करते स्नपित सौम्य शुचि शोभा से,
शत शत सहस्र रवि शशियों को कुन्दित करते आभा से ।
हित मित वच से कर्ण तृप्त है करते दश-शत-अठ गुण-धर,
रूप सलोना धरते, हरते जन मन जिनवर हैं मुनिवर ॥२४॥

गोपुर नभ का चुम्बन लेता ढलती वन-छवि वसुधातल,
गहरी खाई मानो पीती निरी तलातल रासातल ।
पुर वर्णन तो पुर वर्णन है पर नहिं पुर-पति की महिमा,
मानी जाती इसीलिये वह केवल जड़मय पुर महिमा ॥२५॥

अनुपम अद्भुत जिनवर मुख है रग रग में है रूप भरा,
जय हो सागर सम गंभीर शम यम दम का कूप निरा ।
रूपी तन का "रूप रूप" भर तन से जिनवर हैं न्यारे,
इसीलिए यह तन की स्तुति है मुनिवर कहते हैं प्यारे ॥२६॥

तन की स्तुति से चेतन-स्तुति की औपचारिकी कथनी है,
यथार्थ नहिं तन चेतन नाता यह जिन-श्रुति, अघ-मथनी है ।
चेतन स्तुति पर चेतन गुण से निर्विवाद यह निश्चित है,
अतः ऐक्य तन चेतन में वो नहीं सर्वथा किंचित है ॥२७॥

स्वपर तत्व का परिचय पाया निश्चय नय का ले आश्रय,
जड़ काया से निज चेतन का ऐक्य मिटाया बन निर्भय ।
स्वरस रसिक वर बोध विकासित क्या नहिं उस मुनिवर में हो,
भागा बाधक ! साधा साधक ! साध्य सिद्ध बस पल में हो ॥२८॥

संयम बाधक सकल संग को मन वच तन से त्याग दिया,
बना सुसंयत, अभी नहीं पर प्रमत्त पर में राग किया ।
तभी सुधी में निजानुभव का उद्‌भव होना संभव है,
पर भावों से रहित परिणती अविरत में ना संभव है ॥२९॥

सरस स्वरस परिपूरित परितः सहज स्वयं शुचि चेतन का,
अनुभव करता मन हर्षाता अनुपम शिव सुख केतन का ।
अतः नहीं है कभी नहीं है मान मोह-मद कुछ मेरा,
चिदानन्द का अमिट धाम हूँ द्वैत नहीं अद्वैत अकेला ॥३०॥

राग द्वेष से दोष कोष से सुदूर शुचि उपयोग रहा,
शुद्धातम को सतत अकेला बिना थके बस भोग रहा ।
निश्चय रत्नत्रय का बाना, धरता नित अभिराम रहा,
विराम-आतम उपवन में ही करता आठो याम रहा ॥३१॥

परम शान्त रस से पूरित वह बोध सिन्धु बस है जिनमें,
उज्ज्वल उज्ज्वल उछल रहा है पूर्ण रूप से त्रिभुवन में ।
भ्रम विभ्रम नाशक है प्यारा इसमें अवगाहन करलो,
मोह ताप संतप्त हुए हो हृदय ताप को तुम हरलो ॥३२॥

भव बन्धन के हेतु भूत सब कर्म मिटाकर हर्षाता,
जीव देहगत भेद भिन्नता भविजन को है दर्शाता ।
चपल पराश्रित आकुल नहिं पर उदार धृति धर गत आकुल,
हरा भरा निज उपवन में नित ज्ञान खेलता सुख संकुल ॥३३॥

राग रंग से अंग अंग से शीघ्र दूर कर वच तन रे !
सार हीन उन जग कार्यों से विराम ले अब अयि ! मन रे !
मानस-सर में एक स्वयं को मात्र मास छह देख जरा,
जड़ से न्यारा सबसे प्यारा शिवपुर दिखता एक खरा ॥३४॥

तन मन वच से पूर्ण यत्न से चेतन का आधार धरो,
संवेदन से शून्य जड़ों का अदय बनो संहार करो ।
आप आप का अनुभव करलो अपने में ही आप जरा,
अखिल विश्व में सर्वोपरि है अनुपम अव्यय आत्मखरा ॥३५॥

विश्वसार है सर्वसार है समयसार का सार सुधा,
चेतन रस आपूरित आतम शत शत वन्दन बार सदा ।
असार-मय संसार क्षेत्र में निज चेतन से रहे परे,
पदार्थ जो भी जहाँ तहाँ है मुझ से पर हैं निरे निरे ॥३६॥

वर्णादिक औ रागादिक ये पर हैं पर से हैं उपजे,
समाधि रत को केवल दिखते सदा पुरुष जो शुद्ध सजे,
लहरें सर में उठती रहती झिलमिल झिलमिल करती हैं,
अन्दर तल में मौन-छटा पर निश्चित मुनि मन हरती हैं ॥३७॥

जग में जब जब जिसमें जो जो जन्मत हैं कुछ पर्यायें !
वे वे उसकी निश्चित होती समझ छोड़ दो शंकायें ।
बना हुआ जो कांचन का है सुन्दरतम असि कोष रहा,
विज्ञ उसे कांचनमय लखते, कभी न असि को, होष रहा ॥३८॥

वर्णादिक हैं रागादिक हैं गुणस्थान की है सरणी,
वह सब रचना पुद्गल की है जिन-श्रुति कहती भवहरणी ।
इसीलिए ये रागादिक हैं मल हैं केवल पुद्गल हैं,
शुद्धात्म तो जड़ से न्यारा ज्ञान पुंज है निर्मल है ॥३९॥

मृण्मय घटिका यदपि तदपि वह घृत की घटिका कहलाती,
घृत सगम को पाकर भी घृतमय वह नहिं बन पाती ।
वर्णादिक को रागादिक को तन मन आदिक को ढोता,
सत्य किन्तु यह, यह भी निश्चित तन्मय आत्मा नहि होता ॥४०॥

आदि हीन है अन्तहीन है अचल अडिग. है अचल बना,
आप आप से जाना जाता प्रकट रूप से अमल तना ।
स्वयं जीव ही सहज रूप से चम चम चमके चेतन है,
समयसार का विश्व सार का शुचिमय शिव का केतन है ॥४१॥

वर्णादिक से रहित सहित हैं धर्मादिक है ये पुद्गल,
प्रभु ने अजीव द्विधा बताया जिनका निर्मल अन्तस्तल ।
अमर्तता की स्तुति करता पर जड़ आतम लख पाता,
चिन्मय चितिपण अचल अतः है आतम लक्षण चख ! साता ॥४२॥

निरा जीव है अजीव न्यारा अपने अपने लक्षण से,
अनुभवता ऋषि जैसा हंसा जल जल पय पय तत क्षण से ।
फिर भी जिसके जीवन में हा ! सघन मोह तम फैला है,
भाग्यहीन वह कुधी भटकता भव-वन में न उजेला है ॥४३॥

बोध-हीन उस रग मंच पर सुचिर काल से त्रिभुवन में,
रागी द्वेषी जड़ ही दिखता रस लेता नित नर्तन में ।
वीतराग है वीत दोष है जड़ से सदा-विलक्षण हैं,
शुद्धात्म तो शुद्धात्म है चेतन जिसका लक्षण है ॥४४॥

चेतन तन से भिन्न भिन्न नहिं पूर्ण रूप से हो जब लौं,
कर, कर, कर, कर रहो चलाते आरा ज्ञानमयी तब लौं ।
तीन लोक को विषय बनाता ज्ञाता दृष्टा निज आतम,
पूरण विकसित चिन्मय बल से निर्मलतम हो परमातम ॥४५॥

जीवाजीवाधिकार: समाप्त:

दोहा

रग रग में चिति रस भरा खरा निरा यह जीव ।
तन धारी दुःख सहत, सुख तन बिन सिद्ध सदीव ॥१॥

प्रीति भीति सुख दुखन से धरे न चेतन-रीति ।
अजीव तन धन आदि ये तुम समझो भव-भीत ॥२॥

कर्तृकर्माधिकार

चेतनकर्ता मैं क्रोधादिक कर्म रहें मम "जड़" गाता,
उसके कर्तृ कर्मपन को जो शीघ्र नष्ट है कर पाता ।
लोकालोका-लोकिम करता ज्ञान भानु द्युति पुंज रहा,
निर्विकार है, निजाधीन है, दीन नहीं दृग मंजु रहा ॥४६॥

पर परिणति को भेदभाव को विभाव भावों विदारता,
ज्ञान दिवाकर उदित हुआ हो समकित किरणें सुधारता ।
कर्तापन तम कुकर्मपनतम फिर क्या वह रह पायेगा ?
विधि बंधन का गीत पुराना पुद्गल अब ना गायेगा ॥४७॥

जड़मय पुद्गल परपरिणति से पूर्ण रूप से विरत बना,
निश्चय निर्भय बनकर मुनि जब सहज ज्ञान में निरत तना,
ऊपर उठ सुख दुख से तजता कर्ता कुकर्म-कारणता,
ज्ञाता दृष्टा साक्षी जग का पुराण पुरुषोत्तम बनता, ॥४८॥

व्याप्यपना औ व्यापकता वह परमें नहिं निज द्रव्यन में,
व्याप्य और व्यापकता बिन नहिं कृतकर्म पर-जीवन में
बार बार मुनि विचार इस विध करें सदा वे जगा विवेक,
पर कर्तापनतजते लसते अंधकार का भगाऽतिरेक ॥४९॥

ज्ञानी निज पर परिणति लखता लखता नहीं पुद्गल है,
निरे निरे हैं अतः परस्पर मिले न चेतन पुद्गल हैं ।
जड़ चेतन में कर्तृ कर्म का भ्रम धारे जड़ शठ तब लौं,
आरे सम निर्दय बन काटत बोध उन्हें नहिं झट जब लौं ॥५०॥

स्वतंत्र होकर परिणमता है होता स्वतंत्र कर्ता हैं,
उसका जो परिणाम कर्म है कहते जिन, विधि हर्ता हैं ।
जो भी होती परिणति अविरल पदार्थ में है वहीं क्रिया
वैसे तीनों एकमेक हैं यथार्थ से सुन सही जिया ! ॥५१॥

सतत एक ही परिणमति है इक का इक परिणाम रहा,
इक की परिणति होती है यह वस्तु-तत्व अभिराम रहा ।
इस विध अनेक होकर के भी वस्तु एक ही भाती है,
निर्मल-गुण धारक-जिनवर की वाणी इस विध गाती है ॥५२॥

कदापि मिलकर परिणमते नहिं, दो पदार्थ नहिं, संभव हो,
तथा एक परिणाम न भाता दो पदार्थ में उद्भव हो ।
उभय-वस्तु में उसी तरह ही कभी न परिणति इक होती,
भिन्न-भिन्न जो अनेक रहती एकमेक ना, इक होती ॥५३॥

एक वस्तु के कर्ता दो नहिं इसविध मुनिगण गाते हैं,
एक वस्तु के कर्म कभी भी दो नहि पाये जाते है ।
एक वस्तु की परिणितियां भी दो नहिं कदापि होती हैं,
एक एक ही रहती सचमुच अनेक नहिं नहिं होती है ॥५४॥

भव भव भव-वन भ्रमता भ्रमता जीव भ्रमित हो यह मोही,
पर कर्तापन वश दुख सहता-मदतम-तम में निज द्रोही ।
वीतरागमय निश्चय धारे एक बार यदि द्युति शाला,
फैले फलतः प्रकाश परितः कर्म बंध पुनि नहिं खारा ॥५५॥

पूर्ण सत्य है आतम करता अपने अपने भावों को,
पर भी करता पर भावो पर, पर ना आतम भावों को ।
सचमुच सब कुछ परका पर है आतम का बस आतम है,
जीवन भी संजीवन पावन आतम ही परमातम है ॥५६॥

विज्ञा होकर अज्ञ बनी तू पर पुद्गल में रमती है,
गज सम गन्ना खाती पर, ना तृण को तजती भ्रमती है ।
मिश्री मिश्रित दधि को पी पी पीने पुनि मति ! मचल रही,
रसानभिज्ञा पय को पीने गो दोहन भी विफल रही ॥५७॥

रस्सी को लख सर्प समझ जन निशि में भ्रम से डर जाते,
जल लख मृग मरीचिका में पीने भगते, मर जाते ।
पवनाहत सर सम लहराता विकल्प जल्पों का भर्ता,
यद्यपि ज्ञान घन व्याकुल बनता तदपि भूल में पर कर्ता ॥५८॥

सहज ज्ञानसे स्वपर भेद को परम हंस यह मुनि नेता,
दूध दूध को नीर नीर को जैसा हंसा लख लेता ।
केवल अलोल चेतन गुण को अपना विषय बनाता है,
कुछ भी फिर ना करता मुनि बन मुनिपन यहीं निभाता है ॥५९॥

शीतल जल है अनल उष्ण है ज्ञान कराता यह निश्चय,
है अथवा ना लवण अन्न में ज्ञान कराता यह निश्चय ।
सरस स्वरस परिपूरित चेतन क्रोधादिक से रहित रहा,
यह भी अवगम, मिटा कर्तृपन ज्ञान मूल हो उदित अहा ॥६०॥

मूढ कुधी या पूर्ण सुधी भी निज को आतम करता है,
सदा सर्वथा शोभित होता धरे ज्ञान की स्थिरता है ।
स्वभाव हो या विभाव हो पर कर्ता अपने भावों का,
परंतु कदापि आतम नहि है कर्ता परके भावों का ॥६१॥

आतम लक्षण ज्ञान मात्र है स्वयं ज्ञान ही आतम है,
किस विध फिर वह ज्ञान छोडकर पर को करता आतम है ।
पर भावों को आतम कर्ता इस विध कहते व्यवहारी,
मोह मद्य का सेवन करते भ्रमते फिरते भव-धारी ॥६२॥

चेतन आतम यदि जड़ कर्मों को करने में मौन रहे,
फिर इन पुद्गल कर्मों के है कर्ता निश्चित कौन रहे ।
इसी मोह के तीव्र वेग के क्षयार्थ आगम गाता है,
पुद्गल, पुद्गल-कर्मों का कर्ता जड़ से जड़ का नाता है ॥६३॥

स्वभाव भूता परिणति है यह पुद्गल की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब इस विध निज में जड़ है विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६४॥

स्वभाव भूता परिणति यह है चेतन की बस ज्ञात हुई,
रही अतः ना कुछ भी बाधा प्रमाणता की बात हुई ।
जब जब इस विध निज में चेतन विभाव आदिक करे वही,
तब तब उसका कर्ता होता जिन श्रुति आशय धरे यही ॥६५॥

विमल ज्ञान रस पूरित होते ज्ञानी मुनि का आशय है,
ऐसा कारण कौन रहा है क्यों ना हो अघ आलय ह ।
अज्ञानी के सकल-भाव तो मूढ़पने से रंजित हों,
क्यों ना होते गत मल निर्मल, ज्ञान पने से वंचित हो ॥६६॥

राग रंग सब तजते नियमित ज्ञानी मुनि-ले निज आश्रय,
अतः ज्ञान जल सिंचित सब ही भाव उन्हीं के हो, भा-मय ।
राग रंग में अंग संग में निरत अतः वे अज्ञानी,
मूढ़पने के भाव सुधारे कलुषित पंकिल ज्यों पानी ॥६७॥

निर्विकल्प मय समाधिगिरि से गिरता मुनि जब अज्ञानी,
प्रमत्त बन अज्ञान भाव को करता क्रमशः नादानी ।
विकृत विकल्पा विभाव भावों को करता तब निश्चित है,
द्रव्य कर्म के निमित्त कारण जो है सुख से वंचित है ॥६८॥

कुनय सुनय के पक्षपात से पूर्ण रूप से विमुख हुए,
निज में गुप लुप छुपे हुए हैं निज के सम्मुख प्रमुख हुए ।
विकल्प जल्पों रहित हुए हैं प्रशांत मानस धरते हैं,
नियम रूप से निशिदिन मुनि - ''निज अमृत पान'' वे करते है ॥६९॥

इक नय कहता जीव बंधा है, इक नय कहता नहीं बंधा,
पक्षपात की यह सब महिमा दुखी जगत है तभी सदा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७०॥

भिन्न-भिन्न नय क्रमशः कहते आत्मा मोही निर्मोही
इस विध दृढ़तम करते रहते अपने अपने मत को ही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७१॥

इक नय मत है आत्मा रागी इक कहता है गत रागी,
पक्षपात की निशा यही है केवल ज्योत न वो जागी ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल-केतन है,
स्वानुभवा का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७२॥

इक नय कहता आत्मा द्वेषी इक कहता है ना द्वेषी,
पक्षपात को रखने वाली सुख दात्री मति हो कैसी ?
पक्षपात से रहित बना है मुनिमन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७३॥

इक नय रोता आत्मा कर्ता कर्ता नहिं है इक गाता,
पक्षपात से सुख नहिं मिलता पक्षपात की यह गाथा ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७४॥

इक नय कहता आत्मा भोक्ता भोक्ता नहिं है इक कहता,
पक्षपात का प्रवाह जड़ में अविरल देखो वह बहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७५॥

इक नय मत में जीव रहा है, इक कहता है जीव नहीं,
पक्षपात से घिरा हुवा मन ! सुख पाता नहिं जीव वही ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७६॥

जीव सूक्ष्म है सूक्ष्म नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते हैं,
इस विध पक्षपात से जड़ जन भव भव में दुःख सहते है
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७७॥

इक नय कहता जीव हेतु है हेतु नहीं है इक गाता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं पाता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७८॥

जीव कार्य है कार्य नहीं है भिन्न भिन्न नय कहते,
इस विध पक्षपात जड़ करते परम तत्व को नहिं गहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥७९॥

इक नय कहता जीव भाव है नहीं है इक कहता,
इस विध पक्षपात कर मन है वस्तु तत्व को नहिं गहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८०॥

एक अपेक्षा जीव एक है एक अपेक्षा एक नहीं,
ऐसा चिंतन जड़ जन करते दुखी हुए हैं देख यहीं ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान घन केवल चेतन चेतन है ॥८१॥

जीव सान्त है सान्त नहीं है इस विध दो नय हैं कहते,
ऐसा चिंतन जड़ जन करते पक्षपात है पक्षपात कर दु:ख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८२॥

जीव नित्य है नित्य नहीं है भिन्न-भिन्न नय दो कहते,
इस विध चिन्तन पक्षपात है पक्षपात को जड़गहते ।
पक्षपात से रहित बना है, मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन-चेतन है ॥८३॥

अवाच्य आत्मा वाच्य रहा है, भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करता यदि तू दुख सहता ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८५॥

जीव ज्ञेय है ज्ञेय नहीं है भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८६॥

जीव दृश्य है जीव दृश्य नहिं भिन्न भिन्न नय है कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८७॥

जीव वेद्य है वेद्य जीव नहिं भिन्न भिन्न नय हैं कहते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख सहते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८८॥

जीव आज भी प्रकट स्पष्ट है प्रकट नहीं दो नय गाते,
इस विध चिंतन पक्षपात है करते जड़ जन दुख पाते ।
पक्षपात से रहित बना है मुनि-मन निश्चल केतन है,
स्वानुभवी का शुद्ध-ज्ञान-घन केवल चेतन चेतन है ॥८९॥

पक्षपात-मय-नय वन जिसने सुदूर पीछे छोड़ दिया,
विविध विकल्पों जल्पों से बस चंचल मन को मोड़ दिया ।
बाहर भीतर समरस इक रस महक रहा है, अपने को,
अनुभवता मुनि मूर्तरूप से स्वानुभूति के सपने को ॥९०॥

रंग बिरंगी तरल तरंगे क्षण रुचि सम झट उठ मिटती,
विविध नयों की विकल्प माला मानस तल में नहिं उठती ।
शतशत सहस्र किरण संग ले झग झग करता जग जाता,
निजानुभव के बल मम चेतन भ्रम-तम लगभग भग जाता ॥९१॥

स्वभाव भावों विभाव भावाभावो रहित रहा,
केवल निर्मल चेतनता से खचित रहा है भरित रहा ।
उसी सारमय समयसार को अनुभवता कर वंदन मैं,
विधि के प्रथम तोड़ के तड़ तड़ तड़ तड़ बंधन मैं ॥९२॥

निर्भय निश्चल निरीह मुनि जब पक्षपात बिन जीता है,
समरस पूरित समयसार को सहर्ष सविनय पीता है ।
पुण्य पुरुष है परम पुरुष है पुराण पावन भगवन्ता,
ज्ञान वही है दर्शन भी है सब कुछ वह जिन अरहन्ता ॥९३॥

विकल्प मय घन कानन में चिर भटका था वह धूमिल था,
मुनि का विबोधरस निज घर में विवेक पथ से आ मिलता ।
खुद ही भटका खुद ही आत्मा लौटा निज मे घुल जाता,
फैला जल भी निचली गति से बह बह पुनि वह मिल जाता ॥९४॥

विकल्प करने वाला आत्मा कर्ता यथार्थ कहलाता,
विकल्प जो भी उर में उठता कर्म नाम वह है पाता ।
जब तक जिसका विकल्प दल से मानस तल वो' भूषित है,
तब तक कर्तृ-कर्म-पन मल से जीवन उसका दूषित है ॥९५॥

विराग यति का कार्य स्वयं को केवल लखना लखना है,
रागी जिसका कार्य, कर्म को केवल करना करना है ।
सुधी जानता इसीलिए मुनि कदापि विधि को नहिं करता,
कुधी जानता कभी नहीं है चूंकि निरंतर विधि करता ॥९६॥

ज्ञप्ति क्रिया में शोभित होती कदापि करोति क्रिया नहीं,
उसी तरह बस करण-क्रिया में ज्ञप्ति क्रिया वह जिया ! नहीं ।
करण क्रिया औ ज्ञप्ति क्रिया ये भिन्न-भिन्न हैं अतः यदा,
ज्ञाता कर्ता भिन्न-भिन्न ही सुसिद्ध होते स्वतः सदा ॥९७॥

कर्म न यथार्थ कर्ता में हो नहीं कर्म में कर्ता हो,
हुए निराकृत जब ये दो, क्या कर्तृ-कर्मपन सत्ता हो ?
ज्ञान ज्ञान में कर्म कर्म में अटल सत्य बस रहा यही,
खेद ! मोह नेपथ्य किन्तु ना तजता, नाचत रहा वहीं ॥९८॥

चिन्मय द्युति से अचल उजलती ज्ञान ज्योति जब जग जाती,
मुनिवर अंतर्जगतीतल को परितः उज्ज्वल कर पाती ।
ज्ञान ज्ञान तब केवल रहता, रहता पुद्‌गल पुद्‌गल है,
ज्ञान कर्म का कर्ता नहिं है, ढले न विधि में पुद्‌गल है ॥९९॥

इति कर्तृकर्माधिकारः समाप्तः

निज गुण कर्ता आत्म है पर कर्ता पर आप ।
इस विध जाने मुनि सभी निज-रत हो तज पाप ॥१॥
प्रमाद जब तक तुम करो पर-कर्तापन मान ।
तब तक विधि बन्धान हो हो न "समय" का ज्ञान ॥२॥

पुण्य-पाप-अधिकार

भेद शुभा-शुभ मिस से द्विविधा विधि है स्वीकृत यदपि रहा,
उसको लखता जिन अतिशय से बोध "एक विध" तदपि रहा।
शरद चन्द्र सम बोध चंद्रमा निर्मल निश्चल मुदित हुआ,
मोह महा तम दूर हटाता सहज स्वयं अब उदित हुआ ॥१००॥

ब्राह्मणता के मद वश इक है मदिरादिक से बच जीता,
स्वयं शूद्र हूँ इस विध कहता मदिरा प्रतिदिन इक पीता।
यद्यपि दोनों शूद्र रहे हैं युगपत् शूद्री से उपजे,
किन्तु जाति भ्रम वश ही इस विध जीवन अपने हैं समझे ॥१०१॥

कर्म हेतु है पुद्गल-आश्रय पुद्गल, स्वभाव फल पुद्गल,
अत: कर्म में भेद नहीं है अभेद नय से सब पुद्गल।
और शुभा-शुभ बंध अपेक्षा एक इष्ट है बंधन है,
अत: कर्म है एक नियम से कहते जिन मुनि-रंजन हैं ॥१०२॥

कर्म अशुभ हो अथवा शुभ हो भव बंधन का साधक है,
मोक्ष मार्ग में इसीलिए वह साधक नहिं है बाधक है।
किन्तु ज्ञान निज विराग, शिवका साधक है दुख हारक है,
वीतराग सर्वज्ञ हितंकर कहते शिव-सुख साधक हैं ॥१०३॥

पूर्ण शुभाशुभ करणी तज, बन निष्क्रिय, निज में निरत रहें,
मुनिगण अशरण नहिं पर सशरण अविरत से वे विरत रहें।
ज्ञान ज्ञान में घुल मिल जाना मुनि की परम शरण बस है,
निशि दिन सेवन करते रहते तभी सुधामय निज रस हैं ॥१०४॥

अमिट अतुल है अनुपम आतम ज्ञान-धाम वह सचमुच है,
मोक्ष मार्ग है मोक्ष धाम है स्वयं ज्ञान ही सब कुछ है।
उससे न्यारा सारा खारा बंध हेतु है बंधन है,
ज्ञान-लीनता वही स्वानुभव शिवपथ उसको वंदन है ॥१०५॥

ज्ञान ज्ञान में स्थित हो जाता अन्य द्रव्य में नहिं भ्रमता,
वही ज्ञान का ज्ञानपना है जिसको यह मुनि नित नमता ।
आत्म द्रव्य के आश्रित वह है, आश्रय जिसका आतम है,
मोक्ष मार्ग तो वही ज्ञान है, कहते जिन परमातम है ॥१०६॥

कर्म मोक्ष का नियम रूप से, हो नहिं सकता कारण है,
स्वयं बन्धमय कर्म रहा है भव बंधन का कारण है ।
तथा मोक्ष के साधन का भी अवरोधक औ नाशक है,
अतः यहाँ पर निषेध उसका करते जिन, मुनि शासक हैं ॥१०७॥

कर्म रूप में यदि ढलता है मनो ज्ञान वह भूल अहा !
ज्ञान ज्ञान नहिं हो सकता वो ज्ञानपने से दूर रहा ।
पुद्गल आश्रित कर्म रहा है मृण्मय मूर्त अचेतन है,
अतः कर्म नहिं मोक्ष हेतु नहिं-हो सकता सुख केतन है ॥१०८॥

मोक्षार्थी को मोक्ष मार्ग में कर्म त्याज्य जड़ पुद्गल है,
पाप रहो या पुण्य रहो फिर सब कुछ कर्दम दलदल है ।
दृग व्रत आदिक निजपन में ढल मोक्ष हेतु तब बन जाते,
निष्क्रिय विबोध रस झरता, मुनि स्वयं सुखी तब बन पाते ॥१०९॥

कर्ता नहिं पर मोह उदय वह होता मुनि में जब तक है,
समीचीन नहिं ज्ञान कहाता अबुद्धि पूर्वक तब तक है ।
सराग मिश्रित ज्ञान सुधारा बहती समाधिरत मुनि में,
राग बंध का, ज्ञान मोक्ष का कारण हो भय कुछ नहिं पै ॥११०॥

ज्ञान बिना रट निश्चय निश्चय निश्चयवादी भी डूबे,
क्रिया कलापी भी ये डूबे डूबे संयम से-ऊबे ।
प्रमत्त बन के कर्म न करते अकम्प निश्चल शैल रहे,
आत्म-ध्यान में लीन किन्तु मुनि तीन लोक पे तैर रहे ॥१११॥

भ्रमवश विधि में प्रभेद करता मोह मद्य पी नाच रहा,
राग-भाव जो जड़मय जड़ से निज बल से झट काट अहा।
सहज मुदित शुचि कला संग ले केली अब प्रारभ किया,
भ्रम-तम-तम को पूर्ण मिटाकर पूर्ण ज्ञान शशि जन्म लिया ॥११२॥

इति पुण्यपापाधिकार

दोहा

विभाव परिणति यह सभी पुण्य रहो या पाप ।
स्वभाव मिलता, जब मिटे पाप-पुण्य परिताप ॥१॥

पाप प्रथम मिटता प्रथम, तजो पुण्य-फल भोग ।
पुनः पुण्य मिटता, धरो आतम-निर्मल योग ॥२॥

आस्रव-अधिकार

आस्रव भट झट कूद पड़ा है क्रुद्ध हुआ है अब रण में,
महा मान का रस वह जिसके भरा हुआ है तन मन में ।
ज्ञान मल्ल भी धनुष्यधारी उस पर टूटा धृति-धर है,
क्षण में आस्रव जीत विजेता यह-बल धारी सुखकर है ॥११३॥

राग रोष से मोह द्रोह से विरहित आतम भाव सही,
ज्ञान सुधा से रचा हुवा है जिन आगम का भाव यही ।
नियम रूप से अभाव मय है भावास्रव का रहा वही ॥
तथा निवारक निमित्त से है द्रव्यास्रव का रहा सही ॥११४॥

भावास्रव के अभावपन पा व्रती विरागी वह ज्ञानी,
द्रव्यास्रव से पृथक रहा हूँ बन के जाना मुनि ध्यानी ।
ज्ञान भाव का केवल धारी ज्ञानी निश्चित वही रहा,
निरास्रवी है सदा निराला जड़ के ज्ञायक सही रहा ॥११५॥

सुबुद्धि पूर्वक सकल राग से होते प्रथम अछूते हैं,
अबुद्धि पूर्वक राग मिटाने बार बार निज-छूते हैं ।
यमी ज्ञान की चंचलता को तभी पूर्णतः अहो मिटा,
निरास्रवी वे केवलज्ञानी बनते निज में स्वको बिठा ।।११६।।

जिसके जीवन में वह अविरल दुरित दुःखमय जल भरिता,
जड़मय पुद्‌गल द्रव्यास्रव की बहती रहती नित सरिता ।
फिर भी ज्ञानी निरास्रवी वह कैसे इस विध हो कहते,
ऐसी शंका मन में केवल शठजन भ्रमवश हो गहते ।।११७।।

उदयकाल आता नहिं जब तक, तब तक सत्ता नहिं तजते,
पूर्व बद्ध विधि यद्यपि रहते, ज्ञानी जन के उर सजते ।
पर ना नूतन नूतन विधि आ उनके मन पे अंकित हो,
रागादिक से हित हुए हों जब मुनि पूर्ण-अशंकित हों ।।११८।।

ज्ञानी जन के ललित भाल पर रागादिक का वह लांछन,
संभव हो न, असंभव ही है वह तो उज्ज्वलतम कांचन ।
वीतराग उन मुनि जन को फिर प्रश्न नहीं विधि बंधन का,
रागादिक ही बंधन कारण, कारण है मन-स्पन्दन का ।।११९।।

निर्मल-विकसित-बोध धाम मय विशुद्ध नय का ले आश्रय,
मन का-निग्रह करते रहते मुनि-जन गुण-गण के आलय,
राग मुक्त हैं रोष मुक्त हैं मुनि वे मुनि-जन-रंजन हैं,
समरस पूरित समय सार का दर्शन करते वंदन हैं ।।१२०।।

जब यति विशुद्ध नय से चिगते, उलटे लटके वे झूले,
विकृत विभावों निश्चित करते आत्म बोध ही तब भूले ।
विगत समय में अर्जित विधि के आस्रव वश बहु विकल्पदल,
करते, बंधते विविध विधी के बधंन से खो अनल्प बल ।।१२१।।

यही सार है समय सार का छंद यहाँ है यह गाता,
हेय नहीं है विशुद्ध नय पर ध्येय साधुका वह साता ।
तथापि उसको जड़ ही तजते भजते विधि के बंधन को,
जो नहिं मुनि जन तजते इसको भजते नहिं विधि बंधन को ॥१२२॥

अनादि अक्षय अचल बोध में धृति बांधे विधि नाशक है,
अतः शुद्ध नय उन्हे त्याज्य नहिं मुनि या मुनि जन शासक है ।
लखते इसमें स्थित मुनि निज बल आंकुचन कर बहिराता,
एक ज्ञान घन पूर्ण शांत जो अतुल अचल द्युतिमय भाता ॥१२३॥

रागादिक सब आस्रव विघटे जब निज मन्दर में अन्दर,
झांक झांक कर देखा मुनि ने दिखता झग झग अति सुन्दर ।
तीन जगत के जहां चराचर निज प्रति-छबि ले प्रकट रहें,
अतुल अचल निज किरणों सह वह बोध भानु मम निकट रहें ॥१२४॥

इति आस्रवाधिकारः

दोहा

राग-द्वेष अरु मोह से रंजित वह उपयोग ।
वसु विध-विधि का नियम से पाता दुख कर योग ॥१॥

विराग समकित मुनि लिए जीता जीवन सार ।
कर्मास्रव से तब, बचे निज में करें विहार ॥२॥

संवर-अधिकार

संवर का रिपु आस्रव को यम मन्दिर बस दिखलाती है,
दुख-हर, सुखकर वर संवर धन सहज शीघ्र प्रकटाती है ।
पर परिणति से रहित नियत नित निज में सम्यक विलस रही,
ज्योति-शिखा वह चिन्मय निज खर किरणावलि से विहस रही ॥१२५॥

ज्ञान राग ये चिन्मय जड़ हैं किन्तु मोह वश एक लगे,
जिन्हें विभाजित निज बल से कर, स्व पर बोध उर देख जगे ।
उस भेद ज्ञान को आश्रय ले तुम बन कर पूरण गत रागी,
शुद्ध ज्ञान घन का रस चाखो सकल सग के हो त्यागी ॥१२६॥

धारा प्रवाह बहने वाला ध्रुव बोधन में सुग्न यमी,
किसी तरह शुद्धातम ध्याता विशुद्ध बनता तुरत दमी ।
हरित भरित निज कुसुमित उपवन में तब आतम रमता है ।
पर परिणति से पर द्रव्यन में पल भर भी नहिं भ्रमता है ॥१२७॥

अनुपम अपनी महिमा में मुनि भेद ज्ञानवश रमते हैं ।
शुद्ध तत्व का लाभ उन्हें तब हो हम उनको नमते हैं ।
उसको पावे पर यति निश्चल अन्य द्रव्य से दूर रहे,
मोक्ष धाम बस पास लसेगा सभी कर्म चकचूर रहें ॥१२८॥

विराग मुनि में जब जब होता भवहर, सुखकर संवर है,
शुद्धातम के आलम्बन का फल कहते-दिगम्बर हैं ।
शुचि तम आतम भेद ज्ञान से सहज शीघ्र ही मिलता है,
भेद ज्ञान तू इसीलिये भज जिससे जीवन खिलता है ॥१२९॥

तब तक मुनि गण अविकल अविरल तन मन वच से बस भावें,
भेद ज्ञान को, जीवन अपना समझ उसी में रम जावे ।
ज्ञान ज्ञान में सहज रूप से जब तक स्थिरता नहिं पावें,
पर परिणतिमय चंचलता को तज निज-पन को भज पावें ॥१३०॥

सिद्ध शुद्ध बन तीन लोक पर विलस रहे अभिराम रहे,
तुम सब समझो भेद ज्ञान का मात्र अहो परिणाम रहे ।
भेद ज्ञान के अभाव वश ही भव, भव, भव-वन फिरते हैं,
विधि बंधन में बंधे मूढ़ जन भवदधि नहिं ये तिरते हैं ॥१३१॥

भेद ज्ञान बल शुद्ध तत्व मे निरत हुवा मुनि तज अम्बर,
राग दोष का विलय किया पुनि किया कर्म का वर संवर ।
उदित हुआ तब मुदित हुआ ध्रुव अचल बोध शुचि शाश्वत है,
खिला हुआ है खुला हुआ है एक आप बस भास्वत है ॥१३२॥

इति संवराधिकार

दोहा

रागादिक के हेतु को तजते अम्बर छाव ।
रागादिक पुनि मुनि मिटा भजते संवर भाव ॥१॥

बिन रति-रस चख नी रहे निज घर में कर वास ।
निज अनुभव-रस पी रहे उन मुनि का मैं दास ॥२॥

निर्जरा-अधिकार

रागादिक सब आस्रव भावों को निज बल से विदारता,
संवर था वह भावी विधि को सुदूर से ही निवारता ।
धधक रही अब सही निर्जरा पूर्ण बद्धविधि जला-जला,
सहज मिटाती, रागादिक से ज्ञान न हो फिर चला चला ॥१३३॥

यह सब निश्चित अतिशय महिमा अविचल शुचितम ज्ञानन की,
अथवा मुनि की विरागता की समता में रममानन की ।
विधि के फल को समय समय पर भोग भोगता भी त्यागी,
तभी नहीं यह विधि से बंधता बंधे असंयत पर रागी ॥१३४॥

इन्द्रिय विषयों का मुनि सेवन करता रहता है प्रतिदिन,
किन्तु विषय के फल को वह नहिं पाता, रहता है रति बिन ।
आत्म ज्ञान के वैभव का औ विरागता का यह प्रतिफल,
सेवक नहिं हो सकता फिर भी विषय सेव कर भी प्रतिपल ॥१३५॥

ज्ञान शक्ति को विराग बल को सम्यक्-दृष्टी ढोता है,
पर को तजने निजको भजने में जो सक्षम होता है ।
पर को पर ही निज को निज ही जान मान मुनि निश्चित ही,
निज में रमता पर-रति तजता राग करे नहिं किंचित भी ॥१३६॥

दृग धारक हम अत: कर्म नहिं बंधते हमसे बनने हैं,
रागी मुनि ही इस विधि बकते वृथा गर्व से तनते हैं ।
यदपि समितियां पालें पालो फिर भी अघ से रंजित हैं,
स्वपर भेद के ज्ञान बिना वे समदर्शन से वंचित हैं ॥१३७॥

चिर से रागी प्रमत्त बनके भ्रमवश करता शयन जहाँ,
दुखकर परघर, निजघर नहिं वो जान ! खोल तू नयन अहा ।
निज-घर तो बस निज-घर ही है सुखकर है सुखकेतन है,
शुद्ध शुद्धतर विशुद्धतम है अक्षय ध्रुव है चेतन है ॥१३८॥

पद पद पर बहु पद मिलते हैं पर वे दुख पद पर पद हैं,
सब पद में बस पद ही वह पद सुखद निरापद निज पद है ।
जिसके सम्मुख सब पद दिखते अपद दलित-पद आपद हैं,
अत: स्वाद्य है पेय निजीपद सकल गुणों का आस्पद है ॥१३९॥

आदि आत्मा निज अनुभव का जान र्शन को रख साता,
भेद भिन्नता खेद खिन्नता घटा हटाकर इक भाता ।
ज्ञायक रस से पूरित रस को केवल निशिदिन चखता है,
नीरस रस मिश्रित रस को नहिं चखता मुनि निज लखता है ॥१४०॥

सकल अर्थ मय रस पी पीकर मानो उन्मद सी निधियां,
उजल उजल ये उछल उछलती निज संवेदन की छवियां ।
अभिन्न चिन्मय रस पूरित हैं भगवन-सागर एक रहें,
अगणित लहरें उठती जिनमें इसीलिए भी नैक रहें ॥१४१॥

सूख सूखकर सोंठ भले हो-शिवपथ-च्युत व्रत भरणों से,
तपन तप्त हो तापस गिरि पे केवल जपतप चरणों से ।
मोक्ष मात्र नित निरा निरामय निज संवेदन ज्ञान सही,
ज्ञान बिना मुनि पा नहिं सकते शिव को इस विध जान सही ॥१४२॥

मोक्ष धाम यह मिले न केवल क्रिया काण्ड के करने से,
परंतु मिलता सहज सुलभ निज बोधन में नित चरने से ।
सदुपयोग तुम करो इसी से स्वीय-बोध जब मिला तुम्हें,
सतत यतन यति ! जगत ! जगत में करो मिले शिव किला तुम्हें ॥१४३॥

ज्ञानी मुनि तो सहज स्वयं ही देव रूप है सुख शाला,
चिन्मय चिंतामणी चिंतित को पाता अचिंत्य बल. वाला ।
काम्य नहीं कुछ कार्य नहीं कुछ सब कुछ जिसको साध्य हुआ,
पर संग्रह को अतः सुधी नहिं होगा था है बाध्य हुआ ॥१४४॥

स्वपर बोध का नाशक जो है बाधक तम है शिव मग को,
तज पर इस विध विविध संग को दशविध बाहर के अघ को ।
भीतर घुस-घुस बनकर मुनि अब केवल ज्ञानावरणी को,
पूर्ण मिटाने मिटा रहा है, मानस-कालुष-सरणी को ॥१४५॥

गत जीवन में अर्जित विधि के उदयपाक जब आता है,
ज्ञानी मुनि को भी उसका रस चखना पड़ तब जाता है ।
विषयों के रस चखते पर वे रस के प्रति नहिं रति रखते,
विगतराग हैं परिग्रही नहिं नियमित निज में मति रखते ॥१४६॥

भोक्ता हो या भोग्य रहा हो दोनों मिटते क्षण-क्षण से,
इसीलिये ना इच्छित कोई भोगा जाता तन मन से ।
विराग झरना जिस जीवन में झर-झर झर-झर झरता है,
विषय राग की इच्छा किस विध ज्ञानी मुनि फिर करता है ? ॥१४७॥

विषय राग के रसिक नहीं मुनि ज्ञानी नित निज रस चखते,
विग्रह-मूल परिग्रह ही है, भाव परिग्रह नहिं रखते ।
रंग लगाओ वसन रंगेगा किन्तु रंग झट उड़ सकता,
हलदी फिटकिरी लगे बिना ही गाढ रंग कब-चढ़ सकता ? ॥१४८॥

विषय-विषम-विष ज्ञानी जन ना कभी भूलकर भी पीते,
निज रस समरस सहर्ष पीते पावन जीवन ही जीते ।
कर्म कीच के बीच रहे यति परंतु उसमें ना लिपते,
रागी द्वेषी गृही असंयत पाप पंक से पर लिपते ॥१४९॥

जिसका जिस विध स्वभाव हो, हो उसका तिस विध अपनापन,
उसमें अंतर किस विध फिर हम ला सकते हैं अधुनापन ।
अज्ञ रहा वह विज्ञ न होता ज्ञान कभी अज्ञान नहीं,
भोगो ज्ञानी पर वश विषयों तज रति, विधि बधान नहीं ॥१५०॥

पर मम कुछ ना कहता पर तू भोग भोगता हूँ कहता,
वितथ भोगता तब ए ! ज्ञानी भोग बुरा क्यों दुख सहता ।
भोगत "बंध" न हो यदि कहता भोगेच्छा क्या है मन में, ?
ज्ञान लीन बन नहिं तो !! रति वश जकड़ेगा विधि बंधन में ॥१५१॥

कर्ता को विधि बलपूर्वक ना कभी निर्जी-फल है देता,
कर्ता विधि फल-चखना चाहे खुद ही विधि फल चख लेता ।
विधि को कर भी मुनि ! विधिफल को, तजता परता सब जड़ता
विधि फल में ना रचता पचता ना बंधन में तब पड़ता ॥१५२॥

विधि फल तज भी विधि करते मुनि इस विध हम ना हैं कहते,
परन्तु परवश विधिवश कुछ कुछ विधि आ गिरते हैं रहते ।
कौन कहें विधि ज्ञानी करते जब या रहते अमल बने,
आ, आ गिरते विधि, रहते निज-ज्ञान भाव में अचल तने ॥१५३॥

वज्रपात भी मुनि पर हो पर धर दृढ दृग धृति जपता है,
जबकि जगत यह कायर भय से पीड़ित कप कप कपता है ।
आत्म बोध से चिगता नहिं है, ज्ञान धाम निज लखता है,
निसर्ग निर्भय निसंग बनकर भय ना उर में रखता है ॥१५४॥

एक लोक है विरत आतम का चेतन जो है शाश्वत है,
उसी लोक को ज्ञानी केवल लखता विकसित भास्वत है ।
चिन्मय मम है लोक किन्तु यह पर है पर से डर कैसा, ?
निशंक मुनि अनुभवता तब बस स्वयं ज्ञान बनकर ऐसा ॥१५५॥

भेद रहित निज सुवद्य वेदक-बल से केवल संवेदन,
विराग मन से आस्वादित हो अचल ज्ञान मय इक चेतन ।
परकृत परिवेदन पीड़न से ज्ञानी को फिर डर कैसा, ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५६॥

जो भी सत है वह ना मिटता स्पष्ट वस्तु की यह गाथा,
ज्ञान स्वयं सत रहा कौन फिर उसका पर हो तब त्राता ?
अत: अकृत भय ज्ञानी जन को होगा फिर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५७॥

वस्तु रूप ही गुप्ति रही बस उसमें नहिं पर घुसता है,
उसी तरह वह ज्ञान सुधी का स्वरूप सुख कर लसता है ।
अत: अगुप्ति न ज्ञानी जन को हो फिर किससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५८॥

प्राणों का हो कण कण खिरना मरण नाम बस वह पाता,
ज्ञानी का पर ज्ञान न नश्वर कभी नहीं मिट यह जाता,
मरण नहीं निज आतम का है अतः मरण से डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१५९॥

आदि अन्त से रहित अचल है एक ज्ञान है उचित सही,
आप स्वतः है जब तक तब तक उसमें पर हो उदित नहीं ।
आकस्मिक निज में ना कुछ हो फिर तब उससे डर कैसा ?
सहज ज्ञान को स्वयं सुनिर्भय अनुभवता मुनिवर ऐसा ॥१६०॥

समरस पूरित शुद्ध बोध का पावन भाजन बन जाता,
विराग दृग धारक विधि-नाशक दृष्टि अंग वसु धन पाता ।
इस विध परिणति जब हो मुनि की पर परिणति की गंध न हो,
पूर्व उपार्जित कर्म निर्जरा भोगत भी विधि बंध न हो ॥१६१॥

अष्ट अंग दृग संग संभाले नव्य कर्म का कर संवर,
बद्ध कर्म को जर, जर कर क्षय करते तज मुनिवर अंबर ।
आदि अंत से रहित ज्ञान बन स्वयं मुदित हो दृगधारी,
तीन लोक के रंग मंच पर नाच रहा है अघहारी ॥१६२॥

इति निर्जराधिकारः

दोहा

साक्षी बनकर विषय का करते मुनिवर भोग ।
पूर्व-कर्म की निर्जरा हो तब शुचि उपयोग ॥१॥

बंध किये बिन बंधका बंधन टूटे आप ।
महिमा यह सब साम्य की विराग-दृग की छाप ॥२॥

बन्ध-अधिकार

बन्ध तत्व यह राग मद्य को घुला घुला कर पिला पिला,
सकल विश्व को, मत्तबनाकर खेल रहा था खुला खिला ।
धीर निराकुल उदार मानस ज्ञान सहजता जगा रहा,
चिदानन्दमय रस, पीकर अब बन्ध तत्व को भगा रहा ॥१६३॥

सचित अचित का वध नहिं विधि के बंध हेतु ना इन्द्रियगण,
भरा जगत भी विधि से नहिं है चंचलतम भी "वच तन मन" ।
राग रंग में रचता पचता रागी का उपभोग रहा,
केवल कारण विधि बन्धन को यों कहते मुनि लोग अहा ॥१६४॥

यदपि भले ही इन्द्रिय गण हो चिदचित् वध हो क्षण क्षण हो,
जग हो विधि से भरा रहा हो चंचलतर ये तन मन हो ।
राग रंग से रंजित करता यदि नहिं शुचि उपयोगन को,
निश्चय विराग दृढ़ धारक मुनि पाता नहिं विधि-योगन को ॥१६५॥

परन्तु ज्ञानी मुनि को बनना स्वेच्छाचारी उचित नहीं,
उच्छृंखलपन बन्ध धाम है आत्म ज्ञान हो उदित नहीं ।
इच्छा करना तथा जानना युगपत दो ये नहिं बनते,
बिना राग के कार्य अत: हो मुनि के नहिं तो ! विधि तनते ॥१६६॥

जो मुनि निज को जान रहा है वह ना करता विधि बन्धन,
जो विधि करता नहिं निज लखता यही राग का अनुरंजन ।
राग रहा है अबोधमय ही अध्यवसायन का आलय,
मिथ्या दर्शन बन्ध हेतु वह जिनवाणी का यह आशय ॥१६७॥

नियत रहे हैं सभी जगत में सुख दुख मृतिभय जनना रे !
अपने-अपने कर्म-पाक वश पाते जग जन तनधारे ।
सुख दुख देता पर को जीवित करता मैं निज के बल से,
तेरा कहना भूल रही यह फलत: वंचित केवल से ॥१६८॥

पर से जीवन जीता जग है सुख दुख पाता मरता है,
इसविध जड़ ही कहता रहता मूढ़पना बस धरता है ।
वसुविध विधि को करता फलतः अहंकार-मद पीता है,
मिथ्यादृष्टी निजघातक है दानव-जीवन जीता है ॥१६९॥

जग के पोषण-शोषण का यह मिथ्या दृष्टी का आशय,
बोध विनाशक नियम रूप से अबोध-तम-तम-का आलय ।
कारण ! उसका आशय निश्चित, भ्रम है भ्रम का कारण है,
दुखन विविध वसुविध-विधि के बस, बन्धन है असु-मारण है ॥१७०॥

दुखमय अध्यवसायन कर कर निज अनुभव से स्खलित हुआ,
दीन हीन मति हीन हुवा है संमोहित है भ्रमित हुवा ।
मोही प्राणी सबको अपना कहता रहता भूल रहा,
इसीलिये वह इन्द्रिय विषयों-में निशदिन जो झूल रहा ॥१७१॥

सकल विश्व से पृथक रहा वो यद्यपि आतम अपना है,
तथापि परको अपना कहता करता मोही सपना है ।
अध्यवसायन-दल यह केवल मोह मूल ही है इसका,
स्वप्न दशा में भी ना यतिवर आश्रय लेते हैं जिसका ॥१७२॥

अध्यवसायन को कहते "जिन" त्याज्य त्याज्यं बस निस्सारा,
जिसका आश्रय मैं लेता बस छुड़वाया सब व्यवहारा ।
शुद्ध ज्ञान-घन में धृति फिर भी क्यों ना धारण करते हैं,
निश्चल बन मुनि निज छवि में हा ! क्या कारण नहिं चरते हैं ॥१७३॥

शुचि मय चेतन से हैं न्यारे रागादिक अघ ये सारे,
वसुविध विधि के बंधन कारण यह तुम मत जिन ! ए प्यारे ।
रागादिक का पर क्या कारण पर है अथवा आतम है,
इस विध शंका यदि जन करते कहते तब परमातम है ॥१७४॥

रागादिक कालुष परिणतियां यद्यपि आतम में होतीं,
स्वभाव से पर व ना होतीं कर्म-हेतु वश ही होती ।
मोह पाक ही उसमें कारण वस्तु तत्व यह उचित रहा,
सूर्य बिम्ब वश सूर्यकान्तिमणि से ज्यों अगनी उदित अहा ॥१७५॥

इस विध पर की बिना अपेक्षा वस्तु तत्व का अवलोकन,
सहज स्वयं ही ज्ञानी मुनिजन करते परका कर मोचन ।
रागादिक से अत: स्वयं को करते नहीं कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते नहिं हैं फलत: सदा अशंकित हैं ॥१७६॥

वस्तु-तत्व का रूप कभी ना जिनके दृग में अंकित है,
अज्ञानी वे कहलाते हैं निज के सुख से वंचित हैं ।
रागादिक से अत: स्वयं को करते सदा-कलंकित हैं,
कर्ता कारक बनते जब हैं फलत: पामर शंकित हैं ॥१७७॥

इसविध विचार विविध विकल्पों को तजते निज भजते हैं,
राग भाव का मूल परिग्रह मुनिवर जिसको तजते हैं ।
निजी निरामय संवेदन से भरित आत्म को पाते हैं,
बन्ध मुक्त बन भगवन अपने में तब आप सुहाते हैं ॥१७८॥

बहु विध-वसुविध राग कार्य-विधि-बंध, मिटा बन निरा अदय,
विधि बन्धन के कारण जिनको रागादिक के मिटा उदय ।
भ्रम-तम-तम को तथा भगाता, ज्ञान भानु अब उदित हुआ,
जिसके बल को रोक सकेगा कोई ना यह विदित हुवा ॥१७९॥

इति बन्धाधिकार:

दोहा

मात्र कर्म के उदय से नहिं वसु विध-विधि-बंध ।
रागादिक ही नियम से बंधहेतु, सुन-अंध ॥१॥
बन्ध तत्व का-ज्ञान ही केवल मोक्ष न देत ।
मोह त्याग ही मोक्ष का साक्षात, स्वाश्रित हेतु ॥२॥

मोक्ष-अधिकार

भिन्न भिन्न कर बन्ध पुरुष को प्रज्ञामय उस आरे से,
बिठा पुरुष को मोक्ष धाम में उठा भवार्णव-खारे से !
परम सहज निज चिदानन्दमय-रस से परित झील अहो !
सकल कार्य कर विराम पाया ज्ञान सदा जय शील रहो ॥१८०॥

आत्म कर्म की सूक्ष्म संधि में प्रमाद तज जब मुनि झटके,
प्रज्ञावाली पैनी छैनी पूर्ण लगाकर बल पटके ।
अबोध-विभाव में विधि, शुचि-ध्रुव चेतन में निज आतम को,
स्थापित करती भिन्न भिन्न कर करे दूर वह हा ! तम को ॥१८१॥

जो कुछ भिदने योग्य रहा था उसे भेद निज लक्षण से,
अविभागी निज चेतन शाला नित ध्याऊँ मैं क्षण क्षण से ।
कारक गुण धर्मादिक से मुझ में भले हि कुछ भेद रहे,
तथापि शुचिमय विभुमय चिति में भेद नहीं, गत-भेद रहे ॥१८२॥

अभेद होकर भी यदि चेतन तजता दर्शन-ज्ञान मनो,
समान विशेष नहिं रह पाते तजता निजको तभी सुनो ।
निजको तजता भजता जड़ता बिना व्याप्य व्यापक चेतन,
होगा विनष्ट अतः नियम से आत्म, ज्ञान-दृग का केतन ॥१८३॥

एक भाव वह द्युतिमय चिन्मय चेतन का नित लसता है,
किन्तु भाव सब परके पर हैं तू क्यों उनमें फंसता है ?
उपादेय है ज्ञेय ध्येय है केवल चेतन-भाव सदा,
भाव हेय हैं पर के सारे सुखद-अचेतन-भाव कदा ? ॥१८४॥

जिन की मन की परिणति उजली मोक्षार्थी वे आराधे,
छविमय द्युतिमय एक आपको, शुचितम करके शिव, साधे ।
विविध भाव हैं जो कुछ लसते मुझसे विभिन्नपन धारे,
मैं बस चेतन ज्ञान-निकेतन ये पर सारे हैं खारे ॥१८५॥

जड़मय-पुद्गल पदार्थ दल का पर का संग्रह करता है,
वसु विधि विधि से अपराधी वह बंधता विग्रह धरता है ।
निरपराध मुनि विराग बन के निज में रमता भज संवर,
बंधता कदापि ना वो विधि से निज को नमता तज अंबर ॥१८६॥

मलिन भाव कर अपराधी मुनि अविरल निश्चित विधि पाता,
विधि से बंधता निरपराध नहिं यतिवर निज की निधि पाता ।
शुद्धातम की सेवा करता निरपराध मुनि कहलाता,
रागात्मा को भजने वाला सापराध बन दुख पाता ॥१८७॥

विलासतामय जीवन जीते प्रमत्त जन को धिक्कारा,
क्रिया काण्ड को छुड़ा मिटाया चचलतम मन की धारा ।
शुद्ध ज्ञान-घन की उपलब्धी जीवन में नहिं हो जब लों,
निश्चित निज में उनको गुरु ने विलीन करवाया तब लों ॥१८८॥

प्रतिक्रमण ही विष है ग्वारा गाया जिनने जब ऐसा,
अप्रतिक्रमणा सुधासरस हो सकता सुखकर तब कैसा ?
बार बार कर प्रमाद फिर भी नीचे नीचे गिरते हो
क्यों ना ऊपर-ऊपर उठते प्रमाद पीछे फिरते हो ॥१८९॥

प्रमाद मिश्रित भाव-प्रणाली शुद्ध-भाव नहिं वह साता,
कषायरंजित पूर्ण रहा है अलस-भाव है कहलाता ।
सरस स्वरस परि-पूरित निज के स्वभाव में मुनिरत होवे,
फलतः पावन शुचिता पावें शिवको, पर अविरत रोवें ॥१९०॥

विकृत विभावों के कारण पर-द्रव्यन को बस तजता है,
रुचि लेता मुनि यथार्थ निज में, पर को कभी न भजता है ।
तोड़-ताड़ कर वसु-विध-बंधन पाप पंक को धोता है,
चेतन जल से पूरित सर में स्नपित-पूर्ण शुचि होता है ॥१९१॥

अतुल्य अव्यय शिवपद को वह पूर्ण-ज्ञान पा, राग हटा,
जगमग जगमग करता निज को सहज दशा में जाग उठा ।
केवल ! केवल, रस से पूरित नीर-राशि सम गंभीरा,
ज्योति-धाम निज ओज-तेज से अगम अमित तम, समधीरा ॥१९२॥

इति मोक्षाधिकारः

दोहा

वसु विध विध का विलयमय निलय, समय का मोक्ष ।
व्यक्त-रूप है सिद्ध में, तुझ में वही परोक्ष ॥१॥

दृग व्रत-समता धार के द्रव्य-भव्य भज आप ।
निरा निरामय आत्म हो रूप द्रव्य तज ताप ॥२॥

सर्व विशुद्धज्ञान-अधिकार

कर्तृ-भोक्तृ-मय विभाव भावों घटा, मिटा अघ-अंजन से,
दूर रहा है, पद पद पल पल बंध मोक्ष के रंजन से ।
अचल प्रकटतम महिमा धारी ज्ञानपुंज दृग मंजु सही,
गाढ़, शुद्धतम, विशुद्ध शोभित स्वरस-पूर्ण द्युति पुण्यमही ॥१९३॥

जैसा चेतन आतम का निज संवेदन निज भाव रहा,
वैसा कर्तापन आतम का होता नहिं, पर भाव-रहा ।
मूढ़पना वश करता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
मिटा मूढ़पन, कर्ता नहिं हो मुनिवर निर्मोही ज्ञानी ॥१९४॥

यदपि स्वरस से भरा जीव है विदित हुवा, नहिं कर्ता है,
तीन लोक में फैल रहा है ले शुचि-चिति-द्युति शिव धर्ता है ।
तदपि मूढ़ता की कोई है महिमा सघना-गम न्यारी,
इसीलिए विधि बंधन होता दुखकारी, सुख शम-हारी ॥१९५॥

जैसा कर्तापन आतम का होता नहिं निज भाव रहा,
वैसा होता चेतन का नहिं भोक्तापन भी भाव रहा ।
मूढ़ पना वश भोक्ता आत्मा विषयी मोही अज्ञानी,
उसे नाशकर सुखी अवेदक मुनि हो निर्मोही ज्ञानी ॥१९६॥

अज्ञानी विधिफल में रमता निश्चित विधि का वेदक है,
ज्ञानी विधि में रमता नहिं है वेदक ना, निज-वेदक है ।
इस विध विचार मुनिगण ! तुम को मूढ़ पना बस तजना है,
ज्ञानपने के शुद्ध तेज में निजमें निज को भजना है ॥१९७॥

ज्ञानी विराग मुनि नहिं विधि का करता वेदन, विधि करता,
केवल विधिवत विधि का विधिपन जाने, गुण-वारिधि धरता ।
कर्तापन वेदन-पन को तज केवल साक्षी रह जाता,
शुचितम स्वभाव रत होने से कर्म-मुक्त ही कहलाता ॥१९८॥

निजको पर का कर्ता लखते परमें मुनि जो अटक रहे,
मोहमयी अति घनी निशा में, इधर उधर वे भटक रहे ।
यदपि मोक्ष की आशा रखते तदपि सदा भव दुख पाते,
साधारण जनता सम वे भी नहिं अक्षय शिव सुख पाते ॥१९९॥

आत्म-तत्व औ अन्य तत्व ये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र रहते हैं,
एक-मेक हो आपस में मिल प्रवाह बन ना बहते हैं ।
कर्तृ-कर्म संबंध सिद्ध वह इसविध जब ना होता है
फिर किस विध पर कर्तृ-कर्म-पन हो, क्यों फिर तू रोता है ॥२००॥

सभी तरह सम्बन्ध निषेधित करते जग के नाथ सभी,
सम्बन्ध न हो एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ कभी ।
वस्तु भेद होने से, फिर क्या कर्तृ कर्म की दशा रही,
निज के अकर्तृपन मुनि फलतः लखते, अब ना निशा रही ॥२०१॥

ज्ञान तेज अज्ञान भाव में ढ़ला खेद जिनका ताते,
निज पर स्वभाव तो ना जाने पागल पामर कहलाते ।
मूढ़ कर्म वे करते फलतः लखते निज चैतन्य नहीं,
भाव कर्म का कर्त्ता चेतन अतः स्वयं है, अन्य नहीं ॥२०२॥

कर्म कार्य जब किया हुवा, पर जीव प्रकृति का कार्य नहीं,
अज्ञ प्रकृति भी स्वकार्य फल को भोगे तब अनिवार्य सही ।
मात्र प्रकृति का भी न, अचेतन प्रकृति ! जीव ही कर्ता है,
भाव कर्म सो चेतनमय है, पुद्गल ज्ञान न धरता है ॥२०३॥

मात्र कर्म "कर्ता" यों कहना निज कर्तापन छिपा रहा,
कथंचिदात्मा "कर्ता" कहती जिन श्रुति को ही मिटा रहा ।
उस निज घातक की लघुधी को महामोह से मुर्दा हुई,
विशुद्ध करने अनेकान्तमय वस्तु स्थिति यह कही गई ॥२०४॥

लखे अकर्तामय निज को नहिं जैन सांख्य सम ये तब लौं,
कर्ता मय ही लखे सदा, शुचि-भेद ज्ञान नहिं हो जबलौं ।
विराग जब मुनि तीन गुप्ति में-लीन, समिति में नहिं भ्रमते,
कर्तृभाव से रहित पुरुष के बोध-धाम में तब रमते ॥२०५॥

कर्ता भोक्ता भिन्न-भिन्न है आत्म तत्व जब क्षणिक रहा,
इस विध कहता सुगत उपासक जिसमें-बोध न तनिक रहा ।
चेतन का शुचि चमत्कार ही उसके भ्रम को विनशाता,
सरस सुधारस से सिंचन कर मुकुलित कलिका विकसाता ॥२०६॥

अंश भेद ये पल-पल मिटते, अंशी से अति पृथक रहे,
अतः विनश्वर अंशी है, हम वस्तु तत्व के कथक रहें ।
विधि का कर्ता अतः अन्य है विधि का भोक्ता अन्य रहा,
इस विध एकान्ती मत, मत तुम धारो, जिन-मत वन्द्य अहा ॥२०७॥

शुचितम निजको लखने वाले अति-व्याप्ति मल जान रहें !
काल उपाधी वश आतम में अधिक अशुचिपन मान रहें !
सूत्र-ऋजु नयाश्रय ले चिति को क्षणिक मान आतम त्यागा.
बौद्धों ने मणि स्वीकारा, पर त्यागी माला बिन धागा ॥२०८॥

कर्ता भोक्ता में विधि वश हो अन्तर या ना किंचन हो,
कर्ता भोक्ता हो या ना हो चेतन का पर चिंतन हो !
माला में ज्यों मणियां गुंथी चिति चिंतामणि आतम में,
पृथक उन्हें कर कौन लखेगा शोभित जो मम आतम में ॥२०९॥

व्यवहारी मानव दृग की ही केवल यह है विशेषता,
कर्तृ कर्म ये भिन्न-भिन्न ही यहाँ झलकते अशेषता ।
निश्चय नय का विषय भूत उस विरागता का ले आश्रय,
मुनि जब लखता निजको, भेद न अभेद दिखता सुख आलय ॥२१०॥

आश्रय, आश्रय-दाता क्रमशः सुपरिणाम परिणामी है,
अतः कर्म परिणाम उसी का परिणामी वह स्वामी है ।
कर्ता के बिन कर्म न पदार्थ दोनों का वह भर्ता है,
वस्तु स्थिति है निज परिणामों का निज ही बस कर्त्ता है ॥२११॥

अमिट-अमित-द्युति बल ले चेतन जग में विहार करता है,
किन्तु किसी में वह ना मिलता यों मुनि विचार करता है ।
यदपि वस्तुएं परिणती हैं अपने अपने भावों से,
तदपि वृथा क्यों व्यथित मूढ है स्वभाव तज अघ-भावों से ॥२१२॥

एक वस्तु वह अन्य वस्तु की नहीं बनेगी गुरु गाता,
वस्तु सदा बस वस्तु रहेगी वस्तु तत्व की यह गाथा ।
इस विध जब यह सिद्ध हुआ पर पर का फिर क्या कर सकता ?
एक स्थान पर रहो भले ही मिलकर रहना चल सकता ॥२१३॥

अन्य वस्तु के परिणामों में पदार्थ निमित्त बनता है,
पदार्थ परिणामी परिणमता पर कर्ता नहिं बनता है ।
अन्य वस्तु का अन्य वस्तु है कर्ता इस विध जो कहना,
व्यवहारी जन की वह दृष्टि निश्चय से तुम ना गहना ॥२१४॥

निज अनुभवता शुद्ध द्रव्य मुनि लखने में जब तत्पर हो,
एक द्रव्य बस विलसित होता, नहीं प्रकाशित तब पर हो ।
ज्ञेय ज्ञान में तदपि झलकते ज्ञान बना जब शुचि दर्पण,
किन्तु मूढ़ तू पर में रमता निजपन पर में कर अर्पण ॥२१५॥

शुद्ध आत्म की स्वरस चेतना ज्ञानमयी वह जभी मिली,
विषय विषैली रहे भले पर पृथक पड़ी पर सभी गिरी ।
धवलित भूतल करती किरणें शशि की "भूमय" नहिं होती,
ज्ञान, ज्ञेय को जान "ज्ञेय मय" नहिं हो, यह शुचिमय ज्योति ॥२१६॥

ज्ञान-ज्ञान बन, ज्ञेय निजी का बना, न जब तक शोभित हो,
राग रोष ये उठते उर में आतम जब तक मोहित हो ।
मूढ पने को पूर्ण हटा कर, ज्ञान ज्ञान पन पाता है,
अभाव-भावों हुए मिटा कर पूरण स्वभाव भाता है ॥२१७॥

मूढ पने में ढला ज्ञान ही राग रोष है कहलाता,
समाधिरत मुनि रागादिक को तभी नहीं कर वह पाता ।
विराग दृग पा रागादिक का तत्त्व दृष्टि से नाश करो,
सहज प्रकट शुचि ज्ञान ज्योति हो, मोक्ष धाम में वास करो ॥२१८॥

रागादिक कालुष भावों का पर-पदार्थ नहिं कारण है,
तत्त्व दृष्टि से जब मुनि लखते अवगम हो अघ-मारण है ।
समय-समय पर पदार्थ भर में जो कुछ उठना मिटना है,
अपने-अपने स्वभाव वश ही समझ जरा ! तू इतना है ॥२१९॥

मानस सरवर में यदि लहरें राग रंग की उठती हैं,
पर को दूषण उसमें मत दो स्वतंत्र सत्ता लुटती है ।
चेतन ही बस अपराधी है, बोध हीन रति करता है,
"बोध-धाम में" सुविदित हो यह अबोध पल में टलता है ॥२२०॥

पर पदार्थ ही केवल कारण रागादिक के बनने में,
डरते नहिं है कतिपय विषयी जड़ जन इस विध कहने में ।
डूबे निश्चित, कभी नहीं वे मोह सिन्धु को तिरते हैं,
वीतराग विज्ञान विकल बन भव भव दुख में घिरते हैं ॥२२१॥

परम विमल निश्चयतामय निज बोध धार पर में ज्ञानी,
दीप घटादिक में जिसविध ना विकृत प्रभावित मुनिध्यानी ।
निज पर भेद ज्ञान बिन फिर भी राग रोष कर अज्ञानी,
वृथा व्यथा क्यों भजते, तजते समता, करते नादानी ॥२२२॥

राग रोष से रहित ज्योति धर निज निजपन को छूते हैं,
विगत अनागत कर्म मुक्त हैं कर्मोदय ना छूते हैं ।
विरत पाप से, निरत निजी शुचि-चारित में है अति भाते,
निज रस से सिंचित करती जग, "ज्ञान चेतना" यति पाते ॥२२३॥

ज्ञान चेतना करने से ही, शुद्ध, शुद्धतर बनता है,
पूर्ण प्रकाशित ज्ञान तभी हो बद्ध कर्म हर, तनता है ।
मूढ़पने के संचेतन से बोध विमलता नशती है,
तभी चेतना नियमरूप से विधि बन्धन में फसती है ॥२२४॥

कृत से कारित अनुमोदन से तन से वच से औ मन से,
विगत अनागत आगत विषयों निकालता मैं चेतन से ।
सकल क्रिया से विराम पाया, निज चेतन का आलम्बन,
लेता विराग मुनि बन, तू भी अब तो कर तन मन स्तम्भन ॥२२५॥

मैंने मोही बन व्रत में यदि अतिक्रमण का भाव किया,
मन वच तन से उसका विधिवत् प्रतिक्रमण का भाव लिया ।
चेतन रस से भरा हुआ, सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा, तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में ॥२२६॥

मोह भाव से अनुरंजित हो साम्प्रत कर्म किया करता,
उनका भी मैं आलोचन कर दया भाव निज पे धरता ।
चेतन रस से भरा हुआ-सब क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता तम में ॥२२७॥

वीतमोह बन, वीतराग बन निग्रह कर मन स्पंदन का,
प्रत्याख्यान करूँ मैं अब उस भावी विधि के बन्धन का ।
चेतन रस से भरा हुआ सब-क्रिया रहित निज आतम में,
स्थिर होता, स्थिर हो जा ! तू भी भ्रमता क्यों जड़ता-तम में ॥२२८॥

इस विध बहुविध विधि के दल को विगत अनागत आगत को,
तजकर करता भाग्य मानकर विशुद्ध नय के स्वागत को ।
शशि सम शुचितम चेतन आतम-में बस निश दिन रमता मैं,
निर्मोही बन, निर्विकार बन, केवल धरता समता मैं ॥२२९॥

मेरे विधि के विष-तरु में जो कटु-विष-फल-दल लटक रहे,
सड़े गिरे वे बिना भोग के मन कहता ना निकट रहे ।
फलत: निश्चल शैल सचेतन-शुचि आतम को अनुभवता,
इस विध विचार विराग मुनि में समय समय पर उदभवता ॥२३०॥

अशेष-वसुविध विधि के फल को पूर्ण उपेक्षित किया जभी,
अन्य क्रिया तज निज आतम को मात्र अपेक्षित किया तभी ।
अमिट काल की परम्परा मम भजे निरंतर चेतन को,
द्रुत गति से फिर विहार करले सहज स्वयं शिव-केतन को ॥२३१॥

विधि-विष-द्रुम को विगत काल में विभाव जल से सींचा था,
पर अब उसके फल ना खा, खा निज फल केवल सुख पाता ।
सदा सेव्य है सुन्दरतम है मधुर मधुरतर है साता,
इस विध निज सुख, क्रिया रहित है जिसको मुनिवर है पाता ॥२३२॥

विधि से विधि फल से अविरति से विरत व्रती हो संयत हो,
विकृत चेतना पूर्ण मिटाकर संग रहित हो, संगत हो ।
ज्ञान-चेतनामय निज रस को पूरण भर जीवो,
परम-प्रशम रस-सरस सुधारस है मुनि झट घट-भर पीवो ॥२३३॥

ज्ञान ज्ञेय से ज्ञेय ज्ञान से यदपि, प्रभावित होते हैं,
पर ये निज निज के कर्ता पर-के कदापि ना होते हैं ।
सकल वस्तुएं भिन्न-भिन्न हैं ऐसा निश्चय जभी हुवा,
ज्ञान आप में पाप-ताप बिन उज्ज्वल निश्चल तभी हुवा ॥२३४॥

पर से न्यारा स्वयं संभारा धारा इस विध रूप निरा,
ग्रहण-त्याग-मय-शील-शून्य ह अमल ज्ञान सुख कूप भिरा ?
आदि मध्य औ अन्त रहित है जिसकी महिमा द्युतिशाली,
शुद्ध-ज्ञान-घन नित्य उदित है सहज विभामय सुख-प्याली ॥२३५॥

निज आतम में निज आतम को जिसने स्थापित किया यमी,
कच्छप सम संकोचित इन्द्रिय पूर्ण रूप से- किया दमी ।
जो कुछ तजने योग्य रहा था उसको उसने त्याग दिया,
ग्राह्य जिसे झट ग्रहण किया, क्यों तू ने पर में राग किया ? ॥२३६॥

स्वय सुखाकर ज्ञान दिवाकर इस विध निश्चित प्रकट रहा,
सुचिरकाल से पूर्ण रूप से पर द्रव्यन से पृथक रहा ।
उत्तर दो अब ज्ञान हमारा आहारक फिर हो कैसा ?
जिससे तुम हो कहते रहते "काय ज्ञान का हो" ऐसा !! ॥२३७॥

शशिसम उज्ज्वल उज्ज्वलतर हैं निर्विकारतम ज्ञान महा,
इसीलिए जड़काय ज्ञान का हो नहिं सकता जान अहा !
''यथाजात'' ज्ञानी का केवल जड़तन ना शिव-कारण हो,
उपादान कारण शिव का-मुनि-ज्ञान, तरण ही तारण हो ॥२३८॥

ज्ञान चरित समदर्शन तीनों एकमेव घुल मिल जाना,
मोक्षमार्ग है यही समझ लो शिव सुख सम्मुख मिल जाना ।
यही सेव्य है यही पेय है उपादेय है ध्येय यही,
मुमुक्षु-मुनि को अन्य सभी बस हेय रही या ज्ञेय रही ॥२३९॥

चरित ज्ञान-दृगमय ही शिवपथ, जिसमें जो यति थिति पाता,
ध्यान इसी का करता चिंतन करता निशिदिन रति माता ।
निज में विचरण करता पर से दूर सदा हो जीता है,
वही आर्य ! अनिवार्य मुनीश्वर ''समयसाररस'' पीता है ॥२४०॥

इस विध पावन शिव फल दाता रत्नत्रय जो तजते हैं,
जड़ तन आश्रित यथा-जात में केवल ममता भजते हैं ।
अनुपम अखण्ड ज्योति पिण्ड शुचि समय सार को नहिं लखते,
भले दिगम्बर बने रहें वे आत्म-बोध जब नहिं रखते ॥२४१॥

बाह्य-क्रिया में उलझे रहते जड़ जन उलटे लटके हैं,
भाग्यहीन वे उन्हें न दर्शन मिलते अन्तर्घट के हैं ।
जैसा तन्दुल बोध जिन्हें ना तुष का संग्रह करते हैं,
वैसा मोही आत्म ज्ञान बिन, तपा-तपा तन मरते हैं ॥२४२॥

देह-नग्नता भर में केवल, जो मुनि ममता रखते हैं,
समय सार को कभी नहिं वे धर के समता लखते हैं ।
निमित्त शिव का देह-नग्नता, पर-आश्रित है, पुद्गल है,
किन्तु ज्ञान तो उपादान है, निज आश्रित है, सदबल है ॥२४३॥

बस करदो, बहु विकल्प जल्पों से कुछ नहिं होने वाला,
परमारथ का अनुभव कर लो, मानस मल धोने वाला ।
स्वरस-सरस भरपूर-पूर्ण-शुचि ज्ञान विभा से भासुर है,
समयसार ही सार विश्व में, जिस बिन आकुल आ-सुर है ॥२४४॥

विश्वसार है विश्व-सुलोचन अक्षय, अक्षय-सुखकारी,
समय सार का कथन यहाँ अब पूर्ण हो रहा दुखहारी ।
शुद्ध ज्ञान-घन-मय जो शिव सुख पावन परमानन्दपना,
उसे यही बस दिला, नशाता निश्चित मनका-द्वंदपना ॥२४५॥

अचल उजल यह एक अखंडित निज संवेदन में आता,
किन ही बाधावों से-बाधित हो न, अबाधित है भाता ।
इस विध केवल-ज्ञान निकेतन आत्म तत्व यह सिद्ध हुवा,
झुक झुक सविनय प्रणाम उसको करता "यह मुनि" शुद्ध हुवा ॥२४६॥

इति सर्वविशुद्ध ज्ञानाधिकार:

दोहा

ज्ञान दु:ख का मूल है ज्ञान हि भव का कूल ।
राग सहित प्रतिकूल है राग रहित अनुकूल ॥१॥

चुन चुन इनमें उचित को अनुचित मत चुन भूल ।
समयसार का सार है निज बिन पर सब धूल ॥२॥

स्याद्वाद-अधिकार

उजल उजल स्याद्वाद-शुद्धि हो जो बुध को अति भाती है,
वस्तु-तत्व की सरल व्यवस्था इसीलिए की जाती है ।
एक ज्ञान ही युगपत् होता उपाय उपेय किस विध है,
इसका भी कुछ विचार करते गुरुवर बुधजन इस विध है ।।२४७।।

पशु सम एकान्ती का निश्चित ज्ञान पूर्णतः सोया है,
पर में उलझा हुवा सदा है निज बल को बस खोया है ।
स्यादवाद यदपि ज्ञान वह सकल ज्ञेय का है ज्ञाता,
तदपि निजी पन तजता नहिं है स्वरस भरित ही है भाता ।।२४८।।

देख जगत को ''ज्ञान'' समझकर एकान्ती बन मनमानी,
पशु सम स्वैरी विचरण करता ज्ञेय-लीन वह अज्ञानी,
जगत-जगत में रहा निरा, पर जगत जानता स्याद्वादी,
जग में रह कर जग से न्यारा, मुनिवर निज रस का स्वादी ।।२४९।।

पर पदार्थ के ग्रहण भाव कर आगत पर-प्रति-छवियों से,
ज्ञान-शक्ति अति निर्बल जिनका जड़ जन नशते पशुओं से ।
अनेकान्त को ज्ञानी लखता, ज्ञेय-भेद-भ्रम हरता है,
सतत उदित पर एक ज्ञान का, अबाध अनुभव करता है ।।२५०।।

पर प्रति-छवि से पंकिल चिति को इक विध, शुचि करने मानी,
स्वपर प्रकाशक ज्ञान स्वतः पर उसे त्यागता अज्ञानी ।
पर ज्ञेयों से चित्रित चिति को स्वतः शुद्धतम स्याद्वादी,
पर्यायों वश अनेकता बस चिति में लखता निज स्वादी ।।२५१।।

निज का अवलोकन ना करता एकान्ती पशु मर मिटता,
पूर्ण प्रकट स्थिर पर को लखता मुग्ध हुवा पर में पिटता ।
स्यादवादी निज अवलोकन से पूरण जीवन जीता है,
शुद्ध-बोध द्युति-पाकर भाता तुरत-राग से रीता है ।।२५२।।

निज आतम को नहीं जानता परमें रत, पा विकारता,
विषय-वासना वश निजको शठ सकल, द्रव्यमय निहारता ।
पर का निज में अभाव लख, पर-पर को पर ही जान व्रती,
निज के शुचितम बोध तेज में स्याद्वादी रममान यती ॥२५३॥

भिन्न क्षेत्र स्थित पदार्थ-दल को विषय बनाता अपना है,
बाहर भ्रमता, मरता निज को परमय लख शठ सपना है ।
निज को निज का विषय बनाकर निज में निज बल समेटता,
आत्म क्षेत्र में रत स्याद्वादी होता पर-पन मुमेटता ॥२५४॥

आत्म-क्षेत्र में स्थिति पाने शठ भिन्न-क्षेत्र स्थित पदार्थपन,
तजे संग तज चिति-गत-ज्ञेयों मरता तजता निजार्थपन ।
निज में स्थित हो कर लखता नित पर में निज की अभावता,
स्याद्वादी मुनि पर तजता पर तजता कभी न स्वभावता ॥२५५॥

पूर्व ज्ञान का विषय बना था उसको नशता लख, सो ही,
स्वयं ज्ञान का नाश मान पशु मरता हताश हो मोही ।
बाह्य वस्तुएं बार-बार उठ मिटती, परन्तु स्याद्वादी,
स्वीय काल वश, त्रिकाल ध्रुव निज को लख रहता ध्रुव स्वादी ॥२५६॥

ज्ञेयालम्बन जब से तब से-ज्ञान हुवा वे यों कहें वृथा,
ज्ञेयालम्बन-लोलुप बन शठ पर में रमते सहें व्यथा ।
भिन्न काल का अभाव निज में मान जान वे गतमानी,
सहज, नित्य, निज-निर्मित्त शुचितम ज्ञान पुंज में रत ज्ञानी ॥२५७॥

पर परिणति को निज परिणति लख पर में पाखण्डी रमता,
निज महिमा का परिचय बिन पशु एकान्ती भव-भव भ्रमता ।
सब में निज निज भाव भरे हैं उन सबसे अति दूर हुवा,
प्रकट निजामृत को अनुभवता स्याद्वादी नहिं चूर हुवा ॥२५८॥

विविध विश्व के सकल ज्ञेय का उद्भव अपने में माने,
निर्भय स्वैरी शुद्ध भाव तज खेल-खेलते मन माने ।
परका मुझे में अभाव निश्चित समझ किन्तु यह मुनि ऐसा,
निजारूढ़ स्याद्वादी निश्चल लसे शुद्ध दर्पण जैसा ॥२५९॥

उद्भव व्यय से व्यक्त ज्ञान के विविध अंश को देख तभी,
क्षणिक तत्व को मान कुधी जन सहते दुख अतिरेक सभी ।
पै स्याद्विद चितिपन सिंचित सरस सुधारस सु पी रहा,
अडिग-अचल बन शुद्ध-बोध-घन सुजी रहा, मुनि सुधी रहा ॥२६०॥

निर्मल निश्चल बोध भरित निज आतम को शठ जान अहा !
उजल उछलती चिति परिणति से भिन्न आत्म परमाण अहा ।
नित्य ज्ञान हो भंगुर बनता उसे किन्तु द्युतिमान, वही,
चेतन-परिणति बल से ज्ञानी-ज्ञान क्षणिकता लखे सही ॥२६१॥

तत्व ज्ञान से वंचित ऐसे मूढ़ जनों को दर्शाता,
ज्ञान मात्र वह आतम तत्व है साधु जनों को हर्षाता ।
अनेकान्त यह इस विध होता सतत सुशोभित अपने में,
स्वयं स्वानुभव में जब आता मिटते सब हैं सपने ये ॥२६२॥

वस्तु तत्व की सरल व्यवस्था उचित रूप से करता है,
अपने को भी उचित स्थान पर स्थापित खुद ही करता है ।
तीन लोक के नाथ जिनेश्वर जिन-शासन पावन प्यारा,
अनेकान्त यह स्वयं सिद्ध है विषय बनाया जग सारा ॥२६३॥

दोहा

मेटे वाद-विवाद को निर्विवाद स्याद्वाद ।
सब वादों को खुश रखे पुनि पुनि कर संवाद ॥१॥

समता भज, तज प्रथम तू पक्षपात परमाद ।
स्याद्वाद आधार ले "समयसार" पढ़ बाद ॥२॥

साध्य-साधक-अधिकार

इसविध अनेक निज बल आकर होकर आतम भाता है,
सहज ज्ञान-घन को फिर भी नहिं तजता पावन साता है
आत्म द्रव्य पर्यय का न्यारा अक्षय अव्यय केतन है,
क्रम-अक्रम-वर्ती पर्यय से शोभित होता चेतन है ।।२६४।।

वस्तु तत्व ही अनेकान्तमय स्वयं रहा, गुरु लिखते हैं
अनेकान्त के लोचन द्वारा जिसे सन्त जन लखते हैं ।
स्याद्वाद की और शुद्धि पा बनते मुनि जन वे ज्ञानी,
जिन मत से विपरीत किन्तु ना जाते बन के अभिमानी ।।२६५।।

किसी तरह पर यत्न सुधी जन वीतमोह बन गत रागी,
केवल निश्चल ज्ञान भाव का आश्रय करते बड़ भागी ।
शिवका साधक रत्नत्रय वे फलतः पा कर शिव गहते,
मूढ़ मोह वश विरागता बिन भव-भव भ्रमते दुख सहते ।।२६६।।

स्याद्वाद से पूर्ण कुशलता पा अविचल संयम-धारी,
पल पल अविरल अविकल निर्मल निज को ध्यावें अविकारी ।
ज्ञानमयी नय क्रियामयी नय इन्हें परस्पर मित्र बना,
पाता मुनिवर वही अकेला शुद्ध-चेतना मात्रपना ।।२६७।।

चेतन रस का पिण्ड चण्ड है सहज भाव से विहस रहा,
विराग मुनि में इसविध आतम उदित हुवा है विलस रहा ।
चिदानन्द से अचल हुवा वह एक रूप ही सदा हुवा,
शुद्ध ज्योति से पूर्ण भरा है प्रभात सुख का सदा हुवा ।।२६८।।

शुद्ध-भावमय विराग-मम-मन में जब द्युतिपन उदित हुवा,
स्याद्वाद से झगर झगर कर स्फुरित हुवा है मुदित हुवा ।
अन्य भाव से फिर क्या मतलब भव या शिव पथ में रखते,
स्वीय भाव बस उदित रहे यही भावना मुनि रखते ।।२६९।।

यद्यपि बहुविध बहुबल आलय आतम तमनाशक साता,
नय के माध्यम ले लखता हूँ खण्ड-खण्ड हो नश जाता ।
खण्ड निषेधित अतः किए बिन अखण्ड चेतन को ध्याता,
शान्त, शान्ततम अचल निराकुल छविमय केवल को पाता ॥२७०॥

ज्ञान मात्र हो ज्ञेय रूप में यह जो मैं शोभित होता,
किन्तु ज्ञेय का ज्ञान मात्र नहिं तथापि हूँ बाधित होता ।
ज्ञेय रूप-धर ज्ञान विकृतियां सतत उगलती उजियाली,
परन्तु ज्ञाता ज्ञान-ज्ञेयमय वस्तु मात्र मम है प्यारी ॥२७१॥

आत्म-तत्व मम चित्रित दिखता कभी चित्र बिन लसता है,
चित्राचित्री कभी-कभी वह विस्मित सस्मित हंसता है ।
तथापि निर्मल-बोध-धारि के करे न मन को मोहित है,
चूंकि परस्पर बहुविध बहुगुण-मिले आत्म में शोभित हैं ॥२७२॥

द्रव्य दृष्टि से एक दीखता पर्यय वश वह नैक रहा,
क्षण-क्षण पर्यय मिटे क्षणिक है, ध्रुव, गुण वश तू देख अहा ?
ज्ञान दृष्टि से विश्व व्याप्त पर स्वीय-देश में खड़ा हुवा,
अद्भुत वैभव सहज आत्म का देखो निज में पड़ा हुआ ॥२७३॥

बहती जिसमें कषाय-नाली शांति सुधा भी झरती है,
भव पीड़ा भी वहीं प्यार कर मुक्ति रमा मन हरती है ।
तीन लोक भी आलोकित है अतिशय चिन्मय लीला है,
अद्भुत से अद्भुत-तम महिमा आतम की जय शीला है ॥२७४॥

सकल विश्व ही युगपत् जिसमें यदपि निरन्तर चमक रहा,
तदपि एक बन जयशाली है सहज तेज से दमक रहा ।
निज रस पूरित रहा अतः वह तत्व बोध से सहित रहा,
चेतन का जो चमत्कार है अचल व्यक्त हो स्फुरित रहा ॥२७५॥

चेतन-मय शुचि 'अमृतचन्द्र' की सौम्य ज्योति अवभासित है,
अविचल-आतम में आतम से आतम का कर आश्रित है।
बाधा बिन वह रही अकेली रही न काली मोह-निशा,
फैली परितः विमल-धवलिमा उजल उठी है दशों दिशा ॥२१६॥

स्वपर-रूप गह विपर्यास हो प्रथम एकय कर निज तन में,
रागादिक कर आतम उलझे कर्तृ-कर्म के उलझन में।
कर्म-'कर्मफल' चेतन का फिर अनुभव वश नित खिन्न हुवा,
ज्ञान-रूप में निरत यही अब तन-मन से अति भिन्न हुवा ॥२१७॥

वस्तु तत्व की यथार्थता का वर्णन जिसने किया सही,
शब्द-समय न 'समयसार' का स्वयं निरूपण किया यही।
कार्य-रहा नहि अब कुछ करने "अमृतचन्द्र" हूँ सूरि यदा,
लस गुप्त हूँ सुगुप्त निज में सुख अनुभवता भूरि सदा ॥२१८॥

श्री अमृतचन्द्रसूरिये नमः

दोहा

दृग व्रत चिति की एकता, मुनिपन साधक भाव।
साध्य सिद्ध शिव सत्य है, विगलित बाधकभाव ॥१॥

साध्य साधक ये सभी, सचमुच में व्यवहार।
निश्चय नय मय नयन में, समय समय का सार ॥२॥

समापन

आशीष लाभ तुम से यदि मैं न पाता,
जाता लिखा नहिं "निजामृत पान" साता।
दो "ज्ञानसागर" गुरो ! मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनूं तजदूं अविद्या ॥१॥

दोहा

"कुन्द-कुन्द" को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥२॥

"अमृत चन्द्र" से अमृत, है झरता जग-अपरूप।
पी पी मम मन मृतक भी, अमर बना सुख कूप ॥३॥

तरणि "ज्ञानसागर" गुरो ! तारो मुझे ऋषीश
करुणा कर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥४॥

सुफल

मुनि बन मन से जो सुधी करें "निजामृतपान"
मोक्ष ओर अविरल बढ़े चढ़े मोक्ष सोपान ॥५॥

मंगलकामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ, करूँ निजी-गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समयसार को जान।
गट गट झट पट चाव से करूँ "निजामृतपान" ॥२॥

रम रम शम-दम में सदा मत रम पर में भूल।
रख साहस फलतः मिले भव का पल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतम राम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निग निगमय नव्य में नियत निरंजन नित्य ।
जान मान इस विध तजूँ विषय कषाय अनित्य ॥५॥

मृदुता तन मन वचन में धारो बन नवनीत ।
तब जप तप सार्थक बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

पापी से मत पाप से घृणा करो अयि ! आर्य ।
नर वह ही बस पतित हो पावन कर शुभ कार्य ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक, कवि मैं हूँ नहीं, मुझमें कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवे यदि यहाँ, शोध पढ़े, धीमान ॥८॥

स्थान एवं समय परिचय

कुण्डल गिरि के पास है नगर दमोह महान ।
ससंघ पहुँचा पुनि जहाँ भवि जन पुण्य महान ॥९॥

देव-गगन गति गंध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को निजानन्द के काज ॥१०॥

इष्टोपदेश
एवं
द्रव्य संग्रह

द्रव्यसंग्रह

मूल : द्रव्यसंग्रह (प्राकृत)

रचनाकार : नेमिचंद सिद्धान्त चक्रवर्ती

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

द्रव्य संग्रह (१)

मंगलाचरण

देवाधिदेव जिन नायक ने किया है,
जो जीव का कथन द्रव्य अजीव का है ।
सौ-सौ सुरेन्द्र झुकते जिनके पदों में,
वन्दूँ सदा विनत हो उनको अहो मैं ॥१॥

भोक्ता स्वदेह परिमाण सुसिद्ध स्वामी,
होता स्वभाव वश हो वह उर्ध्वगामी ।
कर्ता अमूर्त उपयोगमयी तथा है,
सो जीव जीवभर की नव ये कथा है ॥२॥

उच्छ्वास स्वाँस बल इन्द्रिय आयु प्यारे,
ये चार प्राण जग जीव त्रिकाल धारे ।
संगीत यों गुन-गुना व्यवहार गाता,
पै जीव में नियम से चिति प्राण भाता ॥३॥

ज्ञानोपयोग इक दर्शन नाम पाता,
यों जीव का द्विविध है उपयोग भाता ।
चक्षु अचक्षु अवधी वर केवलादि,
ये चार भेद उस दर्शन के अनादि ॥४॥

मिथ्या, सही मति श्रुतावधि ज्ञान तीनों,
कैवल्य ज्ञान मन पर्यय ज्ञान दोनों ।
यो ज्ञान अष्ट विध हैं गुरु हैं बताते,
प्रत्यक्ष ज्ञान चहु चार परोक्ष भाते ॥५॥

यो चार आठ विध दर्शन ज्ञान वाला,
सामान्य जीव परिलक्षण है निराला ।
ऐसा स्वगीत व्यवहार सुना रहा है,
पै शुद्ध "ज्ञान दृग" निश्चय गा रहा है ॥६॥

ये पंच पंच वसु दो रस वर्ण स्पर्श,
गंधादि जीव गुण को करते न स्पर्श ।
सो जीव निश्चय तया कि अमूर्त भाता,
पै मूर्त्त बन्ध वश है व्यवहार गाता ॥७॥

आत्मा विशुद्धनय से शुचि धर्म का है,
औ व्यावहार वश पुद्गल कर्म का है ।
कर्त्ता अशुद्धनय से रति भाव का है,
चैतन्य के विकृत भाव विभाव का है ॥८॥

रे व्यावहार नय से विधि के फलों को,
है भोगता सुख दुखों जड़ पुद्गलों को ।
आत्मा विशुद्धनय से निज-चेतना को,
पै भोगता तुम सुनो जिन देशना को ॥९॥

विस्तार संकुचन शक्ति तया शरीरी,
छोटा बड़ा तन प्रमाण दिखे विकारी ।
पै छोड़ के समुद्घात दशा हितैषी,
है वस्तुतः सकल जीव असंख्य देशी ॥१०॥

पृथ्वी जलानल समीर तथा लतायें,
एकेन्द्रि जीव सब थावर ये कहायें ।
है धारते करण दो त्रय चार पंच,
शंखादि जीव त्रस हैं सुख है न रंच ॥११॥

संज्ञी कहाय समना अमना असंज्ञी,
पंचेन्द्रि हो द्विविध शेष सभी असंज्ञी ।
एकेन्द्रि जीव सब बादर सूक्ष्म होते,
पर्याप्त औ इतर ये दिन रैन रोते ॥१२॥

है मार्गणा व गुण थान तथा विकारी,
होते चतुर्दश चतुर्दश कायधारी ।
गाता अशुद्धनय यों सुन भव्य ! प्यारे,
पै शुद्ध, शुद्धनय से, जग जीव सारे ॥१३॥

उत्पाद ध्रौव्य व्यय लक्षण से लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं ।
वे सिद्ध न्यून कुछ अंतिम काय से हैं,
निष्कर्म अक्षय सजे गुण आठ से हैं ॥१४॥

आकाश पुद्गल व धर्म अधर्म काल,
ये हैं अजीव सुन तू अयि भव्य बाल ।
रूपादि चार गुण पुद्गल में दिखाते,
है मूर्त्त पुद्गल न शेष अमूर्त्त भाते ॥१५॥

संस्थान भेद तम स्थूलपना व छाया,
औ सूक्ष्मता करम बंधन शब्द माया ।
उद्योत आतप यहाँ जग में दिखाते,
पर्याय वे सकल पुद्गल के कहाते ॥१६॥

धर्मास्तिकाय खुद ना चलता चलाता,
पै प्राणि पुद्गल चले गति है दिखाता ।
मानो चले न, यदि वे न उन्हें चलाता,
ज्यों नीर मीन-गति में, गति दान दाता ॥१७॥

ज्यों जीव पुद्गल रुके स्थिति है दिलाता,
होता अधर्म वह है स्थिति दान-दाता ।
मानों चले, नहिं रुके स्थिति दे न भाई,
छाया यथा पथिक को स्थिति में सहाई ॥१८॥

जीवादि द्रव्य दल को अवकाश देता,
आकाश सो कह रहे जिन आत्म जेता ।
होता वही द्विविध लोक अलोक द्वारा,
ऐसा सदा समझ तू जिन शास्त्र सारा ॥१९॥

जीवादि द्रव्य छह ये मिलते जहाँ है,
माना गया अमित लोक यही यहाँ है ।
आकाश केवल, अलोक वही कहाता,
ऐसा वसन्ततिलका यह छंद गाता ॥२०॥

जीवादि द्रव्य परिवर्तन रूप न्यारा,
औ पारिणाम मय लक्षण आदि धारा ।
तू मान काल व्यवहार वही कहाता,
पै वर्तनामय सुनिश्चित काल भाता ॥२१॥

जो एक-एक करके चिर से लसे हैं,
जो लोक के प्रति प्रदेशन में बसें हैं ।
कालाणु है रतन राशि समान प्यारे,
होते असंख्य कहते ऋषि संत सारे ॥२२॥

हैं द्रव्य भेद छह जीव अजीव द्वारा,
श्री वीर ने सदुपदेश दिया सुचारा ।
है अस्तिकाय इनमें बस पंच न्यारे,
पै काल के बिना सुनो अयि भव्य प्यारे ॥२३॥

जीवादि क्योंकि जब हैं इनको इसी से,
श्री वीर 'अस्ति' इस भांति कहे सदी से ।
औ काय से सब सदैव बहुप्रदेशी,
है 'अस्तिकाय फलत:' समझो हितैषी ॥२४॥

आकाश में अमित जीव व धर्म में है,
होते असंख्य परदेश अधर्म में हैं ।
है मूर्त्त संख्य गतसंख्य अनन्त देशी,
ना काल काय फलत: इक मात्र देशी ॥२५॥

है मूर्त्त यद्यपि रहा अणु एक देशी,
होता अनेक मिल के अणु नेक देशी ।
तो अस्तिकाय फलत: उपचार से है,
सर्वज्ञ यों कह रहे व्यवहार से है ॥२६॥

जो पुद्गलाणु जड़ है अविभाज्य न्यारा,
आकाश को कि जितना वह घेर डाला ।
माना गया वह प्रदेश यहाँ अकेला,
सर्वाणु स्थान यदि ले वह दे सकेगा ॥२७॥

जो पुण्य पाप विधि आस्रव बंध तत्त्व,
औ निर्जरा सुखद संवर मोक्ष-तत्त्व ।
ये भी विशेष सब जीव अजीव के हैं,
संक्षेप से गुरु उन्हें कह तो रहे हैं ॥२८॥

तो ! आत्म के उस निजी परिणाम से जो,
हो कर्म आगमन हा ! अविलम्ब से वो ।
है भाव आस्रव वही अरु कर्म आना,
है द्रव्य आस्रव वही गुरु का बताना ॥२९॥

मिथ्यात्व औ अविरती व प्रमाद-योग,
क्रोधादि भावमय आस्रव दुःख रोग ।
ये पाँच-पाँच दश पाँच त्रि चार होते,
देही इन्हें धर सदैव अपार रोते ॥३०॥

मोहादि कर्म पन में ढल पुद्गलों का,
आता समूह जड़ आतम में जड़ों का ।
हो द्रव्य आस्रव वही बहु-भेद वाला,
ऐसा जिनेश कहते सुख वेद शाला ॥३१॥

जो कर्म बन्ध जिस चेतन भाव से हो,
है भाव बन्ध वह दूर स्वभाव से हो ।
दोनों मिलें जब परस्पर कर्म आत्मा,
सो द्रव्य बन्ध जिससे निज धर्म ख्वात्मा ॥३२॥

है भाव आस्रव निरोधन में सहाई,
चैतन्य से उदित जो परिणाम भाई ।
सो भाव संवर सुनिश्चय ने पुकारा,
द्रव्यास्रवा रुकत संवर द्रव्य न्यारा ॥३३॥

ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत साधनाएँ ।
सत्यादि धर्म दश द्वादश भावनाएँ ।
औ जीतना परिषहों सुचरित्र नाना,
है भाव संवर सभी गुरु का बताना ॥३४॥

भोगा गया करम का झड़ना सुचारा,
कालानुसार तप से निज भाव द्वारा ।
सो भाव, भावमय निश्चित निर्जरा है,
औ कर्म का झरण द्रव्य सुनो जरा है ॥३५॥

सत् त्याग से विधि-झरे अविपाक सो है,
छूटे विधी समय पे सविपाक सो है ।
यों निर्जरा यह नितान्त द्विधा-द्विधा है,
प्राग्भव्य मार्ग अविपाक भली सुधा है ॥३६॥

जो आत्म भाव सब कर्म विनाश हेतू,
सो भाव मोक्ष सुन ले जिन दास रे तू ।
औ आत्म से पृथक हो जड़ कर्म प्यारे,
सो द्रव्य मोक्ष मिलता जिन धर्म धारे ॥३७॥

देही शुभाशुभ विकार विभाव धारी,
है पुण्य पाप मय निश्चय से विकारी ।
होता शुभायु शुभगोत्र सुनाम साता,
है पुण्य शेष बस ! पाप किसे सुहाता ॥३८॥

रे मोक्ष का सुखद कारण ही वही है,
विज्ञान औ चरित दर्शन जो सही है ।
ऐसा कहे कि व्यवहार यथार्थ में तो,
रत्नत्रयात्मक निजात्म पदार्थ में हो ॥३९॥

रे ! आत्म द्रव्य तज अन्य पदार्थ में वो,
ज्ञानादि रत्नत्रय ही न यथार्थ में हो ।
आत्मा रहा इन त्रयात्मक ही स्वतः है,
सो मोक्षकारण निजातम ही अतः है ॥४०॥

है आत्म रूप वह जीव अजीव श्रद्धा,
सम्यक्त्व, किन्तु करता न अभव्य श्रद्धा ।
सम्यक्त्व, होय तब ज्ञान सुचारु सच्चा,
संमोह संशय विमुक्त सुहाय अच्छा ॥४१॥

संमोह संभ्रम ससंशय हीन प्यारा,
कल्यान खान वह ज्ञान प्रमाण प्याला ।
माना गया स्व पर भाव-प्रभाव दर्शी,
साकार नेक विधि शाश्वत सौख्य स्पर्शी ॥४२॥

साकार के बिन विशेष किये बिना ही,
सामान्य द्रव्य भर का वह मात्र ग्राही ।
है भव्य मान वह दर्शन नाम पाता,
ऐसा जिनागम यहाँ अविराम गाता ॥४३॥

हो पूर्व दर्शन जिसे फिर ज्ञान होता,
छद्मस्थ दो न युगपत उपयोग ढोता ।
दो एक साथ उपयोग महाबली को,
मेरा उन्हें नमन हो जिन केवली को ॥४४॥

जो त्यागता अशुभ को शुभ को निभाना,
मानो उसे ही व्यवहार चरित्रवाना ।
ये गुप्तियाँ समितियाँ व्रत आदि सारे,
जाते अवश्य व्यवहार तया पुकारे ॥४५॥

जो बाह्य भीतर क्रिया भववर्धिनी है,
ज्ञानी निरोध उनका करते गुणी हैं ।
वे ही यमी चरित निश्चय धार पाते,
ऐसा जिनेश कहते भव-पार जाते ॥४६॥

है मोक्षमार्ग द्वय को अनिवार्य पाता,
सदध्यान लीन मुनि वो निजकार्य धाता ।
भाई अतः यतन से शुचि भाव से रे,
अभ्यास ध्यान निज का कर चाव से रे ॥४७॥

हो चित्त को अचल मेरु अहो बनाना,
हो चाहते सहज ध्यान सदा लगाना ।
अच्छे बुरे सुखद दुःखद वस्तुओं में,
ना मोह द्वेष रति राग करो जड़ों में ॥४८॥

पैंतीस सोलह छ पाँच व चार दो एक,
जो शब्द वाचक रहे परमेष्ठियों के ।
या अन्य भी पद मिले गुरु देशना से,
ध्यावो उन्हें तुम जपो शुचि चेतना से ॥४९॥

जो घाति कर्म दल को जड़ से मिटाया,
संपूर्ण ज्ञान सुख-दर्शन वीर्य पाया ।
औ दिव्य देह स्थित है अरहन्त आत्मा,
है ध्येय ध्यान उसका कर अन्तरात्मा ॥५०॥

दृष्टा व ज्ञायक त्रिलोक अलोक के हैं,
आसीन जो शिखर पे त्रयलोक के हैं ।
दुष्टाष्ट कर्म तन वर्जित ध्येय प्यारे,
आकार से पुरुष सिद्ध सदैव ध्या ! रे ॥५१॥

आचार पंच तप चारित्र वीर्य प्यारा,
औ ज्ञान दर्शन जिनागम ने पुकारा ।
आचार में रत स्वयं पर को कराता,
आचार्य वर्य मुनि ध्येय वही कहाता ॥५२॥

धर्मोपदेश समयोचित नित्य देते,
ज्ञानादि रत्नत्रय में रस पूर्ण लेते ।
होते यतीश उवझाय प्रवीण तातैं,
हो आपके चरण में हम लीन जातैं ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान समवेत चरित्र होता,
है मोक्षमार्ग वह है सुख को संजोता ।
जो साधते सतत हैं उसको सुचारा,
वे साधु हैं नमन हो उनको हमारा ।।५४।।

कोई पदार्थ मन में सुविचारता है,
हो वीतराग मुनि राग विसारता है ।
एकत्व को नियम से वह शीघ्र पाता,
संसार में सुखद निश्चय ध्यान ध्याता ।।५५।।

चिन्ता करो न कुछ भी मन से न डोलो,
चेष्टा करो न तन से मुख को न खोलो ।
यों योग में गिरि बनो शुभ ध्यान होता,
आत्म निजात्म रत ही वरदान होता ।।५६।।

सदज्ञान पा तप महाव्रत · धार पाता,
वो साधु ध्यान-रथ बैठ स्वधाम जाता ।
सदध्यान पूर्ण सधने तुम तो इसी से,
ज्ञानादि में निरत हो नित हो रुची से ।।५७।।

मैं 'नेमिचन्द्र' मुनि हूँ लघुधी यमी हूँ,
है 'द्रव्य संग्रह' लिखा पर मैं शमी हूँ ।
विज्ञान कोष गत दो सुसाधु नेता,
शोधे इसे बस यही मन अक्ष-जेता ।।५८।।

गुरु-स्तुति

हे ! नेमिचन्द्र मुनि कौमुद मोदकारी,
सिद्धान्त पारग विराग चिराग धारी ।
दो ज्ञानसागर गुरो मुझको सुविद्या,
विद्यादिसागर बनू तज दूँ अविद्या ॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढे धीमान ॥

मंगल कामना

चाहो शाश्वत मोक्ष को चाहो केवलज्ञान ।
संगत्याग कर नित करे निज का केवलध्यान ॥
रवि से बढ़ कर तेज है शशि से बढ़कर ज्योत ।
झाँक देख निज में जरा सुख का खुलता श्रोत ॥
पर में सुख कहिं है नहीं खुद ही सुख की खान ।
निजी नाभि में गंध है मृग भटके बिन ज्ञान ॥
आत्म कथा तज क्यों करो नित विकथा निस्सार ॥
पय तज, पीते विष भला क्यों हो निज उद्धार ॥
प्रतिदिन सविनय चाव से इसको पढ तू ! भव्य ॥
सुर सुख शिव सुख नियम से पाले अक्षय द्रव्य ॥

समय एवं स्थान परिचय

देव गगन गति गंध की तिथि श्रुत पंचमि सार ।
ग्राम अभाना में लिखा ध्येय मिले भव पार ॥

द्रव्य संग्रह (२)

(दोहा)

नेमिनाथ को नित नमूँ, नेमिचन्द मुनि-याद ।
नेमिचन्दमुनि को नमूँ, नेमिनाथ बुनियाद ॥१॥

सारे सागर क्षार हैं, मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर, गहूँ, भव-सागर का पार ॥२॥

ज्ञानोदय-छंद

जीव सचेतन द्रव्य रहे हैं तथा अचेतन शेष रहें,
जिनवर में भी जिन-पुंगव वे इस विध जिन-वृषभेष कहें ।
शत-शत सुरपति शत-शत वन्दन जिन-चरणों में सर धरते,
उन्हें नमूं मैं भाव-भक्ति से मस्तक से झुक-झुक कर के ॥१॥

सुनो ! जीव उपयोग-मयी है तथा अमूर्तिक कहलाता,
स्व-तन बराबर प्रमाणवाला कर्ता-भोक्ता है भाता ।
ऊर्ध्व-गमन का स्वभाव वाला सिद्ध तथा है अविकारी
स्वभाव के वश विभाव के वश कसा कर्म से संसारी ॥२॥

आयु, श्वास और बल इन्द्रिय यूं चार-प्राण को धार रहा,
विगत-अनागत-आगत में यह जीव रहा व्यवहार रहा ।
किन्तु जीव का सदा-सदा से मात्र चेतना श्वास रहा,
निश्चय-नय का कथन यही है "यह हम को" विश्वास रहा ॥३॥

आतम में उपयोग द्विविध है आगम ने यह गाया है,
ज्ञान-रूप और दर्शन-पन में गुरुवर ने समझाया है ।
ज्ञात रहे फिर दर्शन भी वह चउविध माना जाता है,
अचक्षु-दर्शन, चक्षु अवधि औ केवल-दर्शन साता है ॥४॥

मति-श्रुत दो-दो और अवधि दो उलटे-सुलटे चलते हैं,
मन-पर्यय और केवल दो यूं ज्ञान भेद वसु मिलते हैं ।
मति-श्रुत परोक्ष, शेष सभी हो विकल-सकल प्रत्यक्ष रहे,
लोकालोकालोकित करते त्रिभुवन के अध्यक्ष कहे ॥५॥

आतम का साधारण-लक्षण वसु-चउ-विध उपयोग रहा,
गीत रहा व्यवहार गा रहा सुनो ! जरा उपयोग लगा ।
किन्तु शुद्धनय के नयनों में शुद्धज्ञान-दर्शन-वाला,
आतम प्रतिभासित होता हैं बुध-मुनि मन हर्षणहारा ॥६॥

पंच-रूप, रस-पंच, गन्ध-दो आठ-स्पर्श, सब ये जिनमें,
होते ना हैं "जीव" वही है कथन किया है यूं जिन ने ।
इसीलिए हैं जीव अमूर्तिक निश्चय-नय ने माना है,
जीव, मूर्त व्यवहार बताता कर्म-बन्ध का बाना है ॥७॥

पुद्गल कर्मादिक का कर्ता जीव रहा व्यवहार रहा,
रागादिक चेतन का कर्ता अशुद्ध-नय से क्षार रहा ।
विशुद्ध-नय से शुद्ध-भाव का कर्ता कहते सन्त सभी,
शुद्ध-भाव का स्वागत कर लो, कर लो भव का अन्त अभी ॥८॥

आतम को कृत-कर्मों का फल-सुख-दुःख मिलता रहता है,
जिसका वह व्यवहार-भाव से भोक्ता बनता रहता है ।
किन्तु निजी शुचि चेतन-भावों का भोक्ता यह आतम है,
निश्चय-नय की यही दृष्टि है कहता यूं परमागम है ॥९॥

समुदघात बिन सिकुड़न-प्रसरण-स्वभाव को जो धार रहा,
लघु-गुरु तन के प्रमाण होता "जीव" यही व्यवहार रहा ।
स्वभाव से तो जीवात्मा में असंख्यात-परदेश रहे,
निश्चय-नय का यही कथन है सन्तों के उपदेश रहें ॥१०॥

पृथिवी-जल-अगनी-कायिक औ वायु-वृक्ष कायिक सारे,
बहु-विध "स्थावर" कहलाते हैं मात्र एक इन्द्रिय धारे।
द्वय-तिय-चउ-पंचेन्द्रिय-धारक "त्रस-कायिक" प्राणी जाने,
भव-सागर में भ्रमण कर रहे कीट-पतंगे मन माने ॥११॥

द्विविध रहे हैं पंचेन्द्रिय भी रहित-मना और सहित-मना,
शेष जीव सब रहित-मना हैं कहते इस विध विजित-मना।
स्थावर, बादर सूक्ष्म द्विविध हैं दुःख से पीडित हैं भारी,
फिर सब ये पर्याप्त तथा हैं पर्याप्तेतर संसारी ॥१२॥

तथा मार्गणाओं में चौदह गुणथानों में मिलते हैं,
अशुद्ध-नय से प्राणी-भव में युगों-युगों से फिरते हैं।
किन्तु सिद्ध-सम विशुद्ध-तम हैं सभी जीव ये अविकारी,
विशुद्ध-नय का विषय यही है विषय-त्याग दे अघकारी ॥१३॥

अष्ट-कर्म से रहित हुये हैं अष्ट-गुणों से सहित हुये,
अन्तिम तन से कुछ कम आकृति ले अपने में निहित हुये।
तीन लोक के अग्रभाग पर सहजरूप से निवस रहे,
उदय-नाश-ध्रुव-स्वभाव युत हो शुद्ध "सिद्ध" हो दिवस रहे ॥१४॥

पुद्गल-अधर्म-धर्म-काल-नभ पांच द्रव्य इन को मानो,
चेतनता से दूर रहें ये "अजीव" तातैं पहिचानों।
रूपादिक गुण धारण करता मूर्त-द्रव्य "पुद्गल" नाना,
शेष द्रव्य हैं अमूर्त, क्यों फिर मूर्तों पर मन मचलाना ? ॥१५॥

टूटन-फूटन रूप भेद औ सूक्ष्म-स्थूलता आकृतियां
श्रवणेन्द्रिय के विषय-शब्द भी प्रतिछवि छाया या कृतियां।
चन्द्र, चांदनी, रवि का आतप अंधकार आदिक समझो,
"पुद्गल" की ये पर्यायें हैं पर्यायों में मत उलझो ॥१६॥

गमन-कार्य में निरत रहे जब जीव तथा पुद्‌गल-भाई,
''धर्म-द्रव्य'' तब बने सहायक, प्रेरक बनता पर नाही।
मीन तैरती सरवर में जब जल बनता तब सहयोगी,
रुकी मीन को गति न दिलाता उदासीन भर हो, योगी! ॥१७॥

किसी थान में रुकते हों जब जीव तथा पुद्‌गल भाई,
''अधर्म'' उसमें बने सहायक, प्रेरक बनता पर नाही।
रुकने वाले पथिकों को तो छाया कारण बनती है,
चलने वालों को न रोकती उदासीनता ठनती है ॥१८॥

योग्य रहा अवकाश दान में जीवादिक सब द्रव्यों को,
वही रहा ''आकाश-द्रव्य'' है समझाते जिन, भव्यों को।
दो भागों में हुआ विभाजित बिना किसी से वह भाता,
एक ख्यात है लोक-नाम से अलोक न्यारा कहलाता ॥१९॥

जीव द्रव्य औ अजीव पुद्‌गल काल-द्रव्य आदिक सारे,
जहाँ रहें बस ''लोक'' वही है लोकपूज्य जिन-मत प्यारे।
तथा लोक के बाहर, केवल फैला जो आकाश रहा,
''अलोक'' वह है केवल-दर्पण में लेता अवकास रहा ॥२०॥

जीव तथा पुद्‌गल पर्यायों की स्थिति अवगत जिससे हो,
लक्षण वह व्यवहार-काल का परिणामादिक जिसके हो।
तथा वर्तना-लक्षण जिसका 'काल' रहा परमार्थ वही,
समझ काल को उदासीन, पर वर्णन का फलितार्थ यही ॥२१॥

इक-इक इस आकाश-देश में इक-इक कर ही काल रहा,
रतनों की वह राशि यथा हो फलतः अणु अणु-काल कहा।
परिगणनायें ये सब मिलकर अनन्त ना, पर अनगिन हैं,
स्वभाव से तो निष्क्रिय इन को कौन देखते, बिन जिन हैं? ॥२२॥

जीव-भेद से अजीव-पन से द्रव्य मूल में द्विविध रहा,
धर्मादिक वश षड्‌विध हो फिर उपभेदों से विविध रहा ।
किन्तु काल तो अस्तिकायपन से वर्जित ही माना है,
शेष द्रव्यहैं अस्तिकाय यूं ''ज्ञानोदय'' का गाना है ॥२३॥

चिर से हैं ये सारे चिर तक इनका होना नाश नहीं,
इन्हें इसी से ''अस्ति'' कहा है जिन ने, जिनमें त्रास नहीं ।
काया के सम बहु-प्रदेश जो धारे उसको ''काय'' कहा,
तभी अस्ति औ काय मेल से ''अस्तिकाय'' कहलाय यहां ॥२४॥

एक जीव में नियम रूप से असंख्यात-परदेश रहे,
धर्म-द्रव्य औ अधर्म भी वह उतने ही परदेश गहे ।
अनन्त नभ में, पर पुद्‌गल में संख्यासंख्यानन्त रहे,
एक ''काल'' में तभी काल ना काय रहा, अरहन्त कहें ॥२५॥

प्रदेश इक ही पुद्‌गल-अणु में यद्यपि हमको है मिलता,
रूखे-चिकने स्वभाव के वश नाना-स्कन्धों में ढ़लता ।
होता बहुदेशी इस विध अणु यही हुआ उपचार यहाँ,
सर्वज्ञों ने अस्तिकाय फिर उसे कहा श्रुत-धार यहाँ ॥२६॥

जिसमें कोई भाग नहीं उस अविभागी पुद्‌गल-अणु से,
व्याप्त हुआ आकाश-भाग वह ''प्रदेश'' माना है जिनसे ।
किन्तु एक आकाश-देश में सब अणु मिलकर रह सकते,
वस्तु तत्व में बुध-जन रमते जड़-जन संशय कर सकते ॥२७॥

आस्रव-बन्धन-संवर-निर्जर-मोक्ष तत्व भी बतलाया,
सात-तत्व, नव-पदार्थ होते पाप-पुण्य को मिलवाया ।
जीव-द्रव्य औ पुद्‌गल की ये विशेषतायें मानी हैं,
कुछ वर्णन अब इनका करती जिन-गुरु-जन की वाणी है ॥२८॥

द्रव्यास्रव और भावास्रव यों माने जाते आस्रव दो,
आतम के जिन परिणामों से कर्म बने भावास्रव सो ।
कर्म-वर्गणा जड़ हैं जिन का कर्म रूप में ढ़ल जाना,
''द्रव्यास्रव'' बस यही रहा है जिनवर का यह बतलाना ॥२९॥

मिथ्या-अविरति पांच-पांच हैं त्रिविध-योग का बाना है,
पन्द्रह-विध है प्रमाद होता कषाय-चउविध माना है ।
भावास्रव के भेद रहे ये रहे ध्यान में जिन-वचना,
ध्येय रहे आस्रव से बचना जिन-वचना में रच-पचना ॥३०॥

ज्ञानावरणादिक कर्मों में ढलने की क्षमता वाले,
पुद्गल-आस्रव ''द्रव्यास्रव'' हैं जिन कहते, समतावाले ।
रहा एक विध, द्विविध रहा वह चउविध, वसुविध, विविध रहा,
दुखद तथा है, जिसे काटता निश्चित ही मुनि-विबुध रहा ॥३१॥

द्रव्य-भावमय ''बन्ध'' तत्व भी द्विविध रहा है तुम जानो,
चेतन-भावों से विधि बंधता भाव-बन्ध सो पहिचानो ।
आत्म-प्रदेशों कर्म-प्रदेशों का आपस में घुल मिलना,
''द्रव्य-बन्ध'' है बन्धन टूटे आपस में हम तुम मिलना ॥३२॥

प्रदेश, अनुभव तथा प्रकृति, थिति ''द्रव्य-बन्ध'' भी चउविध हैं,
प्रशम-भाव के पर, जिनेश्वर-पद-पूजक कहते बुध हैं ।
प्रदेश का औ प्रकृति-बन्ध का ''योग'' रहा वह कारण है,
अनुभव-थिति-बन्धों का कारण ''कषाय'' है वृष-मारण है ॥३३॥

चेतन गुण से मण्डित जो है आतम का परिणाम रहा,
कर्मास्रव के निरोध में है कारण, सो अभिराम रहा ।
यही ''भाव-संवर'' है माना स्वाश्रित है सम्बल वर है,
कर्मास्रव का रुक जाना ही रहा ''द्रव्य-संवर'' जड़ है ॥३४॥

पंच-समितियां, तीन-गुप्तियां पंच-व्रतों का पालन हो,
बार-बार बारह-भावन भी दश-धर्मों का धारण हो।
तथा विजय हो परीषहों पर बहुविध-चारित में रमना,
भेद "भाव-संवर" के ये सब रमते इनमें वे श्रमणा ॥३५॥

अपने सुख-दुख फल को देकर जिन-भावों से विधि झडना,
यथा-काल या तप-गरमी से "भाव-निर्जरा" उर धरना।
पुदगल कर्मों का वह झड़ना "द्रव्य-निर्जरा" यहां कही,
भाव-निर्जरा द्रव्य निर्जरा सुनो! निर्जरा द्विधा रही ॥३६॥

सब कर्मों के क्षय में कारण आतम का परिणाम रहा,
"भाव-मोक्ष" वह यही बताता जिनवर-मत अभिराम रहा।
आत्म-प्रदेशों से अति-न्यारा तन का, विधि का हो जाना,
"द्रव्य-मोक्ष" है, मोक्षतत्व भी द्रव्य-भावमय, सोपाना ॥३७॥

शुभ-भावों से सहित हुआ सो जीव "पुण्य" हो आप रहा,
अशुभ-भाव से घिरा हुआ ही जीव आप हो "पाप" रहा।
सुर-नर-पशु की आयु-तीन ये उच्चगोत्र औ सुखसाता,
नाम-कर्म सैंतीस पुण्य हैं शेष पाप हैं दुखदाता ॥३८॥

सच्चादर्शन तत्वज्ञान भी सच्चा, सच्चा चरण तथा,
"मोक्षमार्ग-व्यवहार" यही है, प्रथम यही है शरण-कथा।
परन्तु "निश्चय-मोक्षमार्ग" तो निज आतम ही कहलाता,
क्योंकि आतमा इस तीनों से तन्मय होकर वह भाता ॥३९॥

ज्ञानादिक ये तीन रतन तो आतम में ही झिलत-मिलते,
शेष सभी द्रव्यों में झांको कभी किसी को ना मिलते।
इसीलिए इन रत्नों में नित तन्मय हो प्रतिभासित है,
माना निश्चय मोक्ष-सौख्य का, कारण आतम-भावित है ॥४०॥

जीवा-जीवादिक तत्वों पर करना जो श्रद्धान सही,
''सम-दर्शन'' है वह आतम का स्वरूप माना, जान सही।
जिसके होने पर क्या कहना संशय-विभ्रम भगते हैं,
समीचीन तो ज्ञान बने वह प्राण-प्राण झट जगते हैं ॥४१॥

विमोह-विभ्रम जहाँ नहीं हैं संशय से जो दूर रहा,
निज को निज ही, पर को पर ही जान रहा, ना भूल रहा।
समीचीन बस ''ज्ञान'' वही है बहुविध हो साकार रहा,
मन-वच-तन से गुणी-जनों का जिसके प्रति सत्कार रहा ॥४२॥

दृश्य रही कुछ, अदृश्य भी हैं लघु-कुछ, गुरु-कुछ ''वस्तु'' रही,
इसी तरह बस तरह-तरह की स्वभाववाली अस्तु सही।
''दर्शन'' तो सामान्य मात्र को विषय बनाता अपना है,
विषय-भेद तो ''ज्ञान'' कराता जिन-मत का यह जपना है ॥४३॥

पूर्ण-ज्ञान वह जिन्हें प्राप्त ना उन्हें प्रथम तो दर्शन हो,
बाद ज्ञान उपयोग, नहीं दो एक-साथ, कब दर्शन हो ?
पूर्ण-ज्ञान से पूर्ण-सुशोभित केवलज्ञानी बने हुये,
एक साथ उपयोग धरे दो अन्तर्यामी बने हुये ॥४४॥

अशुभ-भावमय पाप-वृत्ति को मन-वच-तन से जो तजना,
शुभ में प्रवृत्ति करना समुचित ''चारित'' है मन रे भजना !।
यह ''चारित-व्यवहार'' कहाता समिति-गुप्ति-व्रत वाला है,
इस विध जिन-शासन है गाता सुधा-सुपूरित प्याला है ॥४५॥

बाहर की भी, भीतर की भी क्रियामात्र को बन्द किया,
भव के कारण पूर्ण मिटाना यही मात्र सौगन्ध लिया।
उस ज्ञानी का जीवन ही वह रहा परम ''शुचि-चारित'' है,
जिनवाणी का यही बताना मुनीश्वरों से धारित है ॥४६॥

निश्चय औ व्यवहार भेद से द्विविध यहाँ शिव-पन्थ रहा,
ध्यानकाल में निश्चित उसको पाता है मुनि-सन्त अहा ! ।
इसीलिए तुम दत्त-चित्त हो एक-मना हो विजित-मना,
सतत करो अभ्यास-ध्यान का शीघ्र बनो फिर विगत-मना ॥४७॥

शुद्धातम के सहज-ध्यान में होना जब है तल्लीना,
चंचल मन को अविचल करना चाहो यदि निज-अधीना ।
मोह करो मत, राग करो मत, द्वेष करो मत, तुम तन में,
इष्ट रहे कुछ, अनिष्ट भी हैं पदार्थ मिलते त्रिभुवन में ॥४८॥

णमोकार "पैंतीस-वर्ण" का मन्त्र रहा सोलह, छह का,
पांच, चार, दो, इक वर्णों का द्वार-ध्यान का, निज-गृह का ।
यों परमेष्ठी-वाचक वर्णों का नियमित जप-ध्यान करो,
या गुरु-संकेतों पर मन को कीलित कर अवधान करो ॥४९॥

घाति-कर्म चउ समाप्त करके शुद्ध हुये जो, आप्त हुये,
अनन्त-दर्शन, अनन्त-सुख-बल पूर्ण-ज्ञान को प्राप्त हुये ।
परमौदारिक तन-धारक हो परम पूज्य "अरहन्त" हुये,
इन्हें बनाओ "ध्येय" ध्यान में जय ! जय ! जय ! जयवन्त हुये ॥५०॥

लोकशिखर पर निवास करते तीन-लोक के नायक हैं,
लोकालोकाकाश तत्व के केवलदर्शक-ज्ञायक हैं ।
पुरुषरूप आकार लिए है "सिद्धातम" हैं कहलाते,
स्व-तन-कर्म को नष्ट किये हैं ध्यावें उनको हम नातें ॥५१॥

दर्शन-ज्ञानाचार प्रमुख कर चरित-वीर्य-तप खुद पालें,
पालन करवाते औरों से शिव-पथ पर चलने वाले ।
ये हैं मुनि "आचार्य" हमारे पूज्य-पाद पालक प्यारे,
ध्यान इन्हीं का करें रात-दिन विनीत हम बालक सारे ॥५२॥

भव्य-जनों को धर्म-देशना देने में नित निरत रहे,
तीन-रतन से मण्डित होते लौकिकता से विरत रहे ।
"उपाध्याय" ये पूज्य कहाते यतियों के भी दर्पण हैं,
मनसा-वचसा-वपुषा इनका नमन कोटिशः अर्पण हैं ॥५३॥

यथार्थ दर्शन तथा ज्ञान से नियम रूप से सहित रहे,
निरतिचार वह "चारित ही है मोक्षमार्ग" यह विदित रहे ।
इसी चरित की "साधु" साधना सदा सर्वदा करता है,
ध्यान-साधु का करो इसी से सभी आपदा हरता है ॥५४॥

चिन्ता क्या है, चिन्तन कुछ भी साधु करें वह, पर इतना,
ध्यान रहे बस निरीहता का साधुपना पनपे उतना ।
एक ताजगी निरी-एकता पाता निश्चित साधु वही,
यही "ध्यान है निश्चय" समझो साधु बनो ! पर स्वादु नहीं ॥५५॥

कुछ भी स्पन्दन तन में मत ला बन्द-मुखी हो, जल्प न हो;
चिन्ता, चिन्तन मन में मत कर चेतन फलतः निश्चल हो ।
अपने ही आतम में अपना अविचल हो, जो रमना है,
ध्यान रहे यह परम-ध्यान है और ध्यान तो भ्रमणा है ॥५६॥

व्रत के धारक, तप के साधक श्रुत-आराधक बना हुआ,
वही ध्यान-रथ-धुरा सु-धारे नियम रहा यह बँधा हुआ ।
इसीलिए यदि सुनो तुम्हें भी ध्यानामृत को चखना है,
व्रत में, तप में, श्रुत में निज को निशि-दिन तत्पर रखना है ॥५७॥

बिन्दु-मात्र श्रुत का धारक हूँ पार सिन्धु का कब पाता ?
"नेमिचन्द्र" नामक मुनि, मुझसे लिखा "द्रव्यसंग्रह" साता ।
दूर हुये दोषों से कोसों श्रुत-कोशों से पूर हुये,
शोधें वे "आचार्य" इसे यदि भाव यहाँ प्रतिकूल हुये ॥५८॥

मंगलभावना

मेरा तेरा-पन मिटे, भेद-भाव का नाश ।
रीति-नीति सुधरे सभी, वेद-भाव में वास ॥१॥

भाग्य भला वह क्या रहा, उदय कर्म का मात्र ।
वहाँ देख मत, देख ले, जहाँ धर्म का पात्र ॥२॥

ना तो पर पर रोष हो, ना कर्मों का दोष ।
है अपना अपराध यह, खोया है निज-होश ॥३॥

सदा सरलता साध लो, और कुटिलता त्याग ।
बनो धवल तुम हंस से, विरागता से राग ॥४॥

काले बादल बन, तपी-भूपर बरसो आप ।
भरे पाप-घट पुण्य में, बदले अपने आप ॥५॥

लाभ उलटता हो भला, भला उलटता लाभ ।
हो सब ज्यों का त्यों सदा, भले रहे बदलाव ॥६॥

स्थान एवं समय परिचय

मुक्तागिरि पर मुकत मुनि, साढ़े तीन करोड़
मुक्तागिरि को नित नमूँ, नत-सिर हो कर-जोड़ ॥७॥

स्वर-आतम-रस-गन्ध का, अक्षय-तृतीया योग
पूर्ण हुआ अनुवाद यह, देता ध्रुव आलोक ॥८॥

अष्टपाहुड

अष्टपाहुड़

मूल अट्ठपाहुड (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद · आचार्य विद्यासागर

- अष्टपाहुड -

मंगलाचरण

देव शास्त्र-गुरु-स्तवन

''सन्मति'' को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
सुर नर पशु गति सब मिटे, गति पञ्चम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी, से जिन धुनि अति शीत ।
उसका सेवन मैं करूँ, मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक, गुरु चरण-रज सर पर सुचढाय ।
यह मुनि-मन गुरु भजन में, निशि-दिन क्यों न लगाय ॥३॥

श्री कुन्द-कुन्दाय नमः

''कुन्द-कुन्द'' को नित नमूँ, हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥४॥

श्री ज्ञानसागराय नमः

तरणि ''ज्ञानसागर'' गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥५॥

दर्शन पाहुड़

श्री वर्धमान वृषभादि जिनेश्वरों को,
मैं वंदना कर सुजोड़ निजी करों को ।
संक्षेप से सहज दर्शन-मार्ग खोलूँ
खोलूँ जिनागम रहस्य निजात्म धोलूँ ॥१॥

जो धर्म मूल वह दर्शन नाम पाया
ऐसा सुशिष्यजन को जिनने बताया
सद्धर्म का श्रवण ध्यान लगा सुनो ! रे
वे वन्दनीय नहिं दर्शन-हीन को रे ॥२॥

वे भ्रष्ट हैं पुरुष दर्शन-भ्रष्ट जो हैं
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित पा सिझेंगे
पै भ्रष्ट दर्शनतया न कभी सिझेंगे ॥३॥

जाने अनेक विध आगम को तथापि
आराधना न वरती उनको कदापि
सम्यक्त्व रत्न तज के परमें रमें हैं
वे बार बार भवकानन में भ्रमे हैं ॥४॥

वे कोटि वर्ष तक भी तपते रहेंगे
घोराति-घोर तप भी करते रहेंगे
ना बोधिलाभ उनको मिलता तथापि
सम्यक्त्व से रहित हैं मति मंद-पापी ॥५॥

सम्यक्त्व ज्ञान बल दर्शन वीर्य से हैं
जो वर्धमान, गतमान सदा लसे हैं
कालुष्य-पूर्ण-कलिका मल पाप त्यागी
सर्वज्ञ शीघ्र बनते, मुनि-वीतरागी ॥६॥

सम्यक्त्व का झर झरा झरना झरेगा
वो साधु के हृदय शीतल तो करेगा
तो नव्य कर्म मल आ न कभी लगेगा
औ पूर्व-लिप्त मल भी धुलता धुलेगा ॥७॥

ये भ्रष्ट मात्र जिन दर्शन भ्रष्ट जो हैं
निम्नोक्त, निम्नतम-भ्रष्ट कनिष्ट यो हैं
धिक्कार ज्ञान-व्रत-भ्रष्ट कुधी कहाते
वे तो स्वयं मिट रहे परको मिटाते ॥८॥

धारा स्वयं नियम संयम भोग-हारी
मूलोत्तरादि गुण ले तप योग-धारी
ऐसे सुधर्मरत को कुछ भ्रष्ट स्वैरी
दोषी सुसिद्ध करते मुनि-धर्म-वैरी ॥९॥

हो मूल नष्ट जिसका, फल फूल दाता
फूले फले न फिर वो द्रुम सूख-जाता
त्यों मूल नष्ट जिन दर्शन भ्रष्ट देही
होता न मुक्त भव से न बने विदेही ॥१०॥

ज्यों मूल के वश हि वृक्ष विशाल होता
शाखोपशाख परिवार अपार ढोता
त्यों मोक्षमार्ग जिनदर्शन मूल भाता
प्यारा जिनेश मत है इस भांति गाता ॥११॥

जो भ्रष्ट दर्शन, सुदर्शनधारियों से
हैं चाहते पद प्रणाम व्रती जनों से
लूले व मूक बनते परलोक में हैं
पाते न बोधि भ्रमते त्रयलोक में हैं ॥१२॥

लो ! जानबूझ यदि दर्शन भ्रष्ट को ही
लज्जा प्रलोभ भय से नमता सुयोगी
पाता न बोधि जिनलिंग सुधारता भी
जो पाप की विनय है करता वृथा ही ॥१३॥

वाक्काय चित्त पर संयम पूर्ण ढोते
जो अंतरंग बहिरंग निसंग होते
ले शुद्ध अन्न स्थित हो शुचि बोध धारे
सो जैन दर्शन, सुएषण दोष टारे ॥१४॥

सम्यक्त्व से प्रथम उत्तम 'बोध होता
सद्बोध से सब पदार्थ सुशोध होता
सत् शोधसे पुनि हिताहित ज्ञान होता ।
सम्यक्त्व मोक्ष पथ में वर-दान होता ॥१५॥

ज्ञाता बने जब हिताहित के अमानी
मिथ्या कुशील तज शील सुधार ज्ञानी
स्वर्गीय वैभव विलास नितान्त पाते
औ अन्त में बन अनन्त, भवान्त जाते ॥१६॥

पीयूष है विषय सौख्य विरेचना है,
पीते सुशीघ्र मिटती चिर वेदना है ।
भाई जरा मरण रोग विनाशती है,
संजीवनी सुखकरी जिन भारती है ॥१७॥

है आद्य लिंग जिन लिंग असंग भाता,
दूजा सुक्षुल्लक व ऐलकका कहाता ।
है आर्यिका पद तृतीय जिनेश गाया,
चौथा न लिंग जिनदर्शन में बताया ॥१८॥

पंचास्तिकाय छह द्रव्य पदार्थ नौ हो,
जीवादि तत्त्व पुनि सात यथार्थ औ हो ।
श्रद्धान भव्य इन ऊपर है जमाता,
मानो उसे तुम सुदृष्टि वही कहाता ॥१९॥

तत्त्वार्थ में रुचि भली भव सिन्धु सेतु,
सम्यक्त्व मान उसको व्यवहार से तू ।
सम्यक्त्व निश्चयतया निज आतमा ही
ऐसा जिनेश कहते शिवराह-राही ॥२०॥

सोपान जो प्रथम शाश्वत मोक्षका है,
है सार रत्न-त्रय में गुण योग का है
सम्यक्त्व रत्न वह है जिन देव गाते,
धारो उसे हृदय में अविलम्ब तातें ॥२१॥

जो भी बने प्रथम चारित धार लेना,
श्रद्धान शेष व्रत पे फिर धार लेना ।
श्रद्धान ईदृश किया उस भव्य में है,
सम्यक्त्व यों जिन कहे निज द्रव्य में है ॥२२॥

चारित्र ज्ञान सम दर्शन लीन त्यागी,
तल्लीन है नियम में तप में विरागी ।
साधु करें सुगुण-गान गुणी जनों का,
वे वन्द्य हैं कथन यों जगदीश्वरों का ॥२३॥

निस्संग नग्न मुनि से चिढ़ता सदा है,
मात्सर्य भाव उनसे रखता मुधा है ।
मिथ्यात्व-मंडित वही मतिमूढ़ मोही,
स्वैरी रहा नियम संयम का विरोधी ॥२४॥

शीलादि के सदन है मुनि के गुणों के,
जो वन्द्य खेचर नरों असुरो सुरों के ।
ऐसे दिगम्बर जिन्हें लख गर्व धारें,
सम्यक्त्व से स्खलित वे नर सर्व सारे ॥२५॥

शास्त्रानुसार नहिं केवल वस्त्र त्यागी,
वे वन्द्य है नहिं असंयत भी सरागी ।
दोनों समान इनमें कुछ भेद ना है,
है एक भी नहिं यमी गुरुदेशना है ॥२६॥

ये जात पाँत कुल भी नहिं वन्द्य होते,
ना वन्द्य भी तन रहा, गुण वन्द्य होते ।
कोई रहे श्रमण श्रावक निर्गुणी हैं,
वे वन्दनीय नहिं हैं कहते गुणी हैं ॥२७॥

जो धारते श्रमणता तपते तपस्वी,
है शील ब्रह्मगुण से लसते यशस्वी ।
श्रद्धाभि-भूत वन में शुचि भाव द्वारा,
वन्दूँ सुमुक्ति पथ को मुनि को सुचारा ॥२८॥

कल्याण में जगत के रत सर्वदा हैं,
हो कि निमित्त हरते जग आपदा है ।
चौंतीस सातिशय चौसठ चामरों से,
शोभे जिनेश नित वन्द्य नरामरों से ॥२९॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप और चरित्र प्यारे,
ये हैं सभी गुण सुसंयम के पुकारे ।
चारों मिलें तब मिले वह मोक्ष प्यारा
ऐसा कहें कि जिन शासन है हमारा ॥३०॥

है ज्ञान सार नर का जगमें कहाता,
सम्यक्त्व सार नर का सबमें सुहाता ।
सम्यक्त्व से चरित हो वह कार्यकारी
चारित्र से मुकति हो अनिवार्य प्यारी ॥३१॥

आराधना चउ लिए जिन लिंग धारे,
सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित पूर्ण पाले ।
संदेह क्या फिर भला मुनि सिद्ध होते,
वे पाप पंक फलतः अविलम्ब धोते ॥३२॥

सम्यक्त्व शुद्धतम पा समदृष्टिवाले,
कल्याण पंच फलतः विरले संभाले ।
सम्यक्त्व दिव्य मणि है जग पूज्य तातैं,
क्या मर्त्य क्या सुर सुसाधु उसे पुजाते ॥३३॥

सम्यक्त्व का सुफल मानव जन्म पाता,
पाता सुगोत्र कुल उत्तम सद्य पाता ।
सम्यक्त्व से मनुज हो यह क्या न पाता,
है अंत में अमित अक्षय मोक्ष पाता ॥३४॥

चौतीस सातिशय से लगते विराट,
धारे सुलक्षण जिनेश हजार आठ ।
स्वामी विहार करते जबलौं सही है,
है स्थावरा शुचिमयी प्रतिमा वही है ॥३५॥

योगी यथाविधि यथाबल कर्म सारे,
काटे स्वकीय, तप बारह धर्म धारे ।
निर्वाण प्राप्त करते भव पार जाते,
आते न लौट भव में तन धार पाते ॥३६॥

दोहा

मुनिवर की वह नग्नता रत्नत्रय का धाम ।
दर्शन प्राभृत में सही पाता दर्शन नाम ॥१॥

पूज्य दिगम्बर-पन अतः पूजत पाप पलाय ।
चरित ज्ञान दृग मिलत हैं दर्शन आप सुहाय ॥२॥

सूत्र पाहुड़

जो भी लखा सहज से अरहन्त गाया,
सत् शास्त्र बाद गणनायक ने रचाया ।
सूत्रार्थ को समझने पढ़ शास्त्र सारे,
साधे अतः श्रमण है परमार्थ प्यारे ॥१॥

सत् सूत्र में कथित आर्ष परम्परा से,
जोभी मिला द्विविध सूत्र अभी जरा से ।
जो जान मान उसको मुनि भव्य होता,
आरूढ मोक्ष पथ पे शिव सौख्य जोता ॥२॥

साधू विराग यदि है जिन शास्त्र ज्ञाता,
संसार का विलय है करता सुहाता ।
सूची न नष्ट यदि डोर लगी हुई हो,
खोती नितान्त यदि डोर नहीं लगी हो ॥३॥

साधू ससूत्र यदि है भव में भले हो,
होता न नष्ट भव में भव ही टले वो ।
हो जीव यद्यपि अमूर्त सुसूत्र द्वारा,
आत्मानुभूति कर काटत कर्म सारा ॥४॥

सूत्रार्थ है वह जिसे जिनने बनाया,
जीवादि तत्त्व सब अर्थ हमें दिखाया ।
प्रामव्य त्याज्य इनमें फिर कौन होते,
जो जानते नियम से समदृष्टि होते ॥५॥

जो व्यावहार परमार्थनया द्विधा है,
सर्वज्ञ से कथित सूत्र सुनो सुधा है ।
योगी उसे समझते शिव सौख्य पाते,
वे पाप पंकपन पूरण है मिटाते ॥६॥

विश्वास शास्त्र पर भी नहिं धार पाते,
होते सवस्त्र पद भ्रष्ट कुधी कहाते ।
माने तथापि निज को मुनि, ध्यान देवो,
आहार भूल उनको कर में न देवो ॥७॥

उन सूत्र पा हरिहरादिक से प्रतापी,
जा स्वर्ग कोटि भव में रुलते तथापि ।
स्थाई नहीं सहज सिद्धि विशुद्धि पाते,
संसार के पथिक हो दुख वृद्धि पाते ॥८॥

निर्भीक सिंह सम यद्यपि है तपस्वी,
आतापनादि तपते गुरु हो यशस्वी ।
स्वच्छन्द हो विचरते यदि, पाप पाते,
मिथ्यात्व धार कर वे भव ताप पाते ॥९॥

होना दिगम्बर व अम्बर त्याग देना,
आहार होकर खड़े कर पात्र लेना ।
है मोक्षमार्ग वह शेष कुमार्ग सारे,
ऐसा जिनेश मत है बुध मात्र धारे ॥१०॥

संयुक्त साधु नियमों यम संयमों से,
उन्मुक्त बाधक परिग्रह संगमों से ।
हो वन्द्य वो नर सुरासुर लोक में हैं,
ऐसा कहे जिनप, नाथ त्रिलोक के हैं ॥११॥

बाईस दुस्सह परीषह-यातनायें,
पूरा लगा बल सहें बल ना छिपायें ।
हैं कर्म नष्ट करने रत नग्नदेही,
वे वन्दनीय मुनि, वन्दन हो उन्हें ही ॥१२॥

सम्यक्त्व बोध युत हैं जिन लिंग धारी,
जो शेष देश व्रत पालक वस्त्र धारी ।
"इच्छामि" मात्र करने बस पात्र वे हैं
ऐसा नितान्त कहते जिन शास्त्र ये हैं ॥१३॥

वे क्षुल्लकादि गृहकर्म अवश्य त्यागे,
इच्छा सुकार पद को समझे सुजागे ।
शास्त्रानुसार प्रतिमाधर शुद्ध दृष्टी,
पाते सुरेश पद भी शिव सिद्धि सृष्टि ॥१४॥

इच्छादिकार करना निज-चाह होना,
इच्छा जिन्हें न निजकी गुम-राह होना ।
वे धर्म की सब क्रिया करते भले ही,
संसार दुःख न टले भव में रुले ही ॥१५॥

तू काय से वचन से मन से रुची से,
श्रद्धान आत्म पर तो कर रे इसी से ।
तू जान आत्म भर को निज यत्न द्वारा,
पा मोक्ष लाभ फलतः ध्रुव रत्न प्यारा ॥१६॥

दाता-प्रदत्त कर में स्थित हो दिवा में,
आहार ले, बहुबार नहीं निशा में ।
बालाग्र के अणु बराबर भी अपापी,
साधु परिग्रह नहीं रखता कदापि ॥१७॥

है जात रूप शिशु सा मुनि धार भाना,
अत्यल्प भी नहिं परिग्रह भार पाता ।
लेना परिग्रह मनो बहु या जरा सा,
क्यों ना करे फिर तुरन्त निगोदवासा ॥१८॥

जो मानते यदि परिग्रह ग्राहय साधु,
वे वन्दनीय नहिं हैं कहलाय स्वादु ।
होता घृणास्पद ससंग अगार होता,
निस्संग ही जिन कहें अनगार होता ॥१९॥

जो पांच पाप तज पंच महाव्रती हैं,
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ पे चलते यती हैं ।
निर्दोष पालन करें त्रय गुप्तियाँ हैं,
वे वन्दनीय, कहती जिन सूक्तियाँ है ॥२०॥

जो भोजनार्थ भ्रमते मन मौन पाले,
किंवा सुवाक समिति से कर पात्र धारे ।
सिद्धांत में कथित वो गृह त्यागियों का,
दूजा सुलिंग परमोत्तम श्रावकों का ॥२१॥

आहार बैठ, कर में इक बार पा ले,
आर्या सवस्त्र वह भी इक वस्त्र धारे ।
स्त्री का तृतीय वर लिंग यही कहाता,
चौथा न लिंग मिलता जिन शास्त्र गाता ॥२२॥

सद्‌दृष्टि तीर्थकर हो घर में भले ही,
जो वस्त्र धारक जिन्हें शिव न मिले ही ।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ ही अवशिष्ट सारे,
संसार-पंथ, तजते समदृष्टि वाले ॥२३॥

हो बाहु मूल तल में स्तननाभि में भी,
हो सूक्ष्म जीव महिला जनयोनि में भी ।
वे सर्व वस्त्र तज दीक्षित होय कैसी,
आर्या सवस्त्र रहती, रहती-हितैषी ॥२४॥

सम्यक्त्व मंडित सही शुचि दर्पणा है,
स्त्री योग्य संयम लिए तज' दर्पणा है ।
घोरातिघोर-यदि चारित पालती है,
तो आर्यिका तब न पापवति, सती है ॥२५॥

जो मास मास प्रति मासिक दोष होती,
शंका बनी हि रहती मन तोष खोती ।
होती निसर्ग शिथिला मति से मलीना,
होती स्त्रियाँ सब अतः निज ध्यान हीना ॥२६॥

अन्नादि खूब मिलते पर अल्प पायें,
इच्छा मिटी कि मुनि के दुख भाग जाये ।
होता अपार जल यद्यपि है नदी पे,
धोने स्ववस्त्र जल अल्प गहे सुधी पे ॥२७॥

दोहा

सूत्र सूचना, सुन, सुना रहा न पर में स्वाद ।
सूत्र-ज्ञान कर, कर स्वयं तप, न कभी परमाद ॥१॥

जिनवर का यह सूत्र है, सुपथ प्रकाशक दीप ।
धारन कर, कर में दिखे सुख कर मोक्ष समीप ॥२॥

चारित्र पाहुड

सर्वज्ञ हैं निखिल दर्शक वीतरागी,
हैं वीतमोह परमेष्ठि प्रमाद त्यागी ।
जो भव्य जीव स्तुत हैं त्रयलोक द्वारा,
अर्हन्त को नमन मैं कर बार बारा ॥१॥

सर्वज्ञ दिव्य पद दायक पूर्ण साता,
ज्ञानादि रत्नत्रय को शिर मैं नवाता ।
चारित्र प्राभृत सुनो अब मैं सुनाता,
जो मोक्ष का परम कारण है कहाता ॥२॥

जो जानता ''समय मैं'' वह ज्ञान होता,
श्रद्धान होय वह दर्शन नाम ढोता ।
दोनों मिले जब सुनिश्चल शैल होते,
चारित्र निश्चय वही मन मैल धोते ॥३॥

ये जीव के त्रिविध भाव न आज के हैं,
वैसे अनन्त ध्रुव सत्य अनादि के हैं ।
तीनों अशुद्ध पर शुद्ध उन्हें बनाने,
चारित्र है द्विविध यों जिन शास्त्र माने ॥४॥

श्रद्धान जैन मत में अति शुद्ध होना,
सम्यक्त्व का चरण चारित धार लो ना ।
औ संयमाचरण चारित दूसरा है,
सर्वज्ञ से कथित सेवित है खरा है ॥५॥

मिथ्यात्व पंक तुमने निज पे लिपाया,
शंकादि मैल दृगके दृगपे छिपाया ।
वाककाय से मनस से उनको हटाओ,
सम्यक्त्व आचरण में निजको बिठाओ ॥६॥

ये अष्ट अंग वृग के, विनिशंकिता हैं,
निःकांक्षिता, विमल-निर्विचिकित्सा है ।
चौथा अमूढ़पन है उपगूहना को,
धारो, स्थिति-करण, वत्सल-भावना को ॥७॥

श्रद्धान होय जिनमें वह मोक्ष दाता,
निःशंक आदि गुण युक्त सुदृष्टि साता ।
धारो सुबोध युत दर्शन को सुचारा,
सम्यक्त्व आचरण चारित वो तुम्हारा ॥८॥

सम्यक्त्व के चरण से द्युतिमान होता,
औ संयमाचरण में रममान होता ।
ज्ञानी वही बस नितान्त अमूढ़ दृष्टी,
निर्वाण शीघ्र गहता तज मूढ़ दृष्टी ॥९॥

सम्यक्त्व के चरण से च्युत हो रहे हैं,
पै संयमाचरण केवल ढो रहे हैं ।
अज्ञान-ज्ञान फल में अनजान होते,
मोही न मोक्ष गहते, बिन ज्ञान रोते ॥१०॥

वात्सल्य हो, विनय, हो गुरु में गुणी में,
अन्नादि दे कर दया करते दुखी में ।
निर्ग्रन्थ मोक्ष पथ की करना प्रशंसा,
साधर्मि-दोष ढकना, नहिं आत्म शंसा ॥११॥

पूर्वोक्त सर्व गुण लक्षित हो उन्हीं में,
सारल्य भावयुत निष्कपटी सुधी में ।
मिथ्यात्व से रहित भाव सुधारते हैं,
वे ही अवश्य जिन दर्शन पालते हैं ॥१२॥

रागाभिभूत मत की स्तुति शंस सेवा,
उत्साह धार यदि जो करते सदैवा ।
अज्ञान मोह पथ से मन जोड़ते हैं,
श्रद्धान जैन मत का तब छोड़ते हैं ॥१३॥

निर्ग्रन्थ जैन मत की स्तुति शंस-सेवा,
उत्साह धार यदि जो करते सदैवा ।
श्रद्धान और जिनमें दृढ़ ही जमाते,
सज्ज्ञान पा, न जिन दर्शन छोड़ पाते ॥१४॥

सम्यक्त्व बोध गहते तुम हो इसी से,
मिथ्यात्व मूढ़पन को तज दो रुची से ।
भाई मिला जब सुधर्म तुम्हें अहिंसा,
सारंभ मोह तज दो अघकर्म हिंसा ॥१५॥

त्यागो परिग्रह पुनः धर लो प्रव्रज्या,
पालो सुसंयम, तपो तप त्याग लज्या ।
निर्मोह भाव लसता उरमें विरागी,
पाता निजी विमल ध्यान सुनो सरागी ॥१६॥

मिथ्यात्व मोह मल दूषित पंथ में ही,
आश्चर्य क्या यदि चले मति मन्द मोही ।
मिथ्या कुबोध वश ही विधि बंध पाते,
अच्छी दिशा पकड़ के कब अन्ध जाते ॥१७॥

विज्ञान-दर्शन तथा समदृष्टि जाने,
जो द्रव्य,-द्रव्यगत पर्यय को पिछाने ।
सम्यक्त्व से स्वयम पे कर पूर्ण श्रद्धा,
चारित्र-दोष हरते, करते विशुद्धा ॥१८॥

सम्मोह से रहित हैं उन ही शमी मे,
पूर्वोक्त तीन शुचि-भाव वसे यमी से ।
श्रद्धाभिभूत निज के गुण गीत गाते,
काटे कुकर्म झट से भव जीत पाते ॥१९॥

प्रारभ मे गुण असख्य पुनश्च सख्या,
हे कर्म नष्ट करते बनते अशका ।
सम्यक्त्व आचरण पा दुख को मिटाते,
ससार को लघु परीत सुधी बनाते ॥२०॥

सागार और अनगार तथा द्विधा है,
वो सयमाचरण मोक्षद है सुधा है ।
सागार-सग-युत-श्रावक का कहाता
निर्ग्रन्थ रूप "अनगार" मुझे सुहाता ॥२१॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी स्वशक्ति
आपोषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति ।
है ब्रह्मचर्य व्रत सप्तम नाम पाता,
आरभ सग अनुमोदन त्याग साता ।
उद्दिष्ट त्याग व्रत ग्यारह ये कहाते,
है एक देश व्रत श्रावक के सुहाते ॥२२॥

सानन्द श्रावक अणुव्रत पाँच पाले,
आरम्भ नाशक गुण व्रत तीन धारे ।
शिक्षा व्रतो चहुँ धरे वह है कहाता,
सागार सयम सुचारित सौख्य दाता ॥२३॥

हो त्याग, स्थूल त्रसकायिक के वधों का
और स्थूल झूठ, बिन दत्त परो धनो का
भाई कभी न पर की वनिता लुभाना
आरम्भ सग परिमाण तथा लुभाना
ये पच दशव्रत श्रावक तू निभाना ॥२४॥

सीमा विधान करना कि दशों दिशा में,
औ व्यर्थ कार्य करना न किसी दशा में ।
भोगोपभोग परिमाण तथा बनाना,
ये तीन श्रावक गुणव्रत तू निभाना ॥२५॥

सामायिक प्रथम, प्रोषध है द्वितीया,
सिद्धांत में अतिथि पूजन है तृतीया ।
सल्लेखना चरम ये व्रत चार शिक्षा,
शिक्षा मिले तुम बनो मुनि, धार दीक्षा ॥२६॥

होता कला सहित है टुकड़ा सुनो रे !
सागार धर्म इस भाँति कहा, गुणो रे !
पै संयमाचरण शुद्ध तुम्हें सुनाता,
आराध्य धर्म यति का परिपूर्ण भाता ॥२७॥

पच्चीस हो शुचि क्रिया व्रत पाँच धारे,
पंचाक्ष के दमन से सब पाप टारे ।
औ गुप्ति तीन समिति मुनि पाँच पाले,
वो संयमाचरण साधक नग्न प्यारे ॥२८॥

जो चेतनों जड़तनों अवचेतनों में,
अच्छी बुरी जगत की इन वस्तुओं में ।
ना राग रोष मुनि हो करता कराता,
पंचाक्ष-निग्रह वही यह छन्द गाता ॥२९॥

हिंसा यथार्थ तजना भजना अहिंसा,
हो झूँठ स्तेय तज सत्य अचौर्य शंसा ।
अब्रह्म-संग तज, ब्रह्म निसंग होना,
ये पाँच हैं तुम महाव्रत, धार लो ना ॥३०॥

साधे गये विगत में व्रत ये जहाँ हैं,
साधें जिन्हें नित नितान्त महामना हैं ।
होते स्वयं सहज सत्य महान तातैं,
ये आप सार्थक महाव्रत नाम पाते ॥३१॥

वाक् चित्त-गुप्ति धरना, लख भोज पाना,
ईर्या समेत चलना उठ बैठ जाना ।
आदान निक्षपण मे, सब भावनायें
ये पाँच आद्य व्रत की सुख-साधनायें ॥३२॥

छोड़ो प्रलोभ, मन आगम ओर मोड़ो,
गंभीर हो अभय हो भय हास्य छोड़ो,
संमोह क्रोध तज दर्शन पालना, ये,
हैं पाँच सत्यव्रत की शुभ भावनायें ॥३३॥

देखो न अंग महिलाजन संग छोड़ो,
स्त्री की कथा श्रवण मे मन को न जोड़ो ।
संभोग की स्मृति तजो, न गरिष्ट खाना
ये भावना परम ब्रह्मन की खजाना ॥३४॥

छोड़े हुए सदन शून्य घरों वनों में,
सत्ता जमा कर नहीं रहना द्रुमों में ।
साधर्मि से न लड़ना शुचि भोज पाना,
ये भावना व्रत अचौर्यन की निभाना ॥३५॥

ये शब्द स्पर्श रस रूप सुगंध सारे,
पंचाक्ष के विषय हैं कुछ सार खारे ।
ना राग- रोष इनमें करना कराना,
हैं भावना चरम जो व्रत की निभाना ॥३६॥

ईर्या सुभाषणवती पुनि एषणा है,
आदान निक्षपण औ व्युतसर्गना है ।
पाँचों कहीं समितियाँ जिनने इसी से,
हो शुद्ध शुद्धतम संयम हो शशी से ॥३७॥

संबोधनार्थ भवि को जिनने बताया,
जो ज्ञान ज्ञान गुण लक्षण को दिखाया ।
सो, ज्ञान जैनमत में निज आतमा है,
यो जान, मान, फलतः दुख खातमा हैं ॥३८॥

होते अजीव अरु जीव निरे निरे हैं,
ज्ञानी हुए कि इस भाँति लखे खरे हैं ।
औ राग रोष जिस जीवन में नहीं है,
सो 'मोक्षमार्ग' जिन शासन में वही है ॥३९॥

सम्यक्त्व बोध व्रत को शिवराह राही,
श्रद्धाभिभूत बन के समझो सदा ही ।
योगी इन्हें हि लखते दिनरैन भाई,
निर्वाण शीघ्र लहते सुख चैन स्थाई ॥४०॥

विज्ञान का सलिल सादर साधु पीते,
धारे अतः विमल भाव स्वतंत्र जीते ।
चूडामणी जगत के स्वपरावभासी,
वे शुद्ध सिद्ध बनते शिव धाम वासी ॥४१॥

जो ज्ञान शून्य नहिं इष्ट पदार्थ पाते,
अज्ञान का फल अनिष्ट यथार्थ पाते ।
यों जान, ज्ञान गुण के प्रति ध्यान देना,
क्या दोष क्या गुण रहा, कुछ जान लेना ॥४२॥

ज्ञानी वशी चरित के रथ बैठ त्यागी,
चाहे न आतम तज के परको विरागी ।
निर्भ्रान्त वे अतुल अव्यय सौख्य पाते
दिग्भ्रान्त ही समझ तू भव दुःख पाते ॥४३॥

सम्यक्त्व संयम समाश्रय से सुहाता,
चारित्र सार द्विविधा शिव को दिलाता ।
संक्षेप से भविक लोकन को दिखाया,
श्री वीतराग जिनने हमको जिलाया ॥४४॥

चारित्र प्राभृत रचा रुचि से सुचारा,
भावों इसे अनुभवों शुचि भाव द्वारा ।
तो शीघ्र चारगति में भ्रमना मिटेगा,
लक्ष्मी मिले मुकति में, रमना मिलेगा ॥४५॥

- दोहा -

चार चाँद चारित्र से जीवन में लग जाय ।
लगभग तम भग ज्ञान शशि उगत उगत उगजाय ॥१॥

समकित-संयम आचरण, इस विधि द्विविध बताय ।
वसुविध-विधि नाशक तथा सुरसुख शिव सुखदाय ॥२॥

बोध-प्राभृत

ज्ञाता अनेक विध आगम के यशस्वी,
सम्यक्त्व संयम लिए तपतें तपस्वी ।
धोते कषायमल, निर्मल शुद्ध प्यारे,
आचार्य वे नमन हो उनको हमारे ॥१॥

जो भी जिनेश मत में जिनने बताया,
संक्षेप मात्र उसकी यह मात्र छाया ।
सम्बोधनार्थ सबको सुन लो सुनाता,
है बोध प्राभृत चराचरमोद-दाता ॥२॥

है आद्य आयतन चैत्यगृहा सुप्यारा,
है तीसरी जिनप की प्रतिमा सुचारा ।
सद्दर्शना, जिनप बिम्ब विराग-शाला,
आत्मार्थ ज्ञान यह सात सुनाम माला ॥३॥

औ देव तीर्थकर अर्हत है प्रव्रज्या,
जो हो विशुद्ध गुण से बिन राग लज्जा ।
ये हैं जिनोदित यथा क्रम जान लेना,
आगे उन्हें कह रहा बस ! ध्यान देना ॥४॥

जीते निजी करण निर्विषयी दमी है,
वाक्काय चित्त वश में रखता शमी है ।
निर्ग्रन्थ रूप यम संयम कूप भाता,
होसत्य आयतन में वो शास्त्र गाता ॥५॥

हैं राग रोष मद को मन में न लाते,
चारों कषाय वश में रखते सुहाते ।
औ पाँच पाप तज सद्व्रत पाँच पाले,
वे शुद्ध आयतन है ऋषि राज प्यारे ॥६॥

साधा निजात्म मुनि निर्मल ध्यान धारी,
हीराभ से विमल केवल ज्ञान धारी ।
हैं सिद्ध-आयतन श्रेष्ठ मुनीश्वरों में,
वन्दूँ उन्हें, विनय से निसि वासरों में ॥७॥

विज्ञान धाम निज आतम को सुजाने,
चैतन्य पिण्डमय भी पर को पिछाने ।
पाले महाव्रत सही खुद ज्ञान होता,
वो साधु चैत्यगृह हो सुन भव्य श्रोता ॥८॥

बंधादि मोक्ष सुख आतम भोगता है,
जो धारता जब सचेतन-योगता है ।
षटकाय-जीव हितकारक नग्न-स्वामी,
जीवन्त चैत्य गृह है जिन मार्ग-गामी ॥९॥

सम्यक्त्व बोध शुचि से व्रत पाले
जीवन्त जंगम दिगम्बर साधु प्यारे ।
निर्ग्रन्थ ग्रन्थ तज-राग, विराग ही हैं,
आदर्श-जैन मत में प्रतिमा वही है ॥१०॥

जाने लखे स्वयम को समदृष्टि वाला,
है शुद्ध आचरण से चलता निराला ।
निर्ग्रन्थ संयममयी प्रतिमा यही है,
जो वन्दनीय वह है जग में सही है ॥११॥

पाये अनन्त सुख वीर्य अनन्त पाये,
पा ज्ञान दर्शन अनन्त अतः सुहाये ।
दुष्टाष्ट कर्म तन के बिन जी रहे हैं,
स्वादिष्ट-शाश्वत-सुखामृत पी रहे हैं ॥१२॥

व्युत्सर्गरूप-प्रतिमा ध्रुव हो लसे हैं,
लोकाग्र जा स्थिर शिवालय में बसे हैं ।
वे सिद्ध जो अतुल निश्चिल शैल सारे,
हैं क्षोभ से रहित हैं हित हैं हमारे ॥१३॥

सद्धर्म को सहज सम्मुख शीघ्र लाता,
सम्यक्त्व मोक्ष पथ संयम को दिखाता ।
निर्ग्रन्थ ज्ञानमय, "दर्शन" भी वही है,
यों जैन शास्त्र हम को कहता सही है ॥१४॥

आर्या व क्षुल्लक दिगम्बर साधुओं का,
वो वेश आलय स्वबोध दृगादिकों का ।
हो फूल से तुम सुगन्ध अवश्य पाते,
हो दूध से घृत प्रशस्त मनुष्य पाते ॥१५॥

पात्रानुसार विधि नाशक जैन दीक्षा,
देते कृपाकर ! कृपा कर उच्च शिक्षा ।
है वीतराग बन संयम शुद्ध पाले,
आचार्य वे हि "जिन बिम्ब" हमें संभाले ॥१६॥

सेवा करो विनय आदर वन्दना भी,
आचार्य की सुखद पूजन भावना भी ।
कर्त्तव्य में सतत जागृत ज्ञान वाले,
सम्यक्त्व सौध जिनबिम्ब रहे हमारे ॥१७॥

मूलोत्तरादिक गुणों सब सत्तपों से,
हैं शुद्ध शुद्धतर शुद्धतमा व्रतों से ।
दीक्षादि दान करते गुण के समुद्रा,
आचार्य ही नियम से अरहन्त मुद्रा ॥१८॥

सत् साधु की शुचिमयी अकषाय मुद्रा,
है वन्द्य पूज्य जित इन्द्रिय पूत मुद्रा ।
वो वस्तुतः सुदृढ़ संयम रूप मुद्रा,
हे भव्य स्वीकृत वही अरहन्त मुद्रा ॥१९॥

सद्ध्यान योग यम संयम से सुहाता,
सो मोक्ष मार्ग जिन आगम में कहाता ।
है लक्ष्य, मोक्ष जिसका वह ज्ञान से हो,
ज्ञातव्य ज्ञान यह है निज ध्यान से हो ॥२०॥

भेदे न लक्ष बिन बाण धनुष्य धारी
जाने बिना वह धनुष्य न कार्यकारी ।
सो लक्षभूत शिव तो न कदापि पाता,
जो ज्ञान-हीन भव में दुख ही उठाता ॥२१॥

हो शोभता पुरुष जो विनयी सही है,
ले ज्ञान लाभ निज जीवन में वही है,
है मोक्ष, मोक्ष पथ का वह लक्ष-ध्याता,
विज्ञान से सहज मोक्ष अवश्य पाता ॥२२॥

प्रत्यंच हो श्रुत, मती स्थिर हो धनुष्य,
हो बाण रत्नत्रय ले कर में अवश्य ।
शुद्धात्म लक्ष यदि मात्र किया सही है,
तो साधु, मोक्ष पथ से चिगता नहीं है ॥२३॥

वे देव धर्म धन काम सुबोध देते,
औचित्य जो निकट हो वह दान देते ।
है देव के निकट भी शिवदा प्रव्रज्या,
है धर्म अर्थ कल केवल ज्ञान विद्या ॥२४॥

हो धर्म शुद्ध सदयावश हो प्रव्रज्या,
वो सर्व संग बिन शोभित हो सुरम्या ।
वे देव हैं विगत मोह सदा कहाते,
सोते सुभव्य जन को सहसा जगाते ॥२५॥

चारित्र से विमल दर्शन ओ बनाने,
पंचेन्द्रियाँ दमित संयम भी कराने ।
दीक्षा प्रशिक्षण गहे गुरु से, सुहाये,
साधु स्वतीर्थ भर में डुबकी लगाये ॥२६॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप संयम धर्म सारे,
ये साधु के विमल निर्मल हो उजारे ।
औ साथ साथ यदि वो समता रही है,
तो तीर्थ जैन मत में सुखदा वही है ॥२७॥

निक्षेप चार वश पर्यय भाव द्वारा,
ज्ञानादि पूर्ण गुण के गण भाव द्वारा ।
किंवा सुनो च्यवन आगति आदि द्वारा,
अर्हन्त रूप दिखता सुख का पिटारा ॥२८॥

है भाव मोक्ष दृग ज्ञान अनन्त पाये,
आठों नवीन विधि-बंधन को मिटाये ।
स्वामी ! अतुल्य गुण भार नितान्त जोते,
वे ही जिनेश मत में अरहन्त होते ॥२९॥

ये पाप पुण्य मृति रोग जरादिकों को,
मेटा समूल मल पुद्गल के दलों को,
चारों गती भ्रमण-मुक्त हुए अतः हैं,
विज्ञान धाम अरहन्त हुए स्वतः हैं ॥३०॥

पर्याप्ति प्राण गुणथान विधान द्वारा,
औ जीव थान सब मार्गण-भाव द्वारा ।
सो स्थापना हृदय में अरहन्त की हो,
शीघ्राति-शीघ्र जिससे भव अन्त ही हो ॥३१॥

हैं प्रातिहार्य वसु मंडित पूज्य प्यारे,
चौंतीस सातिशय वे गुण भी सुधारें ।
बैठे उपान्त-गुण थानन में सयोगी,
हैं केवली विमल हैं अरहन्त योगी ॥३२॥

ये मार्गणा कि, गति इन्द्रिय, काय, योग
औ वेद दुःखद-कषाय व ज्ञान-योग ।
पश्चात संजम व दर्शन, लेश्य भव्य,
सम्यक्त्व, संज्ञिक, अहार सुजान ! भव्य ॥३३॥

आहार आदिम शरीर तथैव भाषा,
औ आन-प्राण, मन, मान ! जिनेस दासा,
पर्याप्तियाँ गुण छहों अरहन्त धारे,
माने गये परम उत्तम देव प्यारे ॥३४॥

त्यों पाँच ही समझ इन्द्रिय प्राण होते,
वाक्काय चित्त त्रय ये बल प्राण होते ।
औ आन प्राण इस आयुष प्राण सारे,
माने गये समय में दश प्राण प्यारे ॥३५॥

हो जीव स्थान वह चौदहवाँ, मनुष्य,
पंचेन्द्रियाँ मन मिले जिसमें अवश्य ।
पूर्वोक्त सर्व गुण पा अरहन्त प्यारे
बैठे उपान्त गुणथानन में उजारे ॥३६॥

वार्धक्य व्याधि दुख भी जिसमें नहीं है,
ये श्लेष्म स्वेद मल थूँक सभी नहीं है,
आहार भी नहिं विहार कभी नहीं है,
जो दोष कोष न घृणास्पद भी नहीं है ॥३७॥

सर्वांग में रुधिर मांस भरे हुए हैं,
गोक्षीर शंख सम श्वेत धुले हुए हैं ।
पर्याप्तियां छह मिले दश प्राण प्यारे,
शोभे हजार वसु लक्षण पूर्ण प्यारे ॥३८॥

ऐसे हि श्रेष्ठ गुण धाम प्रमोदकारी,
सौगंध-सौध अति निर्मल मोहहारी ।
औदारिकी तन रहा अरहन्त का है,
पूजो इसे पद मिले भगवन्त का है ॥३९॥

जो राग रोष मद से प्रतिकूल होते,
स्वामी कषाय मल से अति दूर होते ।
कैवल्य भाव शुचि आर्हत में जगा है,
पूरा क्षयोपशम-भाव तभी भगा है ॥४०॥

कैवल्य ज्ञान शुचि दर्शन-नेत्र द्वारा,
हैं जानते निरखते त्रय लोक सारा ।
सम्यक्त्व से झग झगा लसते निराला,
अर्हन्त का विमल भाव स्वभाव प्यारा ॥४१॥

उद्यान शून्य गृह में तरु कोटरों में,
भारी बनों उपवनों गिरी गह्वरों में ।
किंवा भयानक श्मशान-धरातलों में,
कोई सकारण विमोचित आलयों में ॥४२॥

पूर्वोक्त स्थान भर में रह शील पाले,
ऐसे जिनेश मत में मुनि मुख्य प्यारे ।
स्वाधीन हो जिन जिनागम तीर्थ ध्यावे,
उत्साह साहस स्वतंत्रपना निभावे ॥४३॥

पाले महाव्रत, तजे पर की अपेक्षा,
हो के जितेन्द्रिय करे सबकी उपेक्षा ।
स्वाध्याय ध्यान भर में लवलीन होते,
वे ही नितान्त मुनि श्रेष्ठ प्रवीण होते, ॥४४॥

आरंभ पाप तज सर्व कषाय जीते,
औ गेह ग्रन्थभर से बन पूर्ण रीते ।
सारे सहे परिषहों उनकी प्रव्रज्या,
मानी गई समय में वह लोक पूज्या ॥४५॥

वस्त्रादि दान धनधान्य कुदान से भी,
छत्रादि स्वर्ण शयनासन दान से भी ।
मानी गई न जिनशासन में प्रवृज्या,
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन ही लसती प्रवृज्या ॥४६॥

जो साम्य, निंदन सुवंदन में सँभारे,
मिट्टी गिरी कनक को तृण को निहारे ।
माने समान रिपु बाँधव लाभ हानी,
दीक्षा सही श्रमण की यह साधु वाणी ॥४७॥

नाहीं करे धनिक निर्धन की परीक्षा,
छोटा बड़ा भवन यों न करे समीक्षा ।
जाते सभी जगह भोजन लाभ हेतु,
दीक्षा सही श्रमण की यह जान रे ! तू ॥४८॥

निर्ग्रन्थ हो निरभिमान निसंग प्यारे,
निर्दोष निर्मम निरीह नितान्त न्यारे ।
नीराग नित्य निरहंपण शील धारी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुख झीलवाली ॥४९॥

निर्लोभ भाव रत है मुनि निर्विकारी,
निर्मोह निष्कलुष निर्भय भाव धारी ।
आशा बिना विषय राग बिना विरागी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझो सरागी ॥५०॥

नीचे भुजा कर खड़े शिशु रूप धारे,
वस्त्रास्त्र शस्त्र तज शांत स्व को निहारे
काटे निशा परकृतों मठ मंदिरों में,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समझूँ गुरो ! मैं ॥५१॥

धारो क्षमा शमदमान्वित हो सुहाते,
स्नानादि तैल तजते तनको सुखाते ।
है राग रोष मद से अति दूर ज्ञानी,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की सुन मूढ़ प्राणी ॥५२॥

भागी नितान्त जिन की मति मूढ़तायें
होगी विनष्ट वसु ये विधि-गूढ़तायें ।
मिथ्या टली दृग विशुद्ध मिली शिवाली,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की समता-सुप्याली ॥५३॥

उत्कृष्ट संहनन या कि जघन्य पावें,
निर्ग्रन्थ वे बन सके जिन यों बतावें ।
दुष्टाष्ट कर्म क्षय की रख मात्र इच्छा,
स्वीकारते भविक हैं जिन लिंग दीक्षा ॥५४॥

अत्यल्प भी विषय राग नहीं रहा है,
ना बाह्य का ग्रहण संग्रह भी रहा है ।
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते,
जो जानते निखिल को लखते सुहाते ॥५५॥

साधू सहें परिषहों उपसर्ग बाधा,
प्राय: रहें विजन में वन मध्य ज्यादा ।
एकान्त में शयन आसन साधते हैं,
भू पे, शिला, फलक पे निशि काटते हैं ॥५६॥

साधू करे न विकथा व्यभिचारियों से,
हो दूर षंढ पशुवों महिलाजनों से ।
स्वाध्याय-ध्यान रत जीवन हैं बिताते,
दीक्षा उन्हीं श्रमण की जिन हैं बताते ॥५७॥

सम्यक्त्व से नियम संयम के गुणों से,
होते नितान्त मुनि शुद्ध व्रतों तपों से ।
दीक्षा विशुद्ध उनकी गुण-धारती है,
प्यारी यही कह रही जिन भारती है ॥५८॥

निर्ग्रन्थ आयतन हो मुनि के गुणों से,
पूरा भरा नियम-संयम लक्षणों से ।
ऐसा जिनेश मत ने हम को बताया,
संक्षेप से मुनिपना हम को दिखाया ॥५९॥

निर्ग्रन्थ रूप सुख कूप अनूप प्यारा,
षट्काय जीव हित कारक भूप न्यारा ।
जैसा जिनेन्द्र मत में जिन ने बताया,
बोधार्थ भव्य जन को हमने दिखाया ॥६०॥

भाषा ससूत्र जिननायक ने बताया,
सो शब्द का सब विभाव विकार-माया ।
मैं भद्रबाहु गुरु का लघु शिष्य छाया,
जो ज्ञात था समय के अनुसार गाया ॥६१॥

वाक्देवि के पद प्रचार प्रसारकर्ता,
हे ! द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व धर्ता ।
हे ! भद्रबाहु श्रुत केवलज्ञान धारी,
स्वामी ! गुरो गमक हे ! जय हो तुम्हारी ॥६२॥

- दोहा -

जिन आलय औ आयतन, प्रतिमा, दर्शन सार ।
जैन बिम्ब औ जैन की मुद्रा सुख आगार ॥१॥

ज्ञान, देव, शुचि तीर्थ भी दीक्षा पथ अरहन्त ।
ग्यारह ये मुनि रूप हैं धरते भव का अन्त ॥२॥

पाषाणादिक में इन्हें थाप भजो व्यवहार ।
यही बोध प्राभृत रहा अबोध मेटन "हार" ॥३॥

भाव पाहुड़

सिद्धादि पंच परमेष्ठि, यतीश्वरों से,
जो हैं नमस्कृत नरों असुरों सुरों से ।
श्रद्धा समेत उनको शिर मैं नवाता,
हूँ भाव प्राभृत सुनो तुम को सुनाता ॥१॥

है भाव लिङ्ग वर मुख्य मुझे सुहाता,
हैं द्रव्य लिङ्ग न यथार्थ जिनेश गाता ।
है भाव ही नियम से गुण-दोष हेतु,
होता भवोदधि वही भव सिन्धु-सेतु ॥२॥

ये भाव शुद्ध-तम हो, जब लक्ष होता,
तो बाह्य संग तजना अनिवार्य होता ।
जो भीतरी कलुषता यदि ना हटाता,
है बाह्य त्याग मुनि का वह व्यर्थ जाता ॥३॥

वे कोटि कोटि शतकोटि भवान्तरों में,
साधू तपे तप भले निशि वासरों में ।
नीचे भुजा कर खड़े सब वस्त्र त्यागे,
ना, शुद्ध भाव बिन केवल ज्ञान जागे ॥४॥

जो अच्छ स्वच्छ परिणाम बना न पाते,
पै बाहरी सब परिग्रह को हटाते ।
वे भाव शून्य करनी करते कराते,
हा ! बाह्य त्याग उनको किस काम आते ? ॥५॥

रे ! भाव लिंग बिन बाहर लिंग से क्या ?
वैरी मिटे, असि बिना असिकोष से क्या ?
है भाव, मोक्ष-पुर का पथ, जान पंथी,
ऐसा जिनेश कहते, तज पूर्ण ग्रंथी ॥६॥

रे ! बार बार घर बाहर लिंग छोड़ा,
निर्ग्रन्थ रूप धर भी मन ना मरोड़ा ।
तूने सदा पुरुष हे ! दुख बीज बोया,
हो ! भाव हीन चिर से भव बीच रोया ॥७॥

हो नारकी नरक भीषण योनियों में,
तिर्यंच में असुर मानव योनियों में ।
तू ने सही सुचिर दुस्सह वेदनायें,
भा, भावना अब निजी-जिन देशनायें ॥८॥

दुस्सह्य दारुण भयंकर दुःख भोगा,
पा सातवें नरक में नित शोक रोगा ।
तेरा हुआ अहित ही हित ना हितैषी,
वैसी सदा गति मिले मति होय जैसी ॥९॥

उत्पाटनों खनन ताड़न छेदनों से,
औ बंधनों ज्वलन गालन भेदनों से ।
तिर्यञ्च हो कुगति में चिरकाल पीड़ा,
तू ने निरंतर सही बिन ज्ञान हीरा ॥१०॥

आकस्मिकी सहज दो दुख ये गिनाये,
दो और मानसिक कायिक वेदना ये ।
तूने मनुष्य भव में दुख भार पाया,
बीता वृथा अमित काल न, पार पाया ॥११॥

इन्द्रादि के विभव को लख सूखता था,
देवी मरी विरह हेतु दुखी हुआ था ।
दुर्भावना सहित हो कब तू सुखी था,
हो देव, देव गति में फिर भी दुखी था ॥१२॥

कन्दर्प दर्प मय पंच कुभावनायें,
भाईं, रखीं विषय उर वासनायें ।
हा बार बार बस केवल द्रव्य लिंगी,
तू नीच-देव बनता अयि, भव्य अंगी ॥१३॥

पार्श्वस्थ भाव, बहु बार विभाव भाया,
तूने मिला अमित काल वृथा बिताया ।
अजान के वश दुराशय बीज बोया,
पा दुःख रूप फल ही, फलरूप रोया ॥१४॥

जो वैभवों वर गुणों सुख सिद्धियों को,
हैं श्रेष्ठ देव धरते सुर ऋद्धियों को ।
हो नीच देव दिवि में निज से बड़ों को,
तू देख मानसिक दुःख सहे अनेकों ॥१५॥

दुर्भाव धार मन में मदमत्त नामी,
चारों प्रकार विकथा करता सकामी ।
तू निन्द्य देव बनके बहुबार भोगा,
है कष्ट, दुष्ट मति से फिर और होगा ॥१६॥

बीभत्स है, अशुचि है, मल का पिटारा,
दुर्गंध धाम जननी-तनु गर्भ सारा ।
ले जन्म हे मुनि ! वहाँ बहुबार रोया,
नीचे किए शिर टँगा बहुकाल खोया ॥१७॥

यों काल तो भव भवों बहुमूल्य बीता,
जो भिन्न भिन्न जननी स्तन दूध पीता ।
जानो महाशय ! कभी वह दूध सारा,
लाखों गुना अधिक सागर से अपारा ॥१८॥

वे भिन्न भिन्न भव में तव मात रोती,
तू था मरा जब, तभी नहिं रात सोती ।
रोते हुए नयन से जल जो बहाया,
लाखों गुणा अधिक सागर से कहाया ॥१९॥

जो हड्डियाँ झड़ गई नख बाल छूटे,
तेरे कटे भव भवों नस नाल टूटे !
कोई सुसंग्रह मनो उनको करेगा,
तो साधु, मेरु गिरि से गुरु ही लसेगा ॥२०॥

भू व्योम में अनिल में, जल में वनों में,
नद्यादि में अनल में, थल में द्रुमों में ।
तू ने व्यतीत चिरकाल किया वृथा है,
हा कर्म के वश, सही जग में व्यथा है ॥२१॥

तृष्णा लगी पीड़ित तू विचारा,
त्रैलोक्य का सलिल पीकर पूर्ण डारा ।
तृष्णा मिटी न फिर उरकी इसी से,
शुद्धात्म चिंतन जरा करले रुची से ॥२२॥

है बार बार, इक बार नहीं मरा है,
तू काय को अमित बार तजा धरा है ।
हे ! धीर साधु भवसागर में अनन्ता,
संत्यक्त काय गिनते गिनते न अन्ता ॥२३॥

भोगा गया सकल पुद्गल भोग खारा,
पूरा भरा कि जिससे त्रयलोक सारा ।
भाई तथापि नहिं तृप्ति हुई अभी भी,
भोगो पुनः तुम मिले सुख ना कभी भी ॥२४॥

संक्लेश वेदन वशात् भय सप्त द्वारा,
औ रक्त स्राव विष भक्षण शस्त्र द्वारा ।
आहार-श्वास-अवरोधन से तुरन्ता,
हो आयु का क्षय कहें अरहन्त सन्ता ॥२५॥

हा अग्नि से तुम जले जल मध्य डूबे,
शीतातिशीत-हिम से बिन वस्त्र जूझे ।
उत्तुंग वृक्ष गिरि पे चढते, गिरे थे,
टूटे तभी कर पगों भय से घिरे थे ॥२६॥

जाने बिना रस विधी विष सेवने से,
अन्याय कार्य कर-क्रूर अनार्य जैसे ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो अपमृत्यु पाई,
हैं आपने दुख सहे बहुबार भाई ॥२७॥

भाई निगोद गति में तुम जो गिरे थे,
अन्तर्मुहूर्त भर में दुख में परे थे ।
हा ! साठ औ छह सहस्र व तीन सौ औ,
छत्तीस बार मरते कुछ आज सोचो ॥२८॥

अन्तर्मुहूर्त भर में विकलेन्द्रि सारे,
अस्सी व साठ द्वय बीस भवों सुधारे ।
चौबीस क्षुद्र भव औ धरते विचारे,
पंचेन्द्रि जीव तक भी गुरु यों पुकारे ॥२९॥

ज्ञानादि रत्नत्रय के बिन ही मरे हो,
जो बार बार भव कानन में फिरे हो ।
ऐसे जिनेश कहते अब जाग जाओ,
सानन्द रत्नत्रय धार विराग पाओ ॥३०॥

आत्मा निजात्मरत ही सम दृष्टि वाला,
जो जानता स्वयम को वह बोध शाला ।
है आत्म में विचरता नित है सुहाता,
चारित्र पंथ स्वयमेव वही कहाता ॥३१॥

वैसे अनेक भव में मरता रहा है,
पै मृत्यु के समय में डरता रहा है ।
ले ले अतः मरण उत्तम का सहारा,
तो बार बार मरना मर जाय सारा ॥३२॥

तू द्रव्यलिंग भर बाहर मात्र धारा,
हा मृत्यु को श्रमण होकर भी न मारा ।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
तू ने जहाँ मरण जन्म नहीं गहा हो ॥३३॥

तू बाह्य मात्र अब लौं जिन लिंग धारा,
धारा न भाव मय लिंग कभी सुचारा ।
पीड़ा सही जनन मृत्यु तथा जरा से,
पाया अनन्त भव में सुख ना जरा से ॥३४॥

प्रत्येक आयु परिणाम सुनामकों को,
औ पुद्गलों क्षिति तलों समयादिकों को ।
तूने गहा पुनि तजा बहुबार भाई,
पीड़ा अनन्त भवसागर में उठाई ॥३५॥

लो तीन सौ फिर तियालिस राजु सारा,
है लोक का विदित क्षेत्र जिनेन्द्र द्वारा ।
वे छोड़, मेरु तल के वसु देश न्यारे,
सारे भ्रमे तुम यहाँ मर जन्म धारे ॥३६॥

तेरा शरीर प्रति, अंगुल भाग में ही,
धारे छियानव कुरोग सराग देही ।
हे मित्र ! शेष तन में कितने पता दे,
दुस्सह्य रोग गिनती गिनके बता दे ॥३७॥

हो कर्म के वश अतीत भवों भवों से,
तू ने सहे सकल रोग युगों युगों से ।
रागी रहा फिर अनागत में सहेगा,
क्या क्या कहें बहुत है भव में भ्रमेगा ॥३८॥

हैं पित्त मूत्र कफ माँस जहाँ भरे हैं,
हैं आँत गात नस जाल जिसे घिरे हैं ।
माँ के रहा उदर में नव मास भाई,
नीचे किए शिर टंगा चिर पीर पाई ॥३९॥

माँ बाप के रजस वीर्य घुला मिला था,
संकीर्ण गर्भ जिसमें न डुला हिला था ।
खाया हुआ जननि ने वह अन्न खाया,
उच्छिष्ट भोज करता महिनों बिताया ॥४०॥

नादान था शिशु रहा शिशुकाल में था,
तू खेलता नित निजी मल लार में था ।
सोता वहीं मल तजा मल खूब खाता,
आपाद कण्ठ मल में तब डूब जाता ॥४१॥

ये माँस मेद मद रक्त जहाँ भरे हैं,
हैं पित्त पीब नस नाल सड़े निरे हैं ।
दुर्गन्ध पूर्ण घट है यह काय तेरा,
ऐसा विचार नहिं तो टल जाये वेला ॥४२॥

संमोह-मुक्त, मुनि मुक्त वही कहाता,
ना, मुक्त-मात्र हितु बाँधव से, सुहाता ।
भाई तजो इसलिए उस वासना को,
भावो भजो नित निजीय उपासना को ॥४३॥

निर्ग्रन्थ हैं स्वतन से ममता नहीं है,
मानी रहा स्वयम में रमता नहीं है ।
आतापनादि तप बाहुबली किया है,
मासों, तथापि शिव लाभ कहाँ लिया है ? ॥४४॥

निर्ग्रन्थ था मुनि बना मधु लिंग नामा,
पूरा निरीह तन से तज संग कामा ।
भावी निदान फिर भी उससे घिरा था,
श्रामण्य से इसलिए वह तो गिरा था ॥४५॥

वैसे वसिष्ठ मुनि भी बहु दुःख पाया,
भावी निदान मन से मन को लिपाया ।
ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
मोही यहाँ भटकता न फिरा जहाँ हो ॥४६॥

चौरासि लाख दुखदायक योनियों में,
ऐसा न थान अवशेष रहा भवों में ।
तूने जहाँ भ्रमण वास नहीं किया हो,
हो भाव शून्य मुनि, मात्र मुधा जिया हो ॥४७॥

तू द्रव्य लिंग भर से न कहाय लिंगी,
शुद्धात्म भाववश ही कहलाय लिंगी ।
तू भाव लिंग धर केवल द्रव्य में क्या ?
पी नीर, मात्र-जल भाजन डोर से क्या ? ॥४८॥

धिक्कार ! बाहु मुनि ने क्षण में मिटाया,
क्रोधाग्नि से नगर दंडक को जलाया ।
था बाह्यलिंग जिनलिंग लिया तथापि,
जाके गिरा नरक रौरव में कुपापी ॥४९॥

दीपायनादि मुनि भी इस भाँति क्रोधी
हो द्वारिका नगर दग्ध किया अबोधी ।
सम्यक्त्व बोध व्रत से च्युत, द्रव्य लिंगी,
संसार को दृढ़ किया, सुन भव्य ! अंगी ॥५०॥

वर्षों रही युवतियाँ जिन से घिरी थी,
तो भी यतीश मति को किसने हरी थी ?
थे भाव से श्रमण, मोक्ष गये विरागी,
वे धीर थे शिव कुमार मुनीश त्यागी ॥५१॥

थे द्वादशांग श्रुत चौदह पूर्व ज्ञाता,
वे भव्य सेन मुनि हो उपदेश दाता ।
पै भीतरी श्रमणता उनमें नहीं थी,
थी नग्नता न उर ऊपर में रही थी ॥५२॥

ये भिन्न-भिन्न तुष मास सदा सुहाते,
ऐसा विशुद्ध मन से रट थे लगाते ।
पाई अतः कि शिवभूति मुनीश भाई,
आत्मानुभूति शिव भूति, विभूति स्थाई ॥५३॥

जो भाव नग्न वह नग्न यथार्थ होता,
पै मात्र नग्न मुनी तो अयथार्थ थोथा ।
हो नग्न पूर्ण तन भी मन भी निहाला,
तो कर्म शीघ्र, कटते समझो सुचारा ॥५४॥

यों भाव की विमलता यदि है न प्यारी,
निर्ग्रन्थ रूप वह मात्र न कार्य कारी ।
यों जान मान मन आतम में लगा ले,
शुद्धात्म का गुन गुनाकर गीत गाले ॥५५॥

काषायिकी परिणती जिसने घटायी,
औ निन्द्य जान तन की ममता मिटायी ।
शुद्धात्म मे निरत है तज संग-संगी,
है पूज्य साधु यह पावन भाव लिंगी ॥५६॥

बोले विशुद्ध मुनि यों निज तत्त्व पाऊँ,
त्यागूँ ममत्व परतत्त्व समत्व ध्याऊँ ।
आधार मात्र मम निर्मम आतमा है,
छोडूँ अशेष सब चूँकि अनातमा है ॥५७॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्य-ख्यान-गुण में लसता गुरो ! मैं ।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मोक्ष सुख है, दुख वासना का ॥५८॥

पूरा भरा दृग विबोध-मयी-सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेष विभाव मेरे !
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥५९॥

हे भव्य चार गति से निज को छुड़ाना,
है चाहना यदि सुशाश्वत सौख्य पाना ।
तो शुद्ध भाव कर स्वीय स्वभाव भाना,
तू शीघ्र छोड़ परकीय विभाव नाना ॥६०॥

जो जानता सहज जीव यथार्थ में है,
होता विलीन निज जीव पदार्थ में है।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा को
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६१॥

है जीव चेतन निकेतन है निराला
ऐसा जिनेश कहते वह ज्ञान-शाला।
ज्ञातव्य जीव, इस लक्षण धर्म द्वारा,
शीघ्रातिशीघ्र मिटता वसु कर्म-भारा ॥६२॥

जीवत्व का वह अभाव न सर्वथा है,
सिद्धत्व में, विमल जीवपना रहा है।
पाता विमोक्ष द्रुत से कर निर्जरा औ,
सो नाशता जनन मृत्यु तथा जरा को ॥६३॥

आत्मा सचेतन अरूप अगन्ध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥६४॥

सद्ज्ञान पंच विध है उसको अराधो,
निर्वेग भाव धर के यह कार्य साधो।
अज्ञान रूप तम निश्चित भाग जाता,
हो स्वर्ग-मोक्ष सुख केवल जाग जाता ॥६५॥

क्या शास्त्र के पठन पाठन से मिलेगा,
संवेग भाव बिन कर्म नहीं टलेगा।
श्रामण्य श्रावकपना शिव ज्ञान हेतु
वैराग्य भाव जब हो, यह जान रे ! तू ॥६६॥

ये नारकी पशु तथा कुछ आदिवासी,
होते दिगम्बर नितान्त सुखाभिलाषी ।
पै चित्त में कुटिल कालुष भाव धारे,
हैं भीतरी श्रमणता न धरें विचारे ॥६७॥

जो मात्र नग्न बन जीवन है बिताता,
संसार में भटकता भव दुःख पाता ।
पाता न बोधि वह केवल नग्न साधु,
वो साम्य का यदि बना न कदापि स्वादु ॥६८॥

प्रायः प्रदोष परके परको बताते,
माया व हास्य मदमत्सर धार पाते ।
वे पात्र हैं अयश के अघ के बड़े हैं,
जो नग्न हैं श्रमण मात्र बढ़े चढ़े हैं ॥६९॥

वैराग्य भाव जल से मन पूर्ण धोलो,
निर्ग्रन्थ लिंग धरने सब वस्त्र खोलो ।
होता अवश्य उर में जिसके विकारा,
लेता वहीं पर परिग्रह का सहारा ॥७०॥

हैं दोष कोष वृष रूप-सुधा न पीते,
हैं इक्षु पुष्प सम सार विहीन जीते ।
जो नग्न हो श्रमण हो नट नाचते हैं,
वे निर्गुणी विफल हो नहिं लाजते हैं ॥७१॥

हैं रंग संग रखता परमें रमा हैं,
है नग्न किन्तु, न विराग, निराश्रमा है ।
पाता नहीं सहज बोधि समाधि प्यारा,
यों कुन्द-कुन्द जिन आगम ने पुकारा ॥७२॥

वैराग्य से हृदय नग्न बने सलोना,
मिथ्यात्व आदि मल कर्दम पूर्व धोना,
निर्ग्रन्थ रूप फिर सादर धार लो ना,
सो ही जिनेन्द्र मत के अनुसार होना ॥७३॥

सदभाव को श्रमण हो नहिं धार पाता,
दुष्टाष्ट कर्म मल को मन पे लिपाता ।
तिर्यञ्च हो भटकता अघ धाम रागी,
सद्भाव, स्वर्ग-शिव-धाम सुनो विरागी ॥७४॥

चक्री बनो अमर हो, सुरसम्पदाएँ,
लक्ष्मी मिले अमित दिव्य विलासताएँ ।
सदभाव से परम पावन प्राण प्यारे,
ज्ञानादि रत्न मिलते सुख के पिटारे ॥७५॥

होता त्रिधा वह शुभाशुभ शुद्ध न्यारा,
है आत्म भाव जिन शासन ने पुकारा ।
जो धर्म ध्यान मय है शुभ है कहाता,
दुर्ध्यान सो अशुभ है न मुझे सुहाता ॥७६॥

आत्मा निजी विमल आतम लीन होना,
सो शुद्ध भाव, विधि-कालुष पूर्ण धोना ।
जो श्रेष्ठ इष्ट इनमें चुन भव्य प्राणी,
ऐसा जिनेश कहते मुनि-सेव्य-ज्ञानी ॥७७॥

सत साधु ने दुखद मान गला दिया है,
स्वीकार साम्य, सब मोह जला दिया है ।
आलोक धाम जगसार जिसे मिलेगा ?
बोले प्रभो ! यह नियोग नहीं टलेगा ॥७८॥

पचाक्ष के विषय को तज वासनाएँ,
जो भा रहे श्रमण षोडश भावनाएँ
वे शीघ्र तीर्थकर नामक कर्म बाँधे,
औचित्य कार्य करते सुख क्यो न साधे ॥७९॥

सारे तपो सुतप द्वादश पर्वतो से,
पालो त्रयोदश क्रिया मन वाक तनो से ।
हे ! साधु ज्ञान मय अकुश से विदारो,
उन्मत्त चित्त गज के मद को उतारो ॥८०॥

वैराग्य भाव मन मे बहु बार भाना
पश्चात विशुद्ध जिन लिंग अहो निभाना ।
खाना यथाविधि धरा पर रात सोना
दोना त्रिसयम, बिना पर गात होना ॥८१॥

हीरा अमूल्य मणि है मणि जातियो मे
विख्यात चन्दन रहा द्रुम ख्यातियो मे ।
त्यो जैन धर्म बहु धर्म प्रणालियो मे
है श्रेष्ठ भाविभव नाशक, हो उरो मे ॥८२॥

सम्मोह क्षोभ बिन शोभित हो रहा है
सो धर्म, आत्म परिणाम अहो रहा है ।
औ दान पूजन तथा व्रत पालना ये,
है पुण्य, जैन मत मे शुभ भावनाएँ ॥८३॥

सद्धर्म धार उसकी करते प्रतीति,
श्रद्धान गाढ़ रखते रुचि और प्रीति ।
चाहे तथापि जड़धी भव भोग पाना,
ना चाहते धरम से विधि को खपाना ॥८४॥

जो सर्व दोष तज के निज में रमा है,
नीराग आतम निजातम में समा है ।
संसार में तरण-तारण धर्म नौका,
"सोहीं" "जिनागम" कहे जग में अनोखा ॥८५॥

पै पुण्य का चयन ही करता कराता,
श्रद्धान आत्म पर चूँकि नहीं जमाता ।
पाता न सिद्धि शिव है प्रतिकूल जाता,
संसार में भटकता यति भूल जाता ॥८६॥

श्रद्धा निजात्म पर पूर्ण करो इसीसे,
वाक्काय से विनय से मन से रुचि से ।
हो ध्यान ज्ञान अनुचिन्तन भी उसी का,
हो मोक्ष, शीघ्र, फिर पार नहीं खुशी का ॥८७॥

हो भाव से मलिन तन्दुल मच्छ पापी,
जा सातवें नरक में गिरता तथापि ।
हो जा अतः निरत स्वीय गवेषणा में,
श्रद्धा समेत रुचि से जिन देशनामें ॥८८॥

आतापनादि तपना गिरि कन्दरों में,
औ बाह्य संग तजना रहना वनों में ।
स्वाध्याय ध्यान करना परसे कराना,
ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥८९॥

जीतो निजी सकल इन्द्रीय फौज वैरी,
बाँधो अकम्प मन मर्कट चूँकि स्वैरी ।
निर्ग्रन्थ हो मत करो जनरंजना ना ! !
पै आत्म रंजन करो न प्रपंच नाना ॥९०॥

मिथ्यात्व को समझ हेय विसारना है,
औ नो कषाय नव औ सब त्यागना है ।
सत् शास्त्र चैत्य गुरु भक्ति सँभारना है,
आज्ञा जिनेश मत की नित पालना है ॥९१॥

सन्मार्ग तीर्थ करने पहले बताया,
सत शास्त्र बाद गुण गायक ने रचाया ।
ऐसा अतुल्य शुचि है श्रुत ज्ञान प्यारा,
तू नित्य भक्ति उसकी कर भाव द्वारा ॥९२॥

सत शास्त्र का सलिल सादर साधु पीते,
हो प्यास त्रास उर दाह-विहीन जीते ।
चूडामणी जगत के स्वपराव-भासी,
वे सिद्ध शुद्ध बनते शिवधाम-वासी ॥९३॥

तू झेल काय पर, त्याग प्रमाद सारा,
बाईस दुस्सह परीषह कष्ट भारा ।
शास्त्रानुसार वह भी बन अप्रमादी,
हो ध्यान ! संयम नहीं बिगड़े समाधि ॥९४॥

निर्ग्रन्थ साधु उपसर्ग परीषहों से,
भाई कदापि चिगते नहिं पर्वतों से ।
हो दीर्घ काल तक भी जल में तथापि,
पाषाण है कठिन क्या गलता कदापि ॥९५॥

भा पंच विंशति सुपावन-भावनाएँ ।
भा सर्वदा सुखद द्वादश भावनाएँ ।
रे ! भाव शून्य करनी किस काम आती,
ना माप वो नगनता सुख है दिलाती ॥९६॥

तूने तजा यदपि संग तथापि, क्या है ?
तत्वार्थ, औ नवपदार्थ यथार्थ क्या है ?
क्या-क्या स्वरूप कब जीव-समास धारें,
तू जान ! चौदह निरे गुणथान सारे ॥९७॥

अब्रह्म है दश विधा उसको हटाना,
है ब्रह्मचर्य नवधा जिसको निभाना ।
आर्दा हुआ मिथुन के दुख से घिरा है,
संसार के सघन कानन में फिरा है ॥९८॥

वैराग्य भाव जिसके मन में लसे हैं,
आराधना वरण भी करती उसे हैं
वैराग्य से स्खलित हे मुनि कष्ट पाता,
संसार को सघन और तभी बनाता ॥९९॥

है भाव से श्रमण हे जग नाम पाता,
कल्याण पंच करता शिव धाम जाता ।
पै बाह्य में श्रमण केवल ना सुहाता,
होता कुदेव-पशु मानव दुःख पाता ॥१००॥

जिह्वेन्द्रि के वश हुआ निज को भुलाया,
छयालीस दोषयुत भोजन को उड़ाया ।
तूने अतः विधिवशात् बहुदुःख पाया,
तिर्यञ्च हो विगत में कब सौख्य पाया ॥१०१॥

खा, पी लिया सचित भोजन पेय पानी,
हो लोलुपी सरस का मति मंद मानी ।
तीव्रातितीव्र फलतः दुःखही उठाया,
तू सोच आज चिरकाल वृथा बिताया ॥१०२॥

बीजादि पत्र फल-फूल समूल खाया,
खाके सचित्त फिर भी मद ही दिखाया ।
हा ! हा ! अनन्त भव में भ्रमना फिरा है,
कीड़ा बना विषय में रमना निरा है ॥१०३॥

है पाँचधा विनय सो, त्रययोग द्वारा,
पालो उसे विनय जीवन हो तुम्हारा ।
कैसा गहे अविनयी भव कूल पाना,
है भूलता धरम को प्रतिकूल जाना ॥१०४॥

श्रद्धा समेत जिन भक्ति विलीन प्यारे,
आचार्य आदि दश ये बुध सेव्य सारे ।
भाई यथा बल यथा विधि साधु सेवा,
सद् भक्ति राग वश होकर तू सदैवा ॥१०५॥

जो भी प्रदोष व्रत में त्रय योग द्वारा,
मानो लगा जब हुआ उपयोग खारा ।
धिक्कारते स्वयम को गुरु पास बोलो,
मायाभिमान तज के, उर भाव खोलो ॥१०६॥

वे दुर्जनी कटुक, कर्ण कठोर काली,
देते, सदैव सहते शम-साम्यशाली ।
वैराग्य से श्रमण शोभित हो रहे हैं,
जो काटते विधि, प्रलोभित हो रहे हैं ॥१०७॥

साधु क्षमा रमणि में रमते रमाते,
संपूर्ण पाप पल में फलतः मिटाते ।
विद्याधरों नरवरो, असुरों सुरों के,
होते नितान्त स्तुति-पात्र मुनीश्वरों के ॥१०८॥

धारो क्षमा गुण, क्षमा जग जन्तुओं से,
माँगो, करो, विनय से मन वाक्तनों से ।
क्रोधाग्नि से चिर तपा उर है तुम्हारा,
सींचो क्षमा सलिल से फिर शान्ति धारा ॥१०९॥

सम्यक्त्व शुद्ध अविकार अहो सुधारों,
दीक्षा गही समय को स्मृति से निहारो ।
निस्सार सार तम क्या समझो सयाने,
हीरे समा विमल केवलज्ञान पाने ॥११०॥

नग्नत्व आदि जड़ बाहर लिंग धारो,
हो के परन्तु भवभीत स्व को निहारो ।
हो भाव लिंग बिन द्रव्य न कार्यकारी,
वैराग्य से मति करो अनिवार्य प्यारी ॥१११॥

आहार संग भय मैथुन चार संज्ञा,
होके विलीन इनमें तज आत्म प्रज्ञा ।
संसार के सघन कानन में भ्रमे हो,
खोये युगों युग युगों पर में रमे हो ॥११२॥

मैदान में शयन आसन भी लगाना,
आतापनादि तपना तरुमूल पाना ।
मूलोत्तरादि गुण को रुचि से निभाना,
पै ख्याति लाभ यश को मन में न लाना ॥११३॥

है आद्य कार्य निज तत्त्व अहो पिछानो,
औ आस्रवादिक अशेष सुतत्त्व जानो ।
शुद्धात्म में तुम रमो ध्रुव नित्य प्यारा,
धर्मार्थ काम मिटते, त्रय योग द्वारा ॥११४॥

तू तत्त्व-भाव-जल से नहिं सिंचता है,
औचित्य को न जब लौं यदि चिंतता है ।
होते नहीं जनन-मृत्यु जरा जहाँ पे,
हे ! मित्र, जा, न सकता शिव में वहाँ पे ॥११५॥

ये जीव के, समझ तू परिणाम सारे,
हो पाप रूप कुछ हो कुछ पुण्य प्यारे ।
हो बंध मोक्ष निज के परिणाम द्वारा,
ऐसा जिनेश मत है अभिराम प्यारा ॥११६॥

मिथ्या असंयम कषाय कुयोग लेश्या,
जो भी इन्हें धर रहा कर संक्लेशा ।
बाँधे वही अशुभ कर्म नितान्त मोही,
जो है जिनेश मत अति दूर द्रोही ॥११७॥

सम्यक्त्व संयम यमादिक धारते हैं,
वे पुण्य बंध करते, मन मारते हैं ।
संक्षेप से विविध है विधि बंध गाथा,
ऐसा जिनेश मत सुन्दर गीत गाता ॥११८॥

मैं ज्ञान आवरण आदिक अष्ट कर्मों,
से हूँ बँधा सुचिर से तज आत्म धर्मों,
चैतन्य आदिक अनन्त निजी गुणों को,
देखूँ सही, अब जला विधि के गणों को ॥११९॥

सारे अठारह सहस्र सुशील होते,
चौरासिलाख गुण उत्तर पूर्ण होते ।
भावो इन्हें सतत ये शुचि भावना है,
क्या व्यर्थ के कथन से ? कुछ लाभ ना है ॥१२०॥

रे आर्त-रौद्रमय ध्यान अवश्य छोड़ो,
पै धर्म से शुकल से मन मात्र जोड़ो ।
दुर्ध्यान तो सुचिर से कर ही रहे हो,
जो बार-बार भव में मर ही रहे हो ॥१२१॥

वे भाव से श्रमण, ध्यान-कुठार द्वारा,
काटे सुशीघ्र भव वृक्ष समूल सारा ।
जो मात्र नग्न मुनि इन्द्रिय दास होते,
संसार-वृक्ष-जड़ में जल और देते ॥१२२॥

ज्यों दीप, गर्भ-घर में बुझता नहीं है,
उद्दीप्त हो, जबकि वायु चली नहीं है ।
त्यों ध्यान दीपक अकम्प सही जलेगा,
औचित्य ! रागमय वात नहीं चलेगा ॥१२३॥

सर्वोत्तमा शरण मंगल चार प्यारे,
पूजें जिन्हें खग खगेन्द्र सुरेन्द्र सारे ।
आराधना सुगुण नायक हैं गुरो को,
ध्याओ सदा विनय से परमेष्ठियों को ॥१२४॥

विज्ञान का विमल शीतल नीर पीते,
सद्भाव से भरित भव्य सुधीर जीते ।
वे आदि व्याधि मृति जन्म जरादिकों से,
होते विमुक्त, शिव हो लसते गुणों से ॥१२५॥

है पूर्णतः जल गया यदि बीज बोओ,
औचित्य ! अंकुरित भूतल में न हो वो ।
लो कर्म बीज-इकबार अहो जलेगा,
भाई ! भवांकुर पुनः उग ना सकेगा ॥१२६॥

जो भाव से श्रमण है शिव धाम जाता,
हो मात्र बाह्य मुनि ना सुख त्राण पाता ।
यों जान मात्र गुण दोष सही सुचारा,
भावात्मिका श्रमणता भज विश्व-सारा ॥१२७॥

तीर्थंकरों गणधरो हलधारियों के,
उत्कृष्ट अभ्युदय है दिविबासियों के
जो भाव से श्रमण है, अनिवार्य पाते ।
सक्षेप से, सुन जरा जिन आर्य गाते ॥१२८॥

वे धन्य धन्य तम है, तज सग संगी,
सम्यक्त्व बोध व्रत से शुचि भावलिंगी ।
है साधु निष्कपट भी त्रययोग द्वारा,
बन्दूँ उन्हें विमल हो उपयोग प्यारा ॥१२९॥

वे ऋद्धि-सिद्धि, खगदेव भले दिखाले,
आ पास किंपुरुष किन्नर गीत गाले ।
सम्यक्त्व से सहित श्रावकभी ऋषि से,
हो मुग्ध लुब्ध न प्रभावित हो किसी से ॥१३०॥

है मोक्ष को सजल लोचन सिचते हैं,
है जानते मनस से नित चिंतते हैं ।
ऐसे मुनीश मन मोहित क्या करेगा, ?
स्वर्गीय स्वल्प सुख वो फिर क्या करेगा ? ॥१३१॥

रोगाग्नि, देह घर ना जब लौं जलाती,
दुर्वार मारक जरा जबलौं न आती ।
पंचेन्द्रियाँ शिथिल हो जबलौं नहीं हैं,
रे आत्मका हित करो सुघड़ी यही है ॥१३२॥

तू विश्व जीव पर धार दया सुधारा,
सारे अनायतन त्याग त्रियोग द्वारा ।
तेरा उपास्य बन जाय "महान सत्ता",
जो सर्व-जीव-मत-चेतन-ज्ञान वत्ता ॥१३३॥

संभोग सौख्य सबने त्रस स्थावरों को,
खाये अनन्त तुमने जग जन्तुओं को ।
ऐसा अतीत भरमें चिरकाल बीता,
संसार में भटकता नहिं काल जीता ॥१३४॥

चौरासि लाख इन कुत्सित योनियों में,
तू जन्म ले मर मिटा कि भवों-भवों में ।
क्या ज्ञात है कि दु:ख कारण क्या रहा है,
हे मित्र "प्राणिवध" कारण ही रहा है ॥१३५॥

सद्भाव से अभयदान, चराचरों को,
देवो, सदा शुचि बना मनवाक्तनों को ।
"कल्याण पंच", फलरूप परम्परा से,
पावो मुनीश मुकती, मृति से जरा से ॥१३६॥

हैं वाद सर्व किरिया शत और अस्सी,
बत्तीस वाद विनयी अक्रिया चवस्सी ।
अज्ञानवाद सडसष्ट अहो पुकारे,
ये वाद, तीन शत औ त्रय साठ सारे ॥१३७॥

सद्धर्म का श्रवण भी करता तथापि,
छोड़े अभव्य न अभव्यपना कदापि ।
मिश्री मिला यदपि पावन दूध पीता,
पै सर्प दर्प विष से रहता न रीता, ॥१३८॥

लेता सदोष मत को जड़धी सहारा,
मिथ्यात्व से ढक गया उर नेत्र सारा ।
सिद्धान्त में बस अभव्य रहा वही है,
श्री जैन धर्म जिसको रुचता नहीं है ॥१३९॥

सेवा कुसाधुजन की करता मुधा है,
सो ही कुधर्म मत में रत सर्वदा है ।
है तापसी कुतप ही तपता वृथा है,
हो पात्र हा कुगति का सहता व्यथा है ॥१४०॥

मिथ्यात्व से भ्रमित दुर्जन संग पाया,
भाई तुझे कुनय आगम ने ठगाया ।
संसार में फिर रहा चिर काल से तू,
हे धीर सोच चलना ! निज चाल ले तू ॥१४१॥

पाखंडि वाद त्रय सौ त्रय साठ खारे,
उन्मार्ग हैं तुम इन्हें तज दो विसारो ।
सौभाग्य ! जैन पथ पे निज को चलाओ,
रे वाक् विलास बस हो ! मन से भुलाओ ॥१४२॥

सम्यक्त्व के बिन मुनी शव ही कहाता,
है मात्र नग्न चलता फिरता दिखाता ।
मोही त्रिलोक भर में वह निंद्य होता,
आत्मा उड़ा, शव कहाँ कब वंद्य होता ॥१४३॥

जैसा शशी उजल तारक के गणों में,
जैसा मृगेन्द्र बलवान रहा मृगों में ।
सम्यक्त्व भी परम श्रेष्ठ सभी गुणों में,
माना गया कि मुनि श्रावक के व्रतों में ॥१४४॥

धारा फणा मणि विशेष सुलाल ऐसा,
होता सुशोभित फणाधर राज जैसा ।
वैसा सुशोभित सदा जिन भक्त होता,
सन्मार्ग में विमल दर्शन युक्त होता ॥१४५॥

तारा समूह नभ में जब जन्म पाता,
वो पूर्ण चन्द्र जिस भाँति हमें सुहाता ।
निर्ग्रन्थ लिंग उस भाति लसे सुचारा,
सम्यक्त्व-शुद्ध तप ले व्रत युक्त प्यारा ॥१४६॥

मिथ्यात्व दोष, गुण दर्शन को विचारो,
भाई सुरत्न, समदर्शन को सुधारो ।
सोपान आदिम शिवालय का रहा है,
औ सारभूत गुण रत्न यही अहा है ॥१४७॥

कर्ता, अमूर्त, निज देह प्रमाण वाला,
भोक्ता, अनादि अविनश्वर, जीव प्यारा
विज्ञान दर्शनमयी उपयोग प्याला,
ऐसा कहें जिन करें जग मे उजाला ॥१४८॥

मोहादि घाति विधि के दल को मिटाते,
वे भव्य साधु जिन लिंग धरे सुहाते ।
वैराग्य से लस रहे 'दृग पूर्ण खोले,
तू ग्वास दास उनका अयि चित्त होले ॥१४९॥

ज्यो चार घाति अघ-कर्म विनाशते है,
त्यों लोक पूरण अलोक प्रकाशते हैं ।
दृक ज्ञान सौख्य बल ये प्रकटे गुणों से,
होते सुशोभित अनन्त चतुष्टयों से ॥१५०॥

लो कर्म मुक्त बनता जब आत्मा है,
होता सुनिश्चित वही परमातमा है।
ज्ञानी वही शिव चतुर्मुख ब्रह्म भी है,
सर्वज्ञ विष्णु परमेष्ठि निजात्म ही है ॥१५१॥

हो घाति कर्म दल से, जब मुक्त स्वामी,
प्यारे अठारह सदोष-विमुक्त नामी।
त्रैलोक्य दीप तुम ही अति दिव्य देही !
दो बोधि उत्तम बनूँ फलतः विदेही ॥१५२॥

सदभाव से भ्रमर हो निशिवासरों में,
होता विलीन जिनके पद पंकजों में।
आमूल-जन्म लतिका झट काटता है,
वैराग्य शस्त्र बल से शिव साधता है ॥१५३॥

ज्यों शोभता कमलिनी दृग मंजु पत्र,
हो नीर में, न सड़ता रहता पवित्र।
त्यों लिप्त हो विषय से न मुमुक्षु प्यारे,
होते कषाय मल से अति दूर न्यारे ॥१५४॥

नाना कला गुण विशारद हो निहाला,
मानूँ उसे मुनि, सुसंयम शील वाला।
पै दोष कोष बस केवल नग्न साधु,
साधू रहा न वह श्रावक भी न ! स्वादु ! ॥१५५॥

तीखी क्षमा दम मयी असि हाथ धारे,
वे धीर, नीर-निधि से मुनि वीर प्यारे।
दुर्जेय उद्धत कषाय-बली, भटों को,
हैं जीतते सुचिर कालिन संकटों को ॥१५६॥

पंचाक्ष के विषय के मकराकरों में,
थे डूबते पतित भव्य भवों-भवों में ।
विज्ञान दर्शनमयी कर का सहारा,
दे, धन्य ईश उस पार जिन्हें उतारा ॥१५७॥

उत्तुंग मोह तरु पे लिपटी चढ़ी है,
मायामयी विषम बेल घनी बढ़ी है ।
फूले खिले विषय फूल जहाँ जिसे वे,
काटे विरोध असि से मुनि हा ! न सेवे ॥१५८॥

कारुण्य से यदपि पूर्ण भरे निरे हैं,
संमोह मान मद गौरव से परे हैं ।
चारित्र खड्ग कर लेकर, काटते हैं,
सम्पूर्ण-पाप मय स्तंभ न हाँफते हैं ॥१५९॥

ज्यों पूर्ण पौर्णिम शशी नभ में सुहाता,
तारा समूह जिसको जब घेर पाता ।
त्यों श्री जिनेश मत के नभ में दिखाते,
धारे सुमाल गुण की मुनि चन्द्र भाते ॥१६०॥

होते जिनेन्द्र अमरेन्द्र नरेन्द्र चक्री,
हो राम तीर्थंकर केशव अर्ध चक्री,
वे ऋद्धि-सिद्धि गहते मुनि, संग त्यागी,
होते गणेश ऋषि तारण है विरागी ॥१६१॥

अत्युज्वला अतुल निर्मल है निहाला,
उत्कृष्ट सिद्धि सुख है शिव शील वाला ।
वार्धक्य भी मरण भी जिनमें न भाते,
साधु विराग जिसको अविलम्ब पाते ॥१६२॥

नीराग हैं नित निरंजन हैं निराले,
हैं सिद्ध शुद्ध जग पूजित, पूज्य सारे ।
दे, वे मुझे विमल भाव, कषाय धोऊँ
सम्यक्त्व-बोध-व्रत में रत नित्य होऊँ ॥१६३॥

ये धर्म अर्थ पुनि काम विमोक्ष चारों,
हैं भाव पे निहित यों तुम तो विचारो ।
मंत्रादि सिद्धि सब भी बस !! भाव से हो,
कोई प्रयोजन नहीं बकवाद से हो ॥१६४॥

सर्वज्ञ ने प्रथम तो सब जान पाया,
सद'भाव-प्राभृत' पुनः हमको सुनाया ।
जो भी पढ़ें यदि सुनें अविराम भावें,
औचित्य, नित्य स्थिर शाश्वत धाम पावें ॥१६५॥

- दोहा -

निजी भाव ही दुःख हैं, निजी भाव सुख कूप ।
भव-भव भ्रमते भाव से, भूल रहे निज रूप ॥१॥

दुःख से बचना चाहते, तजो परिग्रह भाव
नग्न हुए बिन शिव नहीं, बिना निजातम भाव ॥२॥

मोक्ष पाहुड

देवाधिदेव जिनदेव बने हुए हैं,
आत्मीय-ज्ञान धन पाय तने हुए हैं ।
सर्वस्व त्याग परका विधि को मिटाते,
बन्दूँ उन्हें विनय से शिर को झुकाते ॥१॥

मैं वन्दना कर इन्हें, जिनदेव प्यारे,
सच्चे अनन्त दृग बोध स्वयं सुधारें ।
उत्कृष्ट योगिजन को रुचि से सुनाता,
जो श्रेष्ठ रूप परमातम, का सुहाता ॥२॥

जो पूर्व, जान परमातम, योग ढोते,
योगी सुयोग रत ही अविराम होते ।
निर्वाण प्राप्त करते सुख कूप साता,
निर्बाध शाश्वत अनन्त अनूप भाता ॥३॥

बाह्यात्म और परमातम अन्तरात्मा,
आत्मा त्रिधा सब, तजो तुम बाह्य आत्मा ।
है अन्रातम उपाय उसे सुधारो,
ध्याओ सदैव परमातम को निहारो ॥४॥

मैं हूँ शरीरमय ही बहिरात्म गाता,
जो कर्म मुक्त परमातम देव साता ।
चैतन्य धाम मुझ से तन है निराला
यों अन्तरात्म कहता समदृष्टि वाला ॥५॥

होते अतीन्द्रिय अनिंद्य अकाय प्यारे,
शुद्धात्मा मात्र, विधि-पंक विमुक्त सारे ।
शोभे सदा शिव शिवंकर सिद्ध स्थाई,
माने गये परम इष्ट, जिनेश, भाई ॥६॥

वाक्काय से मनस से तज बाह्य आत्मा,
सौभाग्य है ! तुम बनो शुचि अन्तरात्मा ।
ध्यावो उसे परम आतम जो सुहाया,
प्राप्तव्य मात्र वह है, जिनने बताया ॥७॥

वो मूढ़ दृष्टि, मन-इन्द्रिय-दास मोही,
"आत्मा" स्वयं समझता निज देह को ही ।
आत्मीय बोध-च्युत है, फलतः भ्रमा है,
बाह्यार्थ में, रच पचा पर में रमा है ॥८॥

है अन्य का स्वतन सा तन देख सोही,
सेवा सदैव करता उसकी विमोही ।
वो वस्तुतः तन अचेतन ही रहा है,
भूला उसे तदपि चेतन ही गहा है ॥९॥

यों देह में स्वपर भान लिए दिखाते,
आत्मा जिन्हें विदित है न यथार्थ पाते ।
माता पिता सुत सुता निज बाँधवों में,
हैं मोह और करते वनितादिकों में ॥१०॥

ना-ना कुबोध भर में रममान होता,
मिथ्या-विभाव वश मानव मान ढोता ।
संमोह के उदय से यह लोक में भी,
माने अभीष्ट तन को परलोक में भी ॥११॥

आरम्भ से रहित निर्भय हैं विरागी,
निर्द्वन्द्व, राग रखते तन में न त्यागी ।
योगी नितान्त निज में रममान होता,
हो मोक्ष-ओर फलतः गम मान होता ॥१२॥

जो राग से सहित है, विधि बंध पाता,
होता विराग, विधि मुक्त अनन्त ज्ञाता ।
हैं मुक्ति की यह तथा विधि बंध गाथा,
संक्षेप से यह जिनागम यों बताता ॥१३॥

तल्लीन जो श्रमण स्वीय पदार्थ में है,
साधु नितान्त समदृष्टि यथार्थ में हैं ।
सम्यक्त्व मंडित हुआ निज में सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को क्षण में मिटाता ॥१४॥

तल्लीन साधु परकीय पदार्थ में हो,
मिथ्यात्व दृष्टि वह क्यों यथार्थ में हो ।
मिथ्यात्व मंडित, नहीं निज धर्म पाता,
है बार-बार फलतः वसु कर्म पाता, ॥१५॥

लेना निजाश्रय सुनिश्चित मोक्षदाता,
होता पराश्रय दुरन्त अशांति-धाता ।
शुद्धात्म में इसलिए रुचि हो तुम्हारी,
देहादि में, अरुचि ही शिव सौख्यकारी ॥१६॥

जो भी सचेतन अचेतन मिश्र सारे,
शुद्धात्म के धरम से अति भिन्न न्यारे ।
ऐसा हमें सदुपदेश अहो सुनाया,
सन्मार्ग को निखिल-दर्शक ने दिखाया ॥१७॥

है वस्तुतः अतुल-निर्मल-शील वाला,
दुष्टाष्ट कर्म बिन ज्ञान-शरीर-धारा ।
अत्यन्त शुद्ध निज आतम द्रव्य भाता,
ऐसा जिनेश कहते, निज-द्रव्य-धाता ॥१८॥

संलग्न पूर्ण जिनके पथ में हुए हैं,
औ पूर्णतः विमुख भी पर से हुए हैं ।
सद्ध्यान, आत्म भर का करते सदा है,
पाते विमोक्ष धरते व्रत सम्पदा हैं ॥१९॥

योगी जिनेश मत के अनुसार ध्याता,
शुद्धात्म-ध्यान मन में यदि धार पाता ।
निर्वाण लाभ उसको मिलता यदा है,
आश्चर्य क्या न मिलती सुरसम्पदा है ? ॥२०॥

सौ कोश एक दिन मे चलता मजे से,
ले के स्वकीय शिर पे गुरु भार वैसे ।
क्या अर्ध कोस उसको न निभा सकेगा ?
शका नहीं वह नितान्त निभा सकेगा ॥२१॥

दुर्जेय कोटि भट है रण मे खडा है,
जीता न जाय भट कोटिन से अड़ा है ।
क्या एक मल्ल भट जीत उसे सकेगा,
कैसा असम्भव सुसम्भव हो सकेगा ? ॥२२॥

घोराति-घोर तप से तन को तपाते,
प्रायः सभी अमर हो मुनि स्वर्ग पाते,
सद्ध्यान से सुर बने यदि स्वर्ग जाते ।
आगे नितान्त शिव शाश्वत सौख्य पाते ॥२३॥

अग्न्यादि का यदि सुयोग्य सुयोग पाता,
पाषाण हेम-मय, हेम बने सुहाता ।
कालादि योग्य जब साधन-प्राप्त होता,
आत्मा अवश्य परमातम आप्त होता ॥२४॥

अच्छा, व्रतादिक तथा, सुर-सौख्य पाना,
स्वच्छन्दता अति बुरी, फिर श्वभ्र जाना।
अत्यन्त-अन्तर व्रताव्रत में रहा है,
छाया-सुधूप-द्वय में जितना रहा है ॥२५॥

चाहो भयंकर भवार्णव तैर जाना !
चाहो यहाँ अब नहीं भव दुःख नाना।
ध्याओ उसे शुचि निजातम है सुहाता,
जो शीघ्र कर्म-मय ईधन को जलाता ॥२६॥

साधु कषाय-घट को झट फोड़ते हैं
संमोहराग मद गारव छोड़ते हैं
वे त्याग लोक व्यवहार सदा सुहाते,
हैं ध्येय भूत निज ध्यान अतः लगाते ॥२७॥

अज्ञान से विमुख हो दिन रात जागें,
मिथ्यात्व पाप सब पुण्य विभाव त्यागें,
सानन्द मौन व्रत गुप्ति तथा निभावें,
योगी सुयोग रत आतम को दिपावें ॥२८॥

जो भी मुझे दिख रहा जग रूप न्यारा,
सो जानता न कुछ भी जड़-रूप सारा।
मैं तो अमूर्त नित ज्ञायक शील वाला,
कैसे करूँ कि, किससे कुछ बोल चाला ॥२९॥

वह कर्म का सतत आस्रव रोक पाता,
है पूर्व संचित तभी विधि को खपाता।
योगी सुयोगरत हो, जिन यों बताते,
योगी बनों तुम धरो दृढ़ योग ताते ॥३०॥

होता सुजागृत वही निज कार्य में है,
सोता हुआ सतत लौकिक कार्य में है।
जो जागता सतत लौकिक कार्य में है,
सोता वही सतत आत्मिक कार्य में है ॥३१॥

योगी सदैव इस भाँति विचारता है,
सारा असार व्यवहार विसारता है।
जो भी जिनोक्त परमात्मपना उसी में,
होता विलीन रत, भूल न औ किसी में ॥३२॥

ये पंच पाप तज पंच महाव्रतों को,
पालो सदा समिति पंच त्रिगुप्तियों को।
ज्ञानादि रत्न त्रय में मन को लगाओ,
स्वाध्याय ध्यानमय जीवन ही बिताओ ॥३३॥

आराधना वह रही निज के गुणों की,
आराधना कर रहा दृग-आदिकों की।
माना गया विमल केवल ज्ञान दाता,
आराधना-मय-विधान मुझे सुहाता ॥३४॥

है शुद्ध, सिद्ध निज आतम विश्वदर्शी,
सर्वज्ञ है, पर नहीं पर द्रव्य स्पर्शी।
जानो उसे सदन केवल ज्ञान का है,
ऐसा कहे जिन, निधान प्रमाण का है ॥३५॥

योगी जिनेश मत के अनुसार भाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय सो उरधार पाता।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाता,
निर्भ्रान्त शीघ्र मन के मल को मिटाता ॥३६॥

जो जानता स्वपर को वह ज्ञान भाता
जो देखता सहज दर्शन नाम पाता ।
जो पाप पुण्य पर को जड़ से मिटाता,
सिद्धान्त में विमल चारित वो कहाता ॥३७॥

सम्यक्त्व तत्त्व भर में रुचि नाम पाता,
तत्त्वार्थ का ग्रहण ज्ञान सही कहाता ।
चारित्र शुद्ध परका परिहार साता
ऐसा जिनेश मत है इसको बताता ॥३८॥

वो शुद्ध, शुद्ध यदि दर्शन धारता है
निर्वाण प्राप्त करता मन मारता है ।
अन्धा बना रहित दर्शन से विचारा,
पाता अभीष्ट फल का नहि मोक्ष प्यारा ॥३९॥

धर्मोपदेश जिनका सुख का पिटारा
है जन्म मृत्यु हरता यह विश्व सारा ।
स्वीकारता हृदय से इसको सुहाता
सम्यक्त्व सो श्रमण श्रावक धार पाता ॥४०॥

क्या भेद चेतन अचेतन में रहा है
योगी उसे समझ जीवन में रहा है ।
सद् ज्ञान है नियम से उसको, बताया
सत्यार्थ को निखिल दर्शक ने दिखाया ॥४१॥

योगी सुरत्नत्रय लक्षण जान लेता
सो पुण्य पाप झट छोड़ नितान्त देता ।
है निर्विकल्प मय चारित धार लेता
ऐसा कहे जिन सुनो विधि मार जेता ॥४२॥

हो संयमी स्वबल को न कभी छुपाते,
रत्नत्रयी बन तपे तप साधु तातें ।
शुद्धात्म-ध्यान धरते रुचि से सुचारा,
पाते पुनः परम ह पद पूर्ण प्यारा ॥४३॥

मायादि शल्य त्रय त्याग त्रिरत्न पाले,
धारे त्रियोग त्रय योग सदा सँभाले ।
औ राग दोष द्वय को जड़ से मिटाते,
योगी तभी नियम से परमात्म ध्याते ॥४४॥

माया व क्रोध भय को मन मे न लाना,
हा लोभ से रहित-जीवनही चलाना ।
है शोभना विमल भाव-स्वभाव द्वारा,
पाता अनन्त गुण उत्तम विश्व सारा ॥४५॥

शुद्धात्म-भाव-च्युत है विषयी कषायी,
है रौद्र भाव धरते भव दुःखदाई ।
पाते न सिद्धि सुख हैं विधि से कसे है,
वे क्योंकि हा ! न जिन लिंगन से लसे है ॥४६॥

निर्ग्रन्थ रूप जिन-लिंग वही सुहाया,
उत्कृष्ट मोक्ष सुख है, जिन देव गाया ।
सो स्वप्न में तक जिन्हें रुचता नहीं है,
रोते फिरें अबुध वे भव में यहीं हैं ॥४७॥

सद् ध्यान में उतरता परमातमा है,
होता प्रलोभ मलदायक खातमा है ।
योगी नवीन विधि आस्रव रोधता है
प्यारी जिनेन्द्र प्रभु की यह बोधता है ॥४८॥

सम्यक्त्व संग दृढ़ चारित पालता है,
वैराग्य से नियम से मन मारता है ।
योगी निजात्म भरका शुचि ध्यान ध्याता,
पाता अत: परम है पद को सुहाता ॥४९॥

चारित्र ही धरम निश्चय से सुहाता,
सो धर्म भी सहज साम्य स्वभाव धाता ।
है राग रोष रति से वह अन्य होता,
जीवात्म का हि परिणाम अनन्य होता ॥५०॥

ज्यों स्वच्छ ही स्फटिक आप स्वभाव से हो,
भाई ! वही विकृत अन्य प्रभाव से हो ।
जीवात्म भी विमल आप स्वभाव से हो,
रागादि से मलिन-मैल-विभाव से हो ॥५१॥

साधर्मि-साधु जन, में अनुराग होता,
सद्भक्त देव गुरु का अनगार होता ।
सम्यक्त्व-ध्यान रत हो वह मात्र योगी,
माना गया समय में सुन शास्त्र भोगी ॥५२॥

मोही अनेक भव में जितना खपाता,
उग्राति उग्रतप से विधि को मिटाता ।
ज्ञानी त्रिगुप्ति बल से उतना खपाता,
अन्तर्मुहूर्त भर में, यह 'साधु-गाथा' ॥५३॥

जो पुण्य के उदय में निज को भुलाता,
होता विमुग्ध पर में शुभ वस्तु पाता ।
है अज्ञ ही इसलिए वह साधु होता,
ज्ञानी विराग उससे विपरीत होता ॥५४॥

भोगानुराग अघ आस्रव हेतु जैसा
मोक्षानुराग शुभ आस्रव हेतु वैसा
है मोक्ष चाह रखता बस अज्ञ होता,
शुद्धात्म से इसलिए अनभिज्ञ, होता ॥५५॥

पा कर्म जन्य कुछ इन्द्रिय ज्ञान को है,
ना मानता सहज केवलज्ञान को है ।
अज्ञान धाम फलतः वह कहाता,
धिक्कार दोष जिन-शासन में लगाता ॥५६॥

जो मूढ-ज्ञान-बिन-चारित ढो रहा है,
सम्यक्त्व से रहित तापस हो रहा है
संवेग आदि गुण मे रुचि भी न लाता,
वो मात्र नग्नपन क्या सुख को दिलाता ? ॥५७॥

माने सचेतन अचेतन को वही है,
है अज्ञ ही, चतुर विज्ञ अहो नहीं है ।
भाई सचेतन सचेतन को बताता,
ज्ञानी वही नियम से जग में कहाता ॥५८॥

विज्ञान के बिन नहीं तप कार्यकारी,
विज्ञान भी तप बिना नहिं कार्यकारी ।
भाई अतः तप तपो तुम ज्ञान द्वारा,
निर्वाण प्राप्त करलो सुख खान प्यारा ॥५९॥

निर्वाण का नियम से जब पात्र होते,
निर्भ्रान्त तीर्थंकर वे चहु ज्ञान ढोते ।
भाई तथापि तपते तप भी रुचि से,
यों जान, ज्ञान समवेत तपो इसी से ॥६०॥

लो मात्र नग्न मुनि है तज वस्त्र सारा,
है भाव लिंग बिन बाहर लिंग धारा ।
निर्भ्रान्त भ्रष्ट निज चारित से रहा है,
धिक्कार ! मोक्ष पथ नाशक सो, रहा है ॥६१॥

जो तत्त्व-बोध सुख पूर्वक हाथ आता,
आते ही दु:ख झट से वह भाग जाता ।
वे काय-क्लेश-समवेत अतः सुयोगी,
तत्त्वानुचिन्तन करें, तज भोग भोगी ॥६२॥

निद्रा तथा अशन आसन जीत लेना,
भाई जिनेन्द्र मत में रुचि नित्य लेना ।
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा,
शुद्धात्म ध्यान करना मन से सुचारा ॥६३॥

चारित्रवान निज आतम ही रहा है,
सम्यक्त्व बोध गुण मंडित भी रहा है ।
ध्यातव्य सो सतत है मन से सुचारा,
पाके प्रसाद गुरु का उपदेश द्वारा ॥६४॥

श्रद्धा समेत निज आतम जान पाना,
सद्भावना स्वयम की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय मे मन को छुड़ाना,
दुर्लभ्य पूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना ! ॥६५॥

जो वासना विषय की जबलौं रखेगा,
शुद्धात्म को न नर वो तब लौं लखेगा ।
योगी जभी विषय से अति दूर होता,
शुद्धात्म को निरखता सुन मूढ़ ! श्रोता ॥६६॥

कोई सुजान कर आतम को तथापि,
सद्भाव से स्खलित हो मतिमंद पापी ।
है झूलते विषय में अति फूलते हैं
वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥६७॥

शुद्धात्म जान जिन भाव समेत तारे,
योगी विरक्त विषयादिक को विसारें,
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते,
वे छोड़ चार गतियाँ निजधाम जाते ॥६८॥

तू राग को तनिक भी तन मे रखेगा,
मोहाभिभूत बन के पर को लखेगा ।
होगा स्व से स्खलित हो विपरीत जाना,
मूढात्म हा न फलतः भव जीत पाना ॥६९॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
उत्साह से सुदृढ चारित हो रहा है ।
शुद्धात्म ध्यानरत निर्विषयी विरागी,
निर्वाण प्राप्त करते तज राग-रागी ! ॥७०॥

जो मोह राग पर में करना कराना,
संसार कारण रहा गुरु का बताना ।
योगी अतः नित करे निज भावनाएँ,
वाक्काय से मनस से तज वासनाएँ ॥७१॥

निन्दा मिले स्तुति मिले न विभाव होना,
बन्धू रहो रिपु रहो समभाव होना ।
सो साम्य ही विपद में सुख सम्पदा में,
माना गया चरित है धरना सदा मैं ॥७२॥

चारित्र मोह विधि से सहसा घिरे हैं,
स्वच्छन्द हैं समिति संयम से निरे हैं ।
वैराग्य हीन, जड़ यों बकते यहाँ हैं,
सद् ध्यान योग्य यह काल नहीं अहा है ! ॥७३॥

सम्यक्त्व ज्ञान बिन जीवन जी रहे हैं,
भोगोपभोग रस सादर पी रहे हैं
जो ध्यान योग्य यह काल नहीं बताते,
वे ही अभव्य, नहि, मोक्ष कदापि जाते ॥७४॥

पाले न पंच व्रत पालन की न इच्छा,
धारे न गुप्ति समिती धरते न दीक्षा ।
चारित्र बोध बिन यों जड़ ही पुकारे
है ध्यान योग्य यह काल नहीं विचारें ॥७५॥

लो धर्म ध्यानरत, भारत देश में भी,
साधू मिले दुखद पंचम काल में भी ।
ऐसे निजात्म रत साधु जिन्हें न मानें,
वे अज्ञ मूढ कहलाय, सुनो सयाने ॥७६॥

ज्ञानादि रत्नत्रय से शुचि हो सुहाते,
लो आज भी मुनि निजातम ध्यान ध्याते ।
लौकान्तिका सुरप या फलरूप होते,
आ स्वर्ग से मुनि बने शिव को सजोते ॥७७॥

हो पाप पंक मल से मन को बिगारा,
हा साधु ने यदपि है जिन लिंग धारा ।
पै पाप मात्र करता दिन रैन पापी,
पाता न मोक्ष पथ को तजता तथापि ॥७८॥

जो पंचधा वमन को रखते सदा है,
हे मूढ़ याचक, ख्वे धन सम्पदा हैं ।
हा ! पाप कार्य भर में रस ले रहे हैं,
सन्मार्ग को बस जलांजलि दे रहे हैं ॥७९॥

सारे परीषह सहे अनिवार्य भाते,
हैं हेय मान तजते अघ कार्य तातें ।
निर्ग्रन्थ हैं विगत मोह कषाय जेता,
वे मोक्ष मार्ग भजते दृग के समेता ॥८०॥

हा ! तीन लोक भर में कुछ है न मेरा,
होगा, न था, न अब है, बस मैं अकेला ।
योगी निरन्तर अहो इस भांति गाता,
जाता स्वधाम ध्रुव शाश्वत शान्ति साता ॥८१॥

जो भक्त देव गुरु के मन से बने हैं,
निर्वेग रूप रस में सहसा सने हैं ।
शुद्धात्म ध्यानरत निश्चल भी रहे हैं,
वे ही विमोक्ष पथ से चल भी रहे हैं ॥८२॥

आत्मार्थ, आतम निजातम में समाता,
सच्चा सुनिश्चित चरित्र वही कहाता ।
हे भव्य ! पावन पवित्र चरित्र पालो,
पालो अपूर्व पद, निज को दिपालो ॥८३॥

आकार से पुरुष आतम शैल योगी,
सम्यक्त्व ज्ञानमय है विमलोपयोगी ।
योगी सदैव करता निज ध्यान प्यारा,
निर्द्वन्द्व आप बनता हर पाप सारा ॥८४॥

धर्मोपदेश इस भांति हमें सुनाया,
श्रामण्य क्या श्रमण का जिनने बताया ।
सागार धर्म सुन लों भव को मिटाता,
उत्कृष्ट कारण रहा, शिव का सुहाता ॥८५॥

सम्यक्त्व का प्रथम श्रावक ! लो सहारा,
जो है अकम्प, गिरि सा शुचि शांत धारा ।
सम्यक्त्व पे हि तुम ध्यान अहो जमा लो,
हो दुःख का क्षय यही कि प्रयोजना हो ॥८६॥

सम्यक्त्व ध्यान करता यदि है सुचारा,
भाई सुनो वह रहा समदृष्टि वाला ।
सम्यक्त्व से सहित जो लसता सुहाता,
दुष्टाष्ट कर्म दल को वह ही मिटाता ॥८७॥

जो भी हुए विगत में शिव सिद्ध प्यारे,
होंगे भविष्य भव में कटि बद्ध सारे ।
ज्यादा कहाँ तक कहूं महिमा निराली,
सम्यक्त्व ही वह रही, सुखदा शिवाली ॥८८॥

हे धन्य शूर नर श्रेष्ठ कृतार्थ सारे,
वे ही प्रकाण्ड बुध पंडित पूज्य प्यारे ।
जो स्वप्न में तक कलंकित न किया है,
सम्यक्त्व को विमल धारण ही किया है ॥८९॥

निर्ग्रन्थ मोक्षपथ हो गुरु ग्रन्थ त्यागी,
वे देव अष्ट दश दोष बिना विरागी ।
हिंसा बिना धरम हो सबको सुहाता,
श्रद्धान होय इनमें "दृग" नाम पाता ॥९०॥

जो सर्व संग बिन संयत हो रहा हो,
है जात रूप शिशु सा मुनि हो रहा हो ।
सग्रन्थ लिङ्ग मुनि का नहिं ध्यान देना,
सम्यक्त्व प्राप्त करना पहचान लेना ॥९१॥

जो देव शास्त्र गुरु कुत्सित शील वाले,
हिंसादि में निरत निर्दय शील वाले,
मिथ्यात्व मंडित इन्हें नमते विचारे,
लज्जाभिभूत भय गारव भाव धारे ॥९२॥

भोगार्थ-राज भय से बन साधु मोहीं,
है पूजता यदि कुदेव कुसाधु को ही ।
मिथ्यात्व धारक सुनिश्चित ही रहा है,
सम्यक्त्व का न वह धारक ही रहा है ॥९३॥

निर्दिष्ट धर्म जिनसे सुख पूर्ण प्याला,
सो धर्म श्रावक करे समदृष्टि वाला ।
मिथ्यात्व धारक रहा वह भूल जाता,
सदधर्म से सतत जो प्रतिकूल जाता ॥९४॥

मिथ्यात्व धारक यहाँ सुख को न पाता,
भाई अनेक कटु दुस्सह दुःख पाता ।
है बार-बार मृति जन्म जरा गहाता,
संसार में सुचिर जीवन है बिताता ॥९५॥

मिथ्यात्व कौन समदर्शन कौन जानो,
क्या दोष क्या गुण रहें इनके पिछानो ।
धारो उसे अब तुम्हें रुचता सुहाता,
क्या लाभ है अधिक वाचन है न साता ॥९६॥

लो बाह्य संग तज नग्न भले बने हैं,
मिथ्यात्व रूप मल में फिर भी सने हैं ।
क्या लाभ हो तप तपे स्थित मौन से क्या ?
जाने न साम्य निज का निज गौण से क्या ? ॥९७॥

है दोष मूल गुण में मुनि हो लगाता,
पै बाह्य उत्तर गुणादिक को निभाता ।
पाता न सिद्धि सुख को बिन संग का है,
होता विराधक निरा जिन लिंग का है ॥९८॥

मासोपवास करले कर क्या करेगा,
आतापनादि तप ले तप क्या करेगा ।
तू बाह्य कर्म कर केवल क्या करेगा,
जाता विलोम निज से सुख क्या मिलेगा ? ॥९९॥

पालो अनेक विधि चारित को बढ़ाओ,
भाई भले सकल शास्त्र पढ़ो, पढ़ाओ ।
वे सर्व बाल श्रुत चारित ही कहाते,
शुद्धात्म से यदि अरे विपरीत जाते ॥१००॥

साधू सदा विमुख अन्य पदार्थ से है,
वैराग्य लीन निज लीन यथार्थ से है ।
आत्मीय शुद्ध सुख में अनुरक्त होते,
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते ॥१०१॥

मूलोत्तरादि गुण से तन को सजाया,
स्वाध्याय ध्यान भर में मन को लगाया ।
आदेय हेय जिनको सब ज्ञान होते,
साधु गहे स्वपद वे जिन आप्त होते ॥१०२॥

आत्मा निजी नमन योग्य नमस्कृतो मे
आत्मा निजी परम स्तुत्य सुसंस्तुता से ।
ध्यातव्य भी बस वही सब ध्यानियों से
देहस्थ को निरख लो तुम ज्ञानियो से ॥१०३॥

अर्हन्त सिद्ध शिव थे परमेष्ठि प्यारे
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
ये आत्म से निरख लो दिखते सुचारा
आत्मा अत शरण हो मम हो सहारा ॥१०४॥

सम्यक्त्व ज्ञान तप चारित सत्य प्यारे
चारों निजात्म गुण है गुरु यो पुकारे ।
रखूँ इन्हे स्वयम मे दिखते सुचारा
आत्मा अत शरण हो मम् हो सहारा ॥१०५॥

यो मोक्ष के प्रथम पाहुड को बताया
धर्मोपदेश जिन ने हमको सुनाया
जो भी पढ़ सुन इसे अविराम भावे
श्रद्धा समेत स्थिर शाश्वत धाम पावे ॥१०६॥

दोहा

रत्नत्रय से द्विविध है निश्चय और व्यवहार ।
प्रथम साध्य साधक द्वितिय रत्नत्रय उर धार ॥१॥

नग्न दिगम्बर बिन बने रत्नत्रय नहि होय ।
रत्नत्रय के बिन कभी निज सुख मोक्ष न होय ॥२॥

लिंग पाहुड

मैं वन्दना कर उन्हें, परमेष्ठियों को,
सिद्धों तथा जिनवरों जिन आर्हतों को ।
सत प्राभृती श्रमण लिंग सुर्खी बनाता,
संक्षेप से तुम सुनो तुमको सुनाता ॥१॥

सद्धर्म से सहित हो वह लिंग सारा,
पावे न धर्म-धन, केवल-लिंग द्वारा ।
तू जान भावमय धर्म अरे ! रुची से,
है मात्र लिंग वह व्यर्थ रहा इसी से ॥२॥

निर्ग्रन्थ लिंग जिसने मुनि हो सुधारा,
पै पाप पंक मल से मन को बिगारा ।
वो "भार लिंग" जिसकी करता हँसी है,
सो अन्य साधु-मुख में लगती मषी है ॥३॥

निर्ग्रन्थ रूप धर वाद्य मनो बजाता,
है नित्य नृत्य करता रति गीत गाता,
है पाप पंक मल से मन पे लिपाता,
होता नहीं श्रमण वो पशु ही कहाता ॥४॥

जो संग के ग्रहण रक्षण में लगे हैं,
है आर्त्त ध्यान करते मुनि हो डिगे हैं ।
है पाप पंक मल से मन को लिपाते,
होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥५॥

खेले जुवा कलह वाद वृथा करें हैं,
मानी प्रमत्त बन के मद से भरे हैं ।
निर्ग्रन्थ बाह्य मुनि यद्यपि हैं तथापि,
पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥६॥

निर्ग्रन्थ हो सहित मैथुन कार्य से हैं,
पापी बने उदय पूर्ण अनार्य से हैं
है पाप रूप मल से मन ओ लिपाते,
संसार के विपिन में भ्रम दु:ख पाते ॥७॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत ये शिव हेतु प्यारे,
मोही बने मुनि परंतु इन्हें न धारें ।
हैं आर्त्त ध्यान भर में मन को लगाते,
संसार को अमित और अत: बनाते ॥८॥

मोही, विवाह अविवाहित का कराते,
वाणिज्य जीव बध औ कृषि भी कराते ।
निर्ग्रन्थ नग्न मुनि यद्यपि है तथापि,
पाताल में उतरते कर पाप पापी ॥९॥

चोरों नृपों यदि परस्पर में लड़ाता,
है पाप कार्य करता पर से कराता ।
तासादि खेल मुनि होकर खेलता है,
सो आत्म को नरक में ही ढकेलता है ॥१०॥

सम्यक्त्व ज्ञान चरणों व्रत पालनों में,
आवश्यकों नियम संयम सत् तपों में ।
निर्ग्रन्थ हो यदि मनो दुख मानता है,
जाता अत: नरक सो अनजानता है ॥११॥

हो लोलुपी सरस भोजन का बना है,
कामादि पाप भर में फलत: सना है ।
होता नहीं श्रवण वो व्यभिचारकर्त्ता,
मायाभिभूत पशु है मद मार धर्त्ता ॥१२॥

लो भोजनार्थ सहसा बस भाग जाते,
साधर्मि से कलह भी कर भात खाते ।
विद्वेषपूर्ण रखते मुनि सन्त से हैं,
वे दूर ही श्रमण हो शिव पंथ से हैं ॥१३॥

निन्दा परोक्ष परकी करता बनाता,
दोषी, प्रदत्त बिन दान स्वयं गहाता ।
निर्ग्रन्थ लिंग जिसने बस बाह्य धारा,
सो चोर सा श्रमण है नहिं साम्य धारा ॥१४॥

हैं खोदते अवनि को चलते दिखाते,
हैं दौड़ते उछलते गिर भाग जाते ।
ईर्यामयी समिति धारक, ना कहाते,
होते नहीं श्रमण वे पशु ही कहाते ॥१५॥

हिंसादि जन्य विधि बंध, नहीं गिनाता,
खोदे धरा तरुलता दल को गिराता ।
है छेदता श्रमण हो तरु के गणों को,
हो, साम्य हीन, धरता पशु के गुणों को ॥१६॥

दोषावरोप करता मुनि सज्जनों में,
आसक्त रात दिन है महिला जनों में ।
सम्यक्त्व ज्ञान गुण से अति दूर होता,
होता नहीं श्रमण वो पशु मूढ़ होता ॥१७॥

है धारते परम स्नेह असंयतों में,
किंवा विमुग्ध निज शिष्य सुसंयतों में ।
आचार से विनय से च्युत हो रहे हैं,
होते नहीं श्रमण वे पशु तो रहे हैं ॥१८॥

पूर्वोक्त दुर्गुण लिए मुनि सयतो मे,
सत् सघ मे रह रहा गुणधारियो मे ।
होता विशारद जिनागम मे तथापि,
होता नही श्रमण भावविहीन पापी ॥१९॥

विश्वास नारिजन मे रखता, दिलाता,
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत भी उनका सिखाता ।
पार्श्वस्थ से अधिक निद्य रहा तथापि,
होता नही श्रमण वद्य रहा कुपापी ॥२०॥

आहार लेत व्यभिचारिणि के यहाँ है,
प्रशसा करे स्तुति करे उसकी अहा है ।
वे बाल अज्ञ निज भाव विहीन पापी,
होते नही श्रमण, लिग धरे तथापि ॥२१॥

यो लिग प्राभृत रहा मुनिलिग प्यारा,
सर्वज्ञ ने यह कहा हमको सुचारा ।
जो भी इसे यतन से यदि पाल पाता,
औचित्य ! स्वीय परमोत्तम धाम जाता ॥२२॥

- दोहा

नग्न मात्र बाहर बना, भीतर भरी कषाय,
शिव सुख पाता वह नही, बसता नही अकाय ॥१॥

बाहर-भीतर एकसा, यथा जात जिन लिग ।
दर्पण सम शुचि यदि बना, वह नर बने अलिग ॥२॥

शील पाहुड़

उत्फुल्ल लाल पद पद्म भले निराले,
हैं वीर के विमल नेत्र विशाल प्यारे ।
मैं वन्दना कर उन्हें त्रय योग द्वारा,
हूँ शील प्राभृत सुनो कहता सुचारा ॥१॥

ये ज्ञान शील नहिं आपस में विरोधी,
ऐसा कहे जिन सुधारक पूर्ण बोधि ।
जो शील से रहित जीवन है बिताते,
जो ज्ञान को विषय सेवन से मिटाते ॥२॥

श्रद्धा समेत निज पावन ज्ञान पाना,
सदभावना स्वयम् की अविराम भाना ।
पंचाक्ष के विषय से मन को छुड़ाना,
दुर्लभ्यपूर्ण क्रमशः सब ये सुजाना ॥३॥

हा ! वासना विषय की जब लौं रखेगा,
विज्ञान को न नर वो तब लौं लखेगा ।
पंचाक्ष के विषय में यदि लीन होता,
ना पूर्व बद्ध विधि को मति हीन होता ॥४॥

जो मूढ़, ज्ञान बिन चारित ढो रहा हैं,
निर्ग्रन्थ साधु, दृग के बिन हो रहा है ।
आतापनादितप संयम ना निभाना,
सो सर्व ही तप निरर्थक ही कहाता ॥५॥

सम्यक्त्व शुद्ध धर शोभित हो रहा है,
विज्ञान संग दृढ़ चारित ढो रहा है ।
निर्ग्रन्थ संयम समेत, तपे, सहाता,
हो अल्प भी तप महाफल है दिलाता ॥६॥

कोई सुजान कर ज्ञानन को तथापि,
संभोग लीन नर है मतिमन्द पापी ।
हैं झूलते विषय में अति फूलते हैं,
वे मूढ़ चार गति में चिर घूमते हैं ॥७॥

विज्ञान जान निज भाव समेत सारे,
योगी विरक्त विषयादिक को विसारे ।
मूलोत्तरादि गुण ले तपते सुहाते,
शंका न चार गति तोड़ स्वाधाम जाते ॥८॥

जैसा सुहाग-लवणोदक लेप द्वारा,
होता विशुद्धतम भासुर स्वर्ण प्यारा ।
वैसा हि ज्ञान जल से यह आतमा है,
होता विशुद्धतम है परमातमा है ॥९॥

ज्ञानी भला बन गया मद धारता है,
वो मूढ़ कापुरुष हा न विचारता है ।
देखो अतः विषय में रम मान होता,
दोषी वही, न उसका वह ज्ञान होता ॥१०॥

सम्यक्त्व दर्शन लिए तपते तपस्वी,
विज्ञान आचरण में रमते यशस्वी ।
चारित्र-शुद्ध बनता उनका स्वतः है,
निर्वाण लाभ मिलता उनको अतः है ॥११॥

पा शुद्ध दर्शन सुरक्षित शील वाले,
चारित्र को सुदृढ़ से, नहिं ढील पाले ।
भोगादि से बहुत दूर विरक्त होते,
निर्वाण पा नियम से भव मुक्त होते ॥१२॥

रागी गृही तदपि वो पथ पा सकेगा,
सम्यक्त्व-प्राप्त जिसको शिव जा सकेगा ।
उन्मार्ग का पथिक ना सुख इष्ट पाता,
निस्सार ज्ञान उसका अति कष्ट पाता ॥१३॥

सद्ज्ञान शीलव्रत को यदि न निभाता,
दुस्शास्त्र का कुमत का यदि गीत गाता ।
होगा अनेक विध आगम ज्ञान वाला,
आराधना-रहित दूषित ज्ञान शाला ॥१४॥

शोभे युवा सुभग भासुर देह धारी,
सत्-शील से रहित है यदि है विकारी ।
है गर्व रूप-धन का करता तथापि,
निस्सार व्यर्थ उसका वह जन्म पापी ॥१५॥

वैशेषिकादि व्यवहार सुमानता है,
औ न्याय के विषद शास्त्र सुजानता है ।
होता विशारद जिनागम मे तथापि,
सत्शील उत्तम रहा सबमे अपापी ! ॥१६॥

जो भव्य शील गुण मण्डितनाथ होते,
है पूजते सुर उन्हे नत माथ होते ।
वे प्रेम पात्र तक भी श्रुत पारगामी,
होते नही जगत में गत-शील, कामी ॥१७॥

हो वृद्ध हो स्वतन से कुबड़े भले हों,
हो जाँत पाँत कुलहीन निरे गले हो ।
सत्शील-गीत जिनका मन गा रहा है,
मानुष्य जीवित अभी उनका रहा है ॥१८॥

अस्तेय सत्य, दम, जीवदया, सुप्यारी,
औ ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह दुःख हारी ।
सम्यक्त्व, ज्ञान, तप भव्य सुनो सयाने,
हैं शील के सकल ये परिवार माने ॥१९॥

है शील ही विमल सत् पथ ही सही है,
है ज्ञान शुद्ध शुचि दर्शन भी वही है ।
पंचाक्ष के विषय का रिपुशील ही है,
सोपान, मोक्ष घर का, सुख झील भी है ॥२०॥

सर्पादिकों विषधरों त्रस स्थावरों को-
भी मारते विषय, ये विष ना सबो को ।
हैं वस्तुतः विषय दारुण दुःख हाला,
है छोड़ता विबुध ही इसको निहाला ॥२१॥

जो एक बार विष सेवन हा ! करेगा,
तो एक बार वह जीवन में मरेगा ।
धिक्कार है विषय सेवन जो करेगा,
सो बार-बार भव कानन में मरेगा ॥२२॥

पंचाक्ष के विषय मे मन जो लगाना,
हो नारकी नरक में अति दुःख पाना ।
तिर्यञ्च हो मनुज हो दुःख ही उठाना,
हो हीन देव दिवि मे अपमान पाना ॥२३॥

जैसा कि शुष्क तृण को यदि हो उठाना,
हे ! भव्य ! द्रव्य तब क्या पड़ता लगाना ?
त्यों विज्ञ, शील तप से मन पूर्ण जोड़े,
हाला लखे विषय को खल भाँति छोड़े ॥२४॥

लो अर्ध गोल समगोल सुडोल प्यारे,
ज्यों अंग देह भर में लसते निराले ।
हो प्राप्त ईदृश' सुदेह, तथापि भाई,
शोभे तभी कि जब शील धरे सुहाई ॥२५॥

दु:शास्त्र को पढ़ कुधी कुमतानुगामी
पंचाक्ष के विषय में रत मूढ़ कामी ।
संसार में भटकते परको भ्रमाते,
जैसे कि नित्य भ्रमते घटि यंत्र भाते ॥२६॥

रागी हुए विषय के विषयी बने थे,
बाँधे कुकर्म दल को पर में सने थे,
काटे कृतार्थ मुनि ये उनको गुणों से ।
शीलों सुसंयम तपों मुनि के व्रतों से ॥२७॥

पूरा भरा रतन से जलधी तथापि,
ज्यों शोभता सलिल से सुन मूढ़ पापी ।
दानादि रत्न विनयादि तपादि ढोता,
पै शील से विलसता मुनि मुक्ति जोता ॥२८॥

गो श्वान गर्दभ तथा पशु आदिकों को,
होता विमोक्ष नहिं है महिला जनों को ।
देखो जरा तुम सुनो ! अयिभव्य श्रोता,
धारें करें पुरुष ही पुरुषार्थ चौथा ॥२९॥

ज्ञानी बना विषय लोलुप पूर्ण पापी,
मानो ! विमोक्ष मिलता उसको तथापि ।
क्यों ? वो भला नरक सात्यकि पुत्र जाता,
तू ही बता जबकि था दस पूर्व ज्ञाता ॥३०॥

आत्मा सुशील बिन, केवल ज्ञान द्वारा,
होता विशुद्ध, यदि यों बुधने पुकारा ।
तो क्यों नहीं विमल शुद्ध हुआ प्रमाता,
वो रुद्र भी यदपि था दश पूर्व ज्ञाता ॥३१॥

जो नारकीय दुख वेदन झेलते हैं,
आसक्त हो विषय में नहिं झूलते हैं ।
आ, श्वभ्र से पद गहें अरहन्त का है,
है वर्धमान मत यों मत सन्त का है ॥३२॥

हो शील, मोक्ष पद की मिलती सुधा है,
भाई, अतीन्द्रिय अनश्वर सम्पदा है ।
प्रत्यक्ष ज्ञान दृग पा जिन यों बताया,
सर्वज्ञ हो विविध बोध हमें सुनाया ॥३३॥

सम्यक्त्व वीर्य तप चारित ज्ञान प्यारे,
आचार पंच निज आतम के पुकारे ।
ये पूर्व बद्ध विधि को क्षण में जलाते,
ज्यों वायु औ अनल कानन को जलाते ॥३४॥

हो दूर भी विषय से मुनि दक्ष सारे,
ध्यानाग्नि से विधि जला मन-अक्ष-मारे ।
सत् शील से विनय से तप से लसे हैं,
वे सिद्ध सिद्धगति में बस जा बसे हैं ॥३५॥

लावण्य पूर्ण तन मन शील वाला,
है शोभता श्रमण जीवन वृक्ष प्यारा ।
सो शील मंडित, शुभाश्रय हो इसी का,
फैले वितान गुण का जग में उसी का ॥३६॥

सद्ध्यान दर्शन तथा शुचि ज्ञान प्यारा,
औ वीर्य के बिन नहीं यह योग सारा।
सम्यक्त्व दर्शन बिना नहिं बोधि होता,
है जैन शासन यही सुन भव्य श्रोता ॥३७॥

साराभिभूत, जिनके, मत को गहे हैं,
भोगादि भी तज तपोधन भी हुए हैं।
है शील के सलिल से मन को धुलाते,
वे मोक्ष धाम सुख को अनिवार्य पाते ॥३८॥

मूलोत्तरादि गुण से विधि को घटाया,
पा साम्य दुःख सुख में मन को धुलाया।
लो चार घाति रज को फलतः उड़ाया,
आराधना, बन जिनेन्द्र हमें, दिखाया ॥३९॥

निर्ग्रन्थ रूप शुचि दर्शन युक्त होना,
सम्यक्त्व है जिनप में, शुभ भक्ति होना।
सो शील है विषय के प्रति राग ना हो,
वो "ज्ञान" कौन कब है इनके बिना हो ? ॥४०॥

- दोहा -

मणियों में वर नील ज्यों, मुनिगण गण में शील।
शील बिना ना शिव धरो, शील करो मत ढील ॥१॥

शील बिना ना ज्ञान हो, ज्ञान बिना ना शील।
ज्ञान निहित है शील में, निहित ज्ञान में शील ॥२॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़े धीमान् ॥१॥

गुरु-स्तुति

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो, कर से दो आशीष ॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमैं, हृदय-कुन्द खिल जाय।
परम सुगंधित महक में, जीवन मम घुल जाय ॥३॥

समय-समय पर समय में, सविनय समता धार।
सकल संग संबंध तज, रम जा, सुख पा सार ॥४॥

भव, भव भववन भ्रमित हो, भ्रमता-भ्रमता काल।
बीता अनन्त वीर्य, बिन, बिनसुख बिन वृषसार ॥५॥

पर पद, निज पद जान, तज पर पद, भज निजकाम।
परम पदारथ फल मिले, पल-पल जप निज नाम ॥६॥

मोक्ष-मार्ग पर तुम चलो, दुख मिट, सुख मिल जाय।
परम सुगंधित ज्ञान की, मृदुल कली खिल जाय ॥७॥

तन मिला तुम तप करो, करो कर्म का नाश
रवि शशि से भी अधिक है, तुम में दिव्य प्रकाश ॥८॥

विषय-विषम विष है सुनो ! विष सेवन से मौत
विषय कषाय विसार दो, स्वानुभूति सुख स्रोत ॥९॥

स्थान एवं समय-परिचय

नमन मनोरम क्षेत्र है, नैनागिरि अभिराम।
जहाँ विचरते सुर सदा, ऋषि मन लें विश्राम ॥१॥

वर्ण गगन गति गंध का, दीपमालिका योग।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, ध्येय मिटे भव रोग ॥२॥

नियमसार

नियमसार

मूल नियमसार (प्राकृत)

रचनाकार आचार्य कुदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

नियमसार

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुरनर पशु गति सब मिटे गति पंचमगति होय॥१॥

कुन्द कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय॥२॥

तरणि ज्ञान सागर गुरो तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो करसे दो आशीष॥३॥

चन्दन, चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अतिशीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन करनीत॥४॥

नियमसार, का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन यह रहा मोह मिटे परमाद॥५॥

वसंततिलका-छन्द

सच्चे अनन्त दृग ज्ञान स्वभाव धाता,
वे वीर है जिन जिन्हे शिर मै नवाता ।
भाई तुम्हे नियम सार सुनो सुनाता,
जो केवली व श्रुतकेवलि ने कहा था ॥१॥

वैराग्य से विमल केवल बोध पाया,
सन्मार्ग मार्ग फल को जिनने बताया ।
सन्मार्ग तो परम मोक्ष-उपाय प्यारा,
निर्वाण ही फल रहा जिसका निराला ॥२॥

जो भी रहा नियम से करतव्य सत्ता,
सोही रहा नियम दर्शन ज्ञान वृत्ता
मिथ्यात्व आदि विपरीतन को मिटाने,
सयुक्त ' सार'' पद है सुन तू सयाने ॥३॥

है मोक्ष का नियम सत्य उपाय साता,
निर्वाण ही फल रहा इसका सुहाता
प्रत्येक का यह जिनागम गीत गाता,
ज्ञानादि रत्न त्रय रूप हमे दिखाता ॥४॥

लो ! आप्त-आगम-सुतत्त्वन मे जमाना,
श्रद्धा, नितान्त समदर्शन लाभ पाना ।
हो दोष-रोष मल से अति दूर सारे,
निर्दोष, कोष-गुण के वह आप्त प्यारे ॥५॥

ये स्वेद खेद मद मृत्यु विमोह खारे,
उद्वेग नीद भय विस्मय जन्म सारे ।
औ रोग रोष रति राग जरा क्षुधा रे,
चिन्ता तृषादिक सदोष जिनेश टारे ॥६॥

निश्शेष दोष बिन शोभित हो रहे हैं ।
कैवल्यज्ञान दृग वैभव ढो रहे है ॥
सिद्धान्त में परम आतम वे कहाते ।
दोषी कदापि परमात्मपना न पाते ॥७॥

पूर्वापरा सकल दोष विहीन प्यारा,
जो पूज्य आप्त मुख से निकला निहाला ।
सोही जिनागम रहा गुरुदेव गाते,
तत्त्वार्थ वे कथित आगम में सुहाते ॥८॥

नाना निजीय गुण पर्यय-माल धार,
थे जीव पुद्गल-ख धर्म अधर्म काल ।
जो शोभिते जगत में स्वयमेव सारे,
''तत्त्वार्थ वे कहत हैं जिनदेव प्यारे ॥९॥

है जीव लक्षण रहा उपयोग भाता,
है ज्ञान दर्शनमयी द्विविधा कहाता ।
''ज्ञानोपयोग'' वह भी द्विविधा निराला,
भाई स्वभावमय और विभाव शाला ॥१०॥

होता अतीन्द्रिय स्वभावज ज्ञान प्यारा,
जो नित्य ''केवल'' न ले पर का सहारा ।
सत् ज्ञान औ वितथ ज्ञान विभाव बाना,
दोनों मिटें मिलत कैवल का ठिकाना ॥११॥

सत् ज्ञान भी मति श्रुतावधि तीन, चौथा,
सिद्धान्त मान्य मन पर्यय ज्ञान होता ।
अज्ञान भी त्रिविध है जिन हैं बताते,
जो मत्यज्ञान कुश्रुतावधि ना सुहाते ॥१२॥

हे मित्र ! दर्शनमयी उपयोग होता,
द्वेधा, स्वभावपन और विभाव होता ।
होता अतीन्द्रिय स्वभावज एक प्यारा,
कैवल्य दर्शन न लें परका सहारा ॥१३॥

होता विभावमय दर्शन भी त्रिधा है,
चक्षू अचक्षु अवधी सुन तू मुधा है ।
पर्याय दो रहित कर्म उपाधि से हैं,
वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से हैं ॥१४॥

तिर्यञ्च नारक नरामररूप सारी,
पर्याय ये बस विभावमयी हमारी ।
पर्याय जो रहित कर्म उपाधि से हैं,
वे हैं स्वभावमय, युक्त सुखादि से है ॥१५॥

ये कर्म-भोग मय भूमिज भेद से है
होते मनुष्य द्विविधा युत खेद से हैं
हैं सप्त ही नरक की मिलती मही है
तो सप्तधा, समझ नारक भी वहीं हैं ॥१६॥

होते चतुर्दश विधा पशु नित्य रोते,
भाई चतुर्विध सुरा सुर सर्व होते ।
विस्तार चूँकि इनका यदि जानना है
तो "लोक भाग" जिन आगम बांचना है ॥१७॥

भोक्ता निजातम रहा चिरकाल से है,
कर्ता कुकर्म-जड़ का व्यवहार से है ।
भाई अशुद्धनय से भवराह राही,
रागादि को करत भोगत आतमा ही ॥१८॥

है द्रव्य दृष्टिवश आतम भिन्न न्यारा,
पूर्वोक्त भाव-दल का नहिं ले सहारा ।
पर्याय दृष्टिवश तो स्वपरावलम्बी,
किंवा नितान्त निरपेक्ष निजावलम्बी ॥१९॥

दो भेद "स्कंध" 'अणु' पुद्गल के पिछानो,
हैं स्कंध भेद छह दो अणु के सु जानो ।
है कार्य रूप अणु कारण रूप दूजा,
पै चर्म चक्षु अणु की करती न पूजा ॥२०॥

है स्थूल-स्थूल फिर स्थूल व स्थूल-सूक्ष्म,
औ सूक्ष्म-स्थूल पुनि सूक्ष्म सुसूक्ष्म-सूक्ष्म ।
भू नीर आतप हवा विधि-वर्गणाये,
ये हैं उदाहरण स्कन्धन के गिनाये ॥२१॥

भू-शैल-काष्ट तन आदिक जो दिखाते,
ये स्थूल-स्थूलमय स्कन्ध सभी कहाते ।
घी दूध तेज जल पुद्गल की दशाये,
ये हैं उदाहरण स्थूलन के सुनाये ॥२२॥

उद्योत छाँव रवि आतप आदि सारे,
ये स्थूल-सूक्ष्म मय स्कधन के पिटारे ।
नासादि के विषय जो बिन रूप प्यारे,
है सूक्ष्म-स्थूलमय स्कन्ध गये पुकारे ॥२३॥

जो भी बने, बन सके विधिवर्गणाएँ,
वे सूक्ष्म स्कन्ध सब हैं गुरु देव गाये ।
जो शेष स्कन्ध इनसे विपरीत सारे,
वे सूक्ष्म-सूक्ष्म इस सार्थक नाम धारे ॥२४॥

भू आदि धातु इनका जब हेतु होता,
सो भिन्न कारणमयी परमाणु होता ।
पै कार्य रूप परमाणु रहा वही है,
जो स्कन्ध के क्षरण से उगता सही है ॥२५॥

जो द्रव्य होकर न इन्द्रिय गम्य होता,
आद्यन्त मध्य खुद ही त्रय रूप होता ।
हो खण्ड खण्ड न कभी अविभाज्य भाता,
ऐसा कहें जिन यही परमाणु गाथा ॥२६॥

दो स्पर्श एक रस गन्ध सवर्ण होता,
धारी स्वभाव गुण का परमाणु होता ।
स्पर्शादि नैक गुण का जग स्पष्ट होता,
धारी विभाव गुण का अणु स्कन्ध होता ॥२७॥

पर्याय एक रखती पर की अपेक्षा,
स्वापेक्ष एक रहती परकी उपेक्षा ।
स्कन्धात्मिका परिणती जु विभावशाली,
द्रव्यात्मिका परिणती स्व स्वभाव वाली ॥२८॥

है "द्रव्य" निश्चय तथा परमाणु भाता,
पै स्कन्ध द्रव्य व्यवहार तथा कहाता ।
सो स्कन्ध नैक अणु से बनता इसी से,
है द्रव्य रूप व्यपदेश धरे सदा से ॥२९॥

जीवादि द्रव्य भरके अवकाश दाता,
आकाश-द्रव्य वह सार्थक नाम पाता ।
औ जीव पुद्गल की स्थिति वा गती में,
होते अधर्म परिधर्म निमित्त ही में ॥३०॥

होता द्विधा समय आवलि हार द्वारा,
है काल, या त्रिविध है व्यवहार वाला ।
संख्यात आवलि व सिद्ध प्रमाण वाला,
है भूतकाल सुन सांप्रत भाविवाला ।।३१।।

लो जीव से व जड़ से वह काल भावी,
होता अनन्त गुण सांप्रत काल भाई ।
त्रैलोक्य के प्रति प्रदेशन पे सुहाते,
एकैक काल अणु "निश्चय" वीर गाते ।।३२।।

रे काल का वह अनुग्रह तो रहे हैं,
जीवादि द्रव्य परिवर्तित हो रहे हैं ।
जो जीव पुद्गल बिना अवशेष सारे,
धारे स्वभावमय पर्यय द्रव्य प्यारे ।।३३।।

जीवादि द्रव्य दल जो बिन काल सारा,
हैं अस्तिकाय इस सार्थक नाम वाला ।
है काय का सरल अर्थ बहु प्रदेशी,
है जैन शासन कहें सुन तू हितैषी ।।३४।।

होता मितामित अनन्त प्रदेश वाला,
सो मूर्त पुद्गल इसी व्यपदेश वाला ।
आत्मा अधर्म फिर धर्म असंख्य देशी,
विश्वास धार इन में दृढ़ तू हितैषी ।।३५।।

होता उसी तरह लोक असंख्य देशी,
हो सर्व में गुरु अलोक अनन्त देशी ।
पै काल कायपन को धरता नहीं है,
वो एक देश धरता अणु सा सही है ।।३६।।

ये पाँच द्रव्य नभ धर्म अधर्म काल,
औ जीव शाश्वत अमूर्तिक है निहाल ।
है मूर्त पुद्गल सदा सुन भव्य प्यारे,
है जीव चेतन, अचेतन शेष सारे ॥३७॥

कर्मादि के उदय या क्षय से मिले हैं,
पर्याय और गुण वे मुझसे निरे हैं ।
प्राप्तव्य ध्येय निज आतम मात्र प्यारा,
जीवादि बाह्य सब हेय अपात्र न्यारा ॥३८॥

ये हर्षभाव नय निश्चय से नहीं हैं,
जीवात्म में नहिं विषाद अहर्ष ही है ।
मानापमान मय भाव विभाव से हैं,
हैं दूर जीव निज स्थान स्वभाव से हैं ॥३९॥

ना जीव में वह रहा स्थिति बन्ध स्थाना,
ना जीव में यह रहा अनुभाग स्थाना ।
लो बन्ध ही जब कि निश्चय में नहीं है,
तो जीव में उदय स्थान कहाँ ? नहीं है ॥४०॥

ना हो क्षयोपशम भाव स्वभाव स्थाना,
होते न औपशमिकादि स्वभाव स्थाना ।
होते न औदयिक क्षायिक भाव स्थाना,
ये जीव के सुन सुनिश्चय से न बाना ॥४१॥

संसार संक्रमण ना कुल योनियाँ हैं,
ना रोग शोक गति जाति विजातियाँ हैं ।
ना मार्गणा न गुणथानन की दशायें,
शुद्धात्म में जनन मृत्यु जरा न पायें ॥४२॥

आत्मा मदीय गत दोष अयोग योग,
निश्चिंत है निडर है निखिलोपयोग ।
निर्मोह एक नित है सब संग त्यागी,
है देह रहित निर्मम वीतरागी ॥४३॥

संतोष कोष गत शेष अदोष ज्ञानी,
नि:शल्य शाश्वत दिगम्बर हैं अमानी ।
नीराग निर्मद नितान्त प्रशान्त नामी,
आत्मा मदीय नय निश्चय से अकामी ॥४४॥

संस्थान संहनन ना कुछ ना कलाई,
ना वर्ण स्पर्श रस गंध विकार भाई ।
ना तीन वेद नहिं भेद अभेद भाता,
शुद्धात्म में कुछ विशेष नहीं दिखाता ॥४५॥

आत्मा सचेतन अरूप अगंध प्यारा,
अव्यक्त है अरस और अशब्द न्यारा ।
आता नहीं पकड़ में अनुमान द्वारा,
संस्थान से रहित है सुख का पिटारा ॥४६॥

वे मुक्त हैं जनन मृत्यु तथा जरा से,
सामान्य आठ गुण से लसते सदा से ।
जैसे विशुद्ध सब सिद्ध प्रशान्त प्यारे,
वैसे विशुद्ध नय से भवधारि सारे ॥४७॥

शुद्धात्म सिद्ध अविनश्वर है विदेही,
लोकाग्र पे स्थित अतीन्द्रिय ज्ञान देही ।
ये सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे,
न देख शुद्धनय से मद को हटा रे ॥४८॥

पर्याय ये विकृतियाँ व्यवहार से हैं,
जो भी यहाँ दिख रहे जग में तुझे हैं ।
पै सिद्ध के सदृश हैं जग जीव सारे,
तू देख शुद्ध नय से मद को हटा रे ! ॥४९॥

लो ! पूर्व में कथितभाव विभाव सारे,
है हेय द्रव्य परकीय स्वभाव टारे ।
आत्मीय द्रव्य वह अन्तर तत्व प्यारा,
आदेय है शुचि निरंतर साधु-शाला ॥५०॥

श्रद्धान हो वितथ आशय हीन प्यारा,
सम्यक्त्व है वह जिनागम में पुकारा ।
संमोह विभ्रम ससंशय हीन सारा,
सज्ज्ञान है सुखसुधारस पूर्ण प्याला ॥५१॥

श्रद्धान जो चलमलादि अगाढता से,
हो शून्य, दर्शन धरो अविलम्बता से ।
आदेय हेय वह क्या ? यह बोध होना
सज्ज्ञान है उर धरो बनलो सलोना ॥५२॥

सम्यक्त्व का वह जिनागम मात्र साता,
होता निमित्त, अथवा जिन शास्त्र ज्ञाता ।
पै अंतरंग वह हेतु सुनो सदा ही,
होना क्षयादिक कुदर्शनमोह का ही ॥५३॥

सम्यक्त्व ज्ञान भर से शिव पंथ होता
ऐसा नहीं चरित भी अनिवार्य होता ।
होना सुनिश्चयमयी व्यवहारवाला,
चारित्र भी द्विविध है सुन लो सुचारा ॥५४॥

होते सुनिश्चय नयाश्रित वे अनूप,
चारित्र और तप निश्चय सौख्य कूप ।
पै व्यावहार नय आश्रित ना स्वरूप,
चारित्र और तप वे व्यवहार रूप ॥५५॥

जो जीव स्थान कुल मार्गण-योनियों में,
पा जीव बोध, करुणा रखता सबों में ।
आरम्भत्याग उनकी करता न हिंसा,
वो साधु-भाव व्रत आदिम है अहिंसा ॥५६॥

संमोह रोष रति से नहिं बोलता है,
भाषा असत्य मन से बस छोड़ता है ।
होता द्वितीय व्रत सत्य महा उसी का,
साधू वही स्तवन मैं करता उसी का ॥५७॥

लो ! ग्राम में नगर में वन में विहार,
साधू करें पर न ले पर द्रव्य भार ।
वे स्तेय भाव तक भी मन में न लाते,
अस्तेय है व्रत यही जिन यों बताते ॥५८॥

स्त्री रूप देखकर भी मन में न लाता,
संभोग भाव उनसे मन को हटाता ।
है ब्रह्मचर्य व्रत, मैथुन भाव रीता
किंवा रहा कि जिससे मुनिलिंग जीता ॥५९॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग होता,
भोगाभिलाष बिन चारित सार जोता ॥
है पाँचवां वृत परिग्रह त्याग पाता,
पाता स्वकीय सुख तू दुख क्यों उठाता ॥६०॥

हो मार्ग प्रासुक, न जीव विराधना हो,
जो चार हाथ पथ पूर्ण निहारना हो ।
ले स्वीय कार्य कुछ, पै दिन में चलोगे,
ईर्यामयी समिति को तब पा सकोगे ॥६१॥

साधू करे न परनिंदन आत्म शंसा,
बोले न हास्य-कटु कर्कश पूर्ण भाषा ।
स्वामी करे न विकथा, मितमिष्ट बोले,
भाषामयी समिति में नित ले हिलोरे ॥६२॥

जो दोष मुक्त कृत कारित सम्मती से ।
हो शुद्ध, प्रासुक यथागम-पद्धती से ॥
सागार अन्न दिन मे यदि दान देता ।
ले साम्य धार, मुनि एषण पाल लेता ॥६३॥

जो देख भाल, कर मार्जन पिच्छिका से,
शास्त्रादि वस्तु रखना गहना दया से ।
आदान निक्षिपण है समिती कहाती,
पाले उसे सतत साधु, सुखी बनाती ॥६४॥

एकान्त हो विजन विस्तृत, ना विरोध,
सम्यक् जहाँ बन सके त्रस जीव शोध ।
ऐसा अचित्त थल पे मल मूत्र त्यागे,
व्युत्सर्ग रूप-समिति गह साधु जागे ॥६५॥

रागादि का अशुभ भाव प्रणालियों का,
जो त्याग, कालुषमयी दुखनालियों का ।
श्री वीर के समय में व्यवहारवाली,
मानी गई कि मन गुप्ति यही शिवाली ॥६६॥

स्त्री राज की अशन चोरन की कथायें,
जो पाप तापमय है जिनसे व्यथाएँ ।
है पूर्ण त्याग इनका वच गुप्ति भाति,
या पापरूप वच त्याग सुखी बनाती ॥६७॥

जो देह की छिदन भेदन की क्रियाएँ,
किंवा सभी हलन चालन की क्रियाएँ ।
पाती विराम मुनि साधक की दशा में,
सो काय गुप्ति, धरते मिटती निशायें, ॥६८॥

रागादि का शमन जो मन से कराना,
गुप्ति रही मनस की प्रभुका बताना ।
हिंसा मयी वचन त्याग, व मौन बाना,
गुप्ती वही वचन की सुन तू निभाना ॥६९॥

हिंसादि की विरति हो तन गुप्ति होती ।
वाणी कहे जिनप की मन मैल धोती ॥
पावे विराम सब ही तन की क्रियायें
कायोतसर्ग अथवा तन गुप्ति पायें ॥७०॥

है घाति कर्म दल को जिनने नशाया,
पाये विशुद्ध गुण केवल ज्ञान पाया ।
चौंतीस सातिशय मंडित हैं सुहाते,
वे ही विशिष्ट "अरिहन्त" सुधी बताते ॥७१॥

सामान्य आठ गुण पाकर जो लसे हैं,
लोकाग्र में स्थित शिवालय में बसे हैं ।
दुष्टाष्ट कर्ममय बन्धन को मिटाया,
वे सिद्ध, सिद्ध-पद में शिर मैं नवाया ॥७२॥

आचार पंच परिपूर्ण सदा निभाते,
पंचेन्द्रि रूप गज के मद को मिटाते ।
गंभीर नीरनिधि से गुणधीर भाते,
आचार्य वे समय में युग वीर गाते ॥७३॥

नि:स्वार्थ भाव धरते कुछ भी न लेते,
शस्त्रानुसार वह भी उपदेश देते ।
सारे परीषह सहे बलवान होने,
धारी स्वरत्नत्रय के उवझाय होते ॥७४॥

आराधना स्वयम की करते सदा है,
व्यापार लौकिक तजे जड़ सपदा है ।
निर्ग्रन्थ, ग्रन्थ बिन शोभत वीतमोही,
वे साधु, पूज उनको भवभीत मोही ॥७५॥

ऐसी निरन्तर रहे शुभभावनाये,
तो भेद रूप वह चारित्र हाथ आये ।
चारित्र निश्चय नयाश्रित जो कहाता,
आगे यही तुम सुनो उसको सुनाता ॥७६॥

तिर्यञ्च भाव नहीं नारक भाव मैं हूँ,
ना देव भाव नहीं मानव भाव मैं हूँ ।
मैं वस्तुत: न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७७॥

मैं जीव थान नहीं हूँ गुण थान ना हूँ,
भाई सुनो विविध मार्गण थान ना हूँ ।
मैं वस्तुत: न इन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७८॥

मैं हूँ नहीं युवक बालक भी नहीं हूँ,
हूँ वृद्ध भी न उन कारण भी नहीं हूँ ।
मैं वस्तुत: न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥७९॥

में रोष कोष नहिं राग कभी नहीं हूँ,
मोही नहीं व उन कारण भी नहीं हूँ ।
मैं वस्तुत: न इन को करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८०॥

में क्रोध रूप नहिं हूँ मद मान ना हूँ,
माया न लोभ उन कारणवान ना हूँ ।
मै वस्तुत: न इनको करता कराता,
कोई करे, न उनका अनुमोद दाता ॥८१॥

यो भेद ज्ञानमय भानु उदीयमान,
मध्यस्थ भाव वश चारित हो प्रमाण ।
ऐसे चरित्र गुण में पुनि पुष्टि लाने,
होते प्रतिक्रमण आदिक ये सयाने ॥८२॥

रागादि भाव मलको मन से हटाता,
हो निर्विकल्प मुनि जो निज ध्यान ध्याता ।
सारी क्रिया वचन की तजता सुहाता,
सच्चा प्रतिक्रमण-लाभ वही उठाता ॥८३॥

आराधनामय सुधारस नित्य पीते,
छोडे विराधन, सभी अघसे सुरीते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु यों बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८४॥

साधू अनाचरण पूरण छोड़ते हैं,
स्वाचार में स्वयम को दृढ़ जोड़ते हैं ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८५॥

उन्मार्ग में विचरते मन को हटाते,
सन्मार्ग में स्वयम को थिर है लगाते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन हैं बिताते ॥८६॥

जो शल्य भाव तजते वह साधु होते,
निःशल्य भाव भजते अघ आशु खोते ।
वे ही प्रतिक्रमण हैं गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन हैं बिताते ॥८७॥

भाई अगुप्तिमयभाव स्वयं बिसारे,
औ तीन गुप्तिमय भाव अहो सुधारे ।
साधू "प्रतिक्रमण" वे गुरु हैं बताते,
तल्लीन क्योंकि बन जीवन है बिताते ॥८८॥

जो आर्त रौद्रमय ध्यान सदा विसारे,
पै धर्म शुक्ल मय ध्यान सदा सुधारे ।
वे ही प्रतिक्रमण साधु प्रशान्त प्यारे,
तल्लीन क्योंकि रह जीवन को सुधारे ॥८९॥

जीवात्म ने अमित बार अरे सदीसे,
मिथ्यात्व आदि सब भाव किए रुचि से ।
सम्यक्त्व आदि समभाव किए नहीं है,
शुद्धात्म दर्शन अवश्य किए नहीं है ॥९०॥

मिथ्यात्व-ज्ञान-व्रत की जड़ काटता है,
संस्कार भी न उनका रख डालता है ।
सम्यक्त्व ज्ञान व्रत को उर में बिठाता,
सोही प्रतिक्रमण लाभ अहो उठाता ॥९१॥

है सर्व श्रेष्ठ निज आत्म पदार्थ साता,
हो आत्म में स्थित यती विधि को नाशता ।
सच्चा प्रतिक्रमण आतम ध्यान होता,
तू आत्म ध्यान कर, केवल ज्ञान होता ॥९२॥

सध्यान रूप सर में अवगाह पाता,
साधू-स्वदोष मल को पल में धुलाता ।
सद्ध्यान ही विषमकलमष पातकों का,
सच्चा प्रतिक्रमण है घर सद्गुणों का ॥९३॥

जो भी प्रतिक्रमण नामक शास्त्र बोले,
भाई प्रतिक्रमण की विधि नेत्र खोले ।
जानो यथाविधि उसे उस भावना को
भाना प्रतिक्रमण है तज वासना को ॥९४॥

हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प सारे,
साधू अनागत शुभाशुभ भाव टारे ।
शुद्धात्म-ध्यान सर में डुबकी लगाते,
वे प्रत्याख्यान गुण धारक है कहाते ॥९५॥

मेरा स्वभाव वर केवल ज्ञान वाला,
कैवल्य दर्शन मदीय स्वभाव शाला ।
कैवल्य शक्ति मम मात्र स्वभाव ऐसा,
ज्ञानी करे सुखद चिंतन को हमेशा ॥९६॥

लो आतमा न तजता निज भाव को है,
स्वीकारता न परकीय विभाव को है,
दृष्टा बना निखिल का परिपूर्ण ज्ञाता,
मैं ही रहा वह, सुधी इस भांति गाता ॥९७॥

स्थित्यादि भेदवश बंध चतुर्विधा है,
आत्मा परन्तु उससे लसता जुदा है ।
''सो मैं'' निरंतर विचार करे उसी में,
ज्ञानी निवास कर नित्य रहे निजी में ॥९८॥

मैं तो मदीय ममता द्रुत त्यागता हूँ,
निर्मोह भाव गहता नित जागता हूँ ।
आत्मा मदीय अवलोकन एक मेरा,
छोडूँ सभी पर, रहूँ बन मैं अकेला ॥९९॥

विज्ञान में चरण में दृग संवरों में,
औ प्रत्यख्यान गुण में लसता गुरो ! मैं ।
शुद्धात्म की परम पावन भावना का,
है पाक मात्र सुख है, दुख वासना का ॥१००॥

है जीव एक मरता जग में मुधा है,
है एक ही जनमता रहता सदा है ।
हो एकका मरण भी जब अन्त वेला,
हो मुक्त, कर्मरज से तब भी अकेला ॥१०१॥

पूरा भरा दृग विबोध मयी सुधा से,
मैं एक शाश्वत सुधाकर हूँ सदा से ।
संयोग जन्य सब शेषविभाव मेरे,
रागादि भाव जितने मुझसे निरे रे ॥१०२॥

जो भी दुराचरण हैं मुझ में दिखाता,
वाक्काय से मनस से उसको मिटाता ।
नीराग सामयिक को त्रिविधा करूँ मैं,
तो बार बार तन धार नहीं मरूँ मैं ॥१०३॥

ना वैरभाव मम हो जग में किसी से,
हो साम्य-भाव त्रस स्थावर से सभी से ।
आशा सभी तरह की तजना कहाती,
सच्ची समाधि अनुपाधि-मुझे सुहाती ॥१०४॥

साधू कषाय तज इंद्रिय जीत होता
संसार के दुखन से भयभीत होता ।
सारे परीषह सहे नित अप्रमादी,
हो प्रत्यख्यान उसका गुरु ने बतादी ॥१०५॥

यों जीव भेद, विधि भेदन का सुचारा,
अभ्यास है कर रहा जग को विसारा,
सो संयती नियम से बस धार पाता,
है प्रत्यख्यान पद को भव पार जाता ॥१०६॥

नो-कर्म-कर्म बिन शाश्वत है सुहाता,
होता विभावगुण पर्यय हीन साता ।
ऐसी निजात्म छवि का यदि ध्यान ध्याता,
आलोचना श्रमण वो उरधार पाता ॥१०७॥

आलोचना अविकृति करुणा निराली,
आलुंचना विमलभाव विशुद्धि प्यारी ।
आलोचना चउविधा जिन शास्त्र गाता,
जो भी धरे परम पावन पात्र पाता ॥१०८॥

आत्मीय सर्व परिणाम विराम पावे,
वे साम्य के सदन में सहसा सुहावे,
डूबो लखो बहुत भीतर चेतना में,
आलोचना बस यही जिन देशना में ॥१०९॥

ऐसा अपूर्व बल को वह धारता है,
आमूल कर्ममय वृक्ष उखाड़ता है ।
स्वाधीन साम्य-मय भाव स्वकीय होता,
आलुंचना वह रहा भजनीय होता ॥११०॥

आत्मा स्वकर्म दल से अति भिन्न न्यारा,
हीराभ शुभ्र गुणधाम अखिन्न प्यारा ।
माध्यस्थ भाव धर यों मुनि भा रहा हो,
सिद्धान्त में अविकृती-करुणी रहा वो ॥१११॥

मायाभिमान - मदमोह - विहीन होना,
है भाव शुद्धि जिससे शिव सिद्धि लोना ।
आलोक से सकल-लोक अलोक देखा,
सर्वज्ञ ने सदुपदेश दिया सुरेखा ॥११२॥

जो भाव है समिति शील व्रतों यमों का,
प्रायश्चिता वह सही दम इन्द्रियों का ।
ध्याऊँ उसे विनय से उर में बिठाता ।
होऊँ अतीत विधि से विधि खो विधाता ॥११३॥

क्रोधादि भाव, जिनका क्षय होय कैसा,
साधू विचार करता दिन रैन ऐसा ।
आत्मीय शुद्धात्म चिंतन लीन होता,
प्रायश्चिता वह सही अघ हीन होता ॥११४॥

माया हरो परम आर्जव भाव द्वारा,
औ मान मर्दन, सुमार्दव भाव द्वारा
मेटो प्रलोभ धर तोष, क्षमा सुधा से,
क्रोधाग्नि शान्त कर दो अविलम्बता से ॥११५॥

शुद्धात्म के सतत चिंतन में लगा है
शुद्धात्म ज्ञान करता निज में जगा है
शुद्धात्म बोध कर जीवन है बिताता
प्रायश्चिता नियम से उसका कहाता ॥११६॥

भारी तपश्चरण साधु महार्षियों का,
प्रायश्चिता वह सभी गुणधारियों का ।
क्या क्या कहूँ बहुत भी कहना वृथा है,
हे सर्व कर्म-क्षय हेतु यही कथा है ॥११७॥

जो भी शुभाशुभ कुकर्म युगों युगों में,
बांधा हुवा विगत में कि भवों भवों में ।
सम्यक् तपश्चरण से मिट पूर्ण जाता,
प्रायश्चिता इसलिए तप ही कहाता ॥११८॥

आत्मा विनष्ट करता पर भाव सारा,
लेके स्वकीय गुणका रुचि से सहारा ।
सर्वस्व है इसलिए निजध्यान प्यारा,
लेऊँ अतः शरण मैं निजकी सुचारा ॥११९॥

छोड़ी विभावमय राग प्रणालि की भी,
चेष्टा शुभाशुभ सभी वचनावली की ।
पश्चात स्वकीय शुचि ध्यान लगा रहा है,
वो साधु का "नियम" मित्र सगा रहा है ॥१२०॥

जो ध्यान आत्म गुण का करता निहाला,
हो निर्विकल्प तज जल्प विकल्प-माला ।
देहादि से बन निरीह स्व में बसा है,
कायोतसर्ग मुनि का वह है लसा है ॥१२१॥

वाक् योग-रोक जिसने मन-मौन धारा,
औ वीतराग बन आतम को निहारा ।
होती समाधि परमोत्तम ही उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२२॥

हो संयमी नियम औ तप धारता है,
औ धर्म शुक्लमय ध्यान निहारता है ।
होती समाधि परमोत्तम हो उसी की,
पूजूँ उसे शरण और नहीं किसी की ॥१२३॥

मासोपवास करना वनवास जाना,
आतापनादि तपना तनको सुखाना ।
सिद्धान्त का मनन मौन सदा निभाना,
ये व्यर्थ हैं श्रमण के बिन साम्य बाना ॥१२४॥

आरम्भ दम्भ तज के त्रय गुप्ति पाले,
हैं पंचइन्द्रियजयी समदृष्टि वाले ।
स्थायी सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२५॥

जो साधुराज जड़ जंगम जंतुवो में,
सौभाग्यमान धरता समता सबों में ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२६॥

हो संयमी नियम में यम में बिठाता,
जो आत्म को पतन से अघ से उठाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२७॥

ये राग द्वेष मुनि में रहते तथापि,
उत्पन्न वे न करते विकृती कदापि।
स्थायी सुसामयिक है उनमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२८॥

जो आर्त रौद्रमय ध्यान नहीं लगाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१२९॥

जो पाप पुण्य मय भाव कभी न लाता,
पै साधु नित्य उनको मन से हटाता।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली-परम शासन गीत गाता ॥१३०॥

जो शोक को अरति को रति-हास्य त्यागे,
हो नित्य दूर उनसे मुनि नित्यजागे।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली-परम-शासन गीत गाता ॥१३१॥

ग्लानी त्रिवेद भयको मुनि त्यागता है,
हो दूर नित्य उनसे निज जागता है।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता,
यों केवली परम शासन गीत गाता ॥१३२॥

जो धर्म-शुक्लमय ध्यान सदा लगाता,
होना न दूर उनसे यह साधु गाथा ।
स्थायी सुसामयिक है उसमें दिखाता ।
यों केवली परमशासन गीत गाता ॥१३३॥

सम्यक्त्व ज्ञान व्रत की मुनि श्रावकों से,
जो भक्ति हो नियम-संयम धारियों से ।
निर्वाण-भक्ति उनकी वह है कहानी,
वाणी जिनेन्द्र कथिता इस भाँति गानी ॥१३४॥

सन्मार्ग पे विचरते मुनि साधुवों के,
भेदोपभेद गुण जान यतीश्वरों के ।
होना विलीन उनकी शुचि भक्ति में है,
निर्वाण-भक्ति वह भी व्यवहार में है ॥१३५॥

जो साधु मोक्ष पथ पे निजको चलाता,
निर्वाण-भक्ति-भर में मन को लगाता ।
स्वाधीन पूर्ण-गुण-युक्त निजी दशा को,
पाता नितान्त, कर नष्ट निरी निशा को ॥१३६॥

रागादि मोह परिणामन को मिटाने,
जो साधु उद्यत निरंतर है सयाने ।
वे योग-भक्ति सर में डुबकी लगाते,
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाते ॥१३७॥

संकल्प जल्प सविकल्पन से छुड़ाता,
हो निर्विकल्प निजको निजमें सुलाता,
सो योग-भक्ति सर में डुबकी लगाता ।
पै अन्य साधु किस भाँति सुयोग पाता ? ॥१३८॥

मिथ्यात्व भाव परिणाम विभाव त्याग
हो जन-तत्त्व भर में रत आप जाग ।
सो योग, भाव निज का अभिराम माना
ऐसा वसन्त तिलका अविराम गाना ॥१३९॥

तीर्थंकरो वृषभ सन्मति आदिकों ने
की योग-भक्ति यम संयम धारकों ने ।
पश्चात बने शिव बने शिव धामवासी
धारो अतः तुम सुयोग बनो उदासी ॥१४०॥

जो इन्द्रियों व मन के वश में न आता
आवश्यका वह रहा मुनि कार्य साता ।
जो योग है करम नाशक है कहाता
निर्वाण मार्ग वह आगम यों बताता ॥१४१॥

हो अन्य के वश नहीं अवशी कहाता
आवश्यका, अवश का वह कार्य भाता ।
है युक्ति का उचित अर्थ उपाय होता ।
ऐसा अवश्यक सयुक्तिक सिद्ध होता ॥१४२॥

वैभाविकी अशुभ आशय ला रहा है
जो अन्य के श्रमण हो, वश हो रहा है ।
आवश्यका न उसका वह कार्य होना
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य गाना ॥१४३॥

जो साधु, भाव शुभ में रत हो रहा है,
भाई नितान्त पर के वश हो रहा है ।
आवश्यका, न उसका वह कार्य होना,
अध्यात्म के विषय में अनिवार्य सोना ॥१४४॥

पर्याय द्रव्य-गुण में मन है लगाता,
सो भी यती वश रहा पर के कहाता ।
मोहान्धकार परिपूर्ण भगा रहे हैं,
ऐसा कहें श्रमण जो कि जगा रहे हैं ॥१४५॥

सध्यान में श्रमण अन्तरधान हो के,
रागादि भाव पर है पर भाव रोकें ।
वे ही निजातमवशी यति भव्य प्यारे,
जाते अवश्यक कहें उन कार्य सारे ॥१४६॥

भाई तुझे यदि अवश्यक पालना है,
होके समाहित स्व में मन मारना है ।
हीराभ सामयिक में द्युति जाग जाती,
सम्मोह तामस निशा झट भाग जाती ॥१४७॥

जो साधु ना हि षडवश्यक पालना है,
चारित्र से पतित हो सहता व्यथा है ।
आत्मानुभूति कब हो यह कामना है,
आलस्य त्याग षडवश्यक पालना है ॥१४८॥

जो साधु सादर अवश्यक धारता है,
सो अंतरातम रहा मन मारता है ।
पै साधु हो नहि अवश्यक पालता है,
सो है अवश्य बहिरातम. बालना है ॥१४९॥

जो अंतरंग बहिरंग-प्रजल्पधारी,
होता नितांत बहिरातम है विकारी ।
सम्पूर्ण जल्प भर से अति दूर होता,
सो अंतरातम रहा सुख पर होता ॥१५०॥

सदधर्म-शुक्लमय ध्यान-सुधा सुपीता,
सो अंतरात्म सुख जीवन नित्य जीता ।
पै साधु हो तदपि ध्यान नहिं लगाता,
होता नितांतबहिरात्म वही कहाता ॥१५१॥

सामायिकादि षडवश्यक नित्य पाले,
जो साधु निश्चय सुचारित्र भव्य धारे ।
तो वीतराग शुचि चारित में यमी वो,
शीघ्रतार्शीघ्र फलत: नित उद्यमी हो ॥१५२॥

आलोचना, नियम आदिक सर्तमान,
भाई प्रतिक्रमण शाब्दिक प्रत्यख्यान ।
स्वाध्याय से सफल है गुरु हैं बताते,
होते विकल्पमय भेद चरित्र तातें ॥१५३॥

संवेग-धारक यथोचित शक्तिवाले,
ध्यानाभिभूत षडवश्यक साधु पाले ।
ऐसा नहीं यदि बने उर धार लेना,
श्रद्धान तो दृढ रखो अघ मार देना ॥१५४॥

सामायिकादि विधि की कर लो परीक्षा,
सो जन शास्त्र कहता बन के निरीच्छा,
योगी बन इसलिये मन मौन धारो,
साधो स्वकार्य नित पै अघ को न धारो ॥१५५॥

संसार में विविध कर्म प्रणालियाँ हैं,
ये जीव भी विविध औ उपलब्धियाँ है ।
भाई अत: मत विवाद करो किसी से,
साधर्मि से अनुज से परसे अरी से ॥१५६॥

ज्यों वित्त को खरचता निज पोषणों में,
भोगी सुभोग करता दिन रात्रियों में,
पा नित्यज्ञान निधि, नित्य नितांत ज्ञानी,
त्यों भोगता न रमता पर में अमानी ॥१५७॥

जो भी पुराण पुरुषोत्तम रे हुये हैं,
सामायिकादि षडवश्यक वे किये हैं ।
सप्तादि पूर्ण गुणथान पुनः चढ़े हैं,
हैं केवली बने फिर हम से बढ़े हैं ॥१५८॥

ये केवली प्रभु सदा व्यवहार नाते,
हैं जानते सकल विश्व निहार पाते,
पै केवली नियम से निजको अमानी,
हैं जानते निरखते पर को न ज्ञानी ॥१५९॥

ये ज्ञान दर्शन स्वयं जिन के, बली के,
हो एक साथ सुन मित्र सु केवली के ।
होते प्रभाकर प्रकाश प्रताप जैसे,
देते सभी सदुपदेश अपाप ऐसे ॥१६०॥

होता सदैव वह ज्ञान परप्रकाशी,
होता नितांत वह दर्शन स्वप्रकाशी ।
आत्मा तथा स्वपर का रहता प्रकाशी,
ऐसा कहो यदि अरे ! विषयाभिलाषी ! ॥१६१॥

तू ज्ञान को परप्रकाशक ही कहेगा,
तो ज्ञान से पृथक दर्शन ही रहेगा ।
औ अन्य-द्रव्यगत दर्शन भी नहीं है,
यों पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६२॥

आत्मा मना पर प्रकाशक ही रहा हो,
तो आत्म से पृथक दर्शन हो रहा वो ।
जो अन्य-द्रव्य गत दर्शन भी नहीं है,
यो पूर्व के कथन में मिलता सही है ॥१६३॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहार तथा प्रकाशी,
त्यों अन्य का यह सुदर्शन भी प्रकाशी ।
ज्यों आत्म मात्र व्यवहार नया प्रकाशी
त्यों अन्य का वह सुदर्शन भी प्रकाशी ॥१६४॥

ज्यों ज्ञान, मात्र व्यवहार नया प्रकाशी,
त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ।
ज्यों आत्म निश्चयनया निज का प्रकाशी,
त्यों हो सुदर्शन अतः निज का प्रकाशी ॥१६५॥

ये केवली नियम से निज को निहारे,
ना देखते सकल लोक अलोक सारे ।
कोई मनो यदि कहे इस भांति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस में बुराई ॥१६६॥

संसार के अमित मूर्त अमूर्त सारे
ये द्रव्य चेतन अचेतन आदि प्यारे ।
जो जानता निज समेत इन्हें सुचारा,
प्रत्यक्ष है वह अतीन्द्रिय ज्ञान सारा ॥१६७॥

पूर्वोक्त द्रव्य दल जो दिखता अपारा,
नाना गुणों विविध-पर्यय का पिटारा ।
जाने सही न उसको युगपत कदापि,
होता परोक्ष वह ज्ञान कहें अपापी ॥१६८॥

हैं देखते सकललोक अलोक सारे,
ये केवली पर नहीं निज को निहारें ।
कोई मनो यदि कहें इस भांति भाई,
क्या दोष दूषण रहा इस में बुराई ॥१६९॥

है ज्ञान आतम सरूप सदा सुहाना,
आत्मा अतः बस निजातम जान पाता ।
माना न ज्ञान निज आतम को जनाता,
तो आत्म से पृथक ज्ञान बना, न पाता ॥१७०॥

तू आत्म को समझ ज्ञान अनूप प्याला,
औ ज्ञान को समझ आतम रूपवाला ।
ये ज्ञान दर्शन अतः स्वपर-प्रकाशी,
संदेह के बिन, कहे मुनि सत्यभाषी ॥१७१॥

इच्छा किये बिन सुकेवल ज्ञान धारी,
हैं जानते निरखते सब को अघारी ।
होते अतः सब अबंधक निर्विकारी,
रोते यहाँ सतत बंधक ये विकारी ॥१७२॥

संकल्पपूर्वक कभी कुछ बोलना है,
सो बंध हेतु, पय में विष घोलना है ।
संकल्प-मुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बंध उनको सुन भव्य प्राणी ॥१७३॥

इच्छा समेत कुछ भी वह बोलना है,
लो बंध हेतु, पय में विष घोलना है ।
इच्छा विमुक्त कुछ बोलत साधु ज्ञानी,
होता न बंध उनको सुन भव्य ! प्राणी ॥१७४॥

इच्छा बिना सहज से उठ बैठ जाते,
है केवली इसीलिये नहीं बंध पाते ।
मोही बना जगत ही विधि बन्ध पाता,
ऐसा वसन्ततिलका वह छन्द गाता ॥१७५॥

है आयु का प्रथम तो अवसान होता,
निश्शेष कर्म दल का फिर नाश होता,
पश्चात् सुशीघ्र शिव वे पल में लसेंगे,
लोकाग्र पे स्थित शिवालय में बसेंगे ॥१७६॥

दुष्टाष्ट कर्म तजते सकलावभाशी,
होते अछेद्य परमोत्तम ना विनाशी
ज्ञानादि अक्षय चतुष्टय रूप धारे,
वार्धक्य जन्म मृति-मुक्त सुसिद्ध सारे ॥१७७॥

आकाश से निरवलम्ब अबाध प्यारे,
वे सिद्ध हैं अचल नित्य अनूप सारे ।
होते अतीन्द्रिय पुनः भव में न आते,
हैं पुण्य-पाप-विधि-मुक्त मुझे सुहाते ॥१७८॥

बाधा न जीवित जहाँ कुछ भी न पीड़ा,
आती न गन्ध दुख की सुखी की न क्रीड़ा ।
ना जन्म है मरण है जिस में दिखाते.
निर्वाण जान वह है गुरू यों बताते ॥१७९॥

निद्रा न मोहतम विस्मय भी नहीं है,
ये इन्द्रियाँ जड़मयी जिस में नहीं हैं ।
होते कभी न उपसर्ग तृषा क्षुधा हैं,
निर्वाण में सुखद बोधमयी सुधा है ॥१८०॥

चिंता नहीं उपजती चिति में जरा-सी,
नो कर्म भी नहिं, नहीं वसु कर्म राशी ।
होते जहाँ नहिं शुभाशुभ ध्यान चारों,
निर्वाण है वह, सुधी तुम यों विचारो ॥१८१॥

कैवल्य-बोध सुख दर्शन वीर्यवाला,
आत्मा प्रदेशमय मात्र अमूर्त शाला ।
निर्वाण में निवसता निज नीति धारी,
अस्तित्व से विलसता जग आर्तहारी ॥१८२॥

निर्वाण ही परम सिद्ध रहा सुहाता,
या सिद्ध शुद्ध निर्वाण सदा कहाता ।
जो कर्म-मुक्त बनते अविराम जाते,
लोकाग्र लों फिर सुसिद्ध विराम पाते ॥१८३॥

यों प्राणि पुद्गल, जहाँ तक धर्म होता,
जाते वहाँ नहिं, जहाँ नहिं धर्म होता ।
यों जीव की व जड़ की गति में सहाई,
धर्मास्तिकाय बनता सुन भव्य भाई ॥१८४॥

हो शास्त्र भक्तिवश शास्त्र सही बनाया,
मैंने यहाँ 'नियम' के फल को दिखाया ।
पूर्वापरा यदि विरोध यहाँ दिखावें,
शास्त्रज्ञ दूर कर नित्य पढ़ें पढावें ॥१८५॥

ईर्ष्याभिभूत जन सुंदर पंथ की भी,
निंदा करे शरण ले अघ ग्रंथ की भी ।
भाई कभी न उनसे . अनुकूल होना,
आस्था जिनेश पथ की मत भूल खोना ॥१८६॥

पूर्वापरा-सकल दोष-विहीन प्यारा,
होता जिनागम अपार अगाध न्यारा ।
मैंने स्वकीय-शुचिभाव-निमित्त भाया,
जाना उसे 'नियमसार' पुनः रचाया ॥१८७॥

इति शुभं भूयात्

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझ में कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

स्थान एवं समय परिचय

रहा तपोवन नियम से रम्य क्षेत्र थूबौन
जहाँ ध्यान में उतरता मुनि का मन हो मौन ॥२॥

शांति नाथ जिन नाथ है दर्शन से अति हर्ष ।
धारा वर्षायोग उन चरणन में इस वर्ष ॥३॥

गात्र गगन गति गंध की भाद्र वदीशित तीज ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है भुक्ति मुक्ति का बीज ॥४॥

मंगल कामना

विस्मृत मम हो विगत सर्व विगलित हो मद मान।
ध्यान निजातम का करूँ करूँ निजी गुण गान ॥१॥

सादर शाश्वत सारमय समय सार को जान
गट गट झट पट चाव से करूँ निजामृत पान ॥२॥

रम रम शम दम में सदा मत रम पर में भूल।
रख साहस फलत: मिले भव का पल में कूल ॥३॥

चिदानन्द का धाम है ललाम आतमराम।
तन मन से न्यारा दिखे मन पे लगे लगाम ॥४॥

निरा निरामय नव्य में नियत निरजन नित्य
यह केवल नियमित जपूँ तजूँ विषय अनित्य ॥५॥

मन वच तन में सौम्यता धारो बन नवनीत
सार्थक तब जप तप बने प्रथम बनो भवभीत ॥६॥

रति रति पति से मति बने गति पंचम गति होय
कारण सादृश कार्य हो समाधान मति होय ॥७॥

सार यही जिनशास्त्र का सादर समता धार
रहा बंध पर राग है विराग भवदधि पार ॥८॥

द्वादशानुप्रेक्षा

मूल : द्वादशानुप्रेक्षा (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

द्वादशानुप्रेक्षा

मंगलाचरण (प्रतिज्ञा वाक्य)

उत्कृष्ट ध्यान बल से भव बंध तोड़ा,
वे सिद्ध, ढोक उनको द्वय हाथ जोड़ा ।
चौबीस तीर्थंकर की कर वंदना मैं,
पश्चात् कहूँ सुखद द्वादश भावनाएँ ॥१॥

संसार, लोक, वृष, आस्रव, निर्जरा है,
अन्यत्व और अशुचि, अध्रुव, संवरा है ।
एकत्व औ अशरणा अवबोधना ये,
भावे सुधी सतत द्वादश भावनायें ॥२॥

अनित्यानुप्रेक्षा

सर्वोत्तमा भवन वाहन यान सारे,
ये आसनादि शयनादि प्यारे ।
माता पिता स्वजन सेवक दास दासी,
राजा प्रजाजन सुरेश विनाश राशी ॥३॥

लावण्य-लाभ बल यौवन रूप प्यारा,
सौभाग्य इन्द्रिय सतेज अनूप सारा ।
आरोग्य संग सब में पल आयुवाले,
हो नष्ट ज्यों सुरधनु बुध यों पुकारे ॥४॥

होके मिटे कि बलदेव नरेन्द्र का भी,
नागेन्द्र का सुपद त्यों न सुरेन्द्र का भी
ये मेघ दृश्य सम या जलके बबूले,
विद्युत् सुरेश धनु से नसते समूले ॥५॥

लो ! क्षीर नीर सम, मिश्रित, काय यों ही,
जो जीव से दृढ़ बंधा नश जाय मोही !
भोगोपभोग अघ कारण द्रव्य सारे,
कैसे गले ध्रुव रहें व्यय शील वाले ॥६॥

है वस्तुतः नर सुरासुर वैभवों से,
आत्मा रहा पृथक भिन्न भवों भवों से ।
ऐसा करो सतत चिंतन, जी रहा है,
आत्मा वही अमर शाश्वत ही रहा है ॥७॥

अशरणानुप्रेक्षा

घोड़े बड़ें रथ खड़ें मणि मंत्र हाथी,
विद्या दवा सकल रक्षक संग साथी ।
पै मृत्यु के समय में जग में हमारे,
होंगे नहीं शरण ये बध यों विचारे ॥८॥

है स्वर्ग-दुर्ग-सुरवर्ग सुभृत्य होता,
है वज्र शस्त्र जिसका वह इन्द्र होता ।
ऐरावता गज गजेन्द्र सवार होता,
ना ! ना ! उसे शरण अंतिम बार होता ॥९॥

अश्वादि पूर्ण बल है चतुरंग सेना,
दो सात रत्न निधियाँ नव रंग लेना ।
चक्रेश को शरण ये नहिं अन्त में हो,
खा जाय काल लखते लखते इन्हें वो ॥१०॥

लो रोग से जनन मृत्यु जरादिकों से,
रक्षा निजात्म निजकी करता अघों से ।
त्रैलोक में इसलिए निज आतमा ही,
है वस्तुतः शरण लो अघ खातमा ही ॥११॥

ये पांच इष्ट अरहंत सुसिद्ध प्यारे,
आचार्य वर्य उवझाय सुसाधु सारे ।
आत्मा निजात्ममय ही करता इन्हें हैं,
आत्मा अत: शरण हो नमता मुझे है ॥१२॥

सद्ज्ञान और समदर्शन भी लखे हैं,
सच्चा चरित्र तप भी जिस में बसे हैं ।
आत्मा वही नियम से समझो कहाता,
आत्मा अत: शरण हो मम प्राण त्राता ॥१३॥

एकत्वानुप्रेक्षा

आत्मा यही विविध कर्म करे अकेला,
संसार में भटकता चिर से अकेला ।
है एक ही जनमता मरता अकेला,
है भोगता करम का फल भी अकेला ॥१४॥

है एक ही विषय की मदिरा सदा पी,
औ तीव्र लोभवश हो, कर पाप पापी ।
तिर्यंच को नरक की दुख योनियों में,
भोगों स्व कर्म एक भवों भवों में ॥१५॥

दे पात्र दान उस धर्म निमित्त आत्मा,
है एक ही करत पुण्य अये महात्मा ।
होता मनुष्य फलत: दिवि देव होता,
पै एक ही फल लखे स्वयमेव ढोता ॥१६॥

उत्कृष्ट पात्र वह साधु अहो रहा है,
सम्यक्त्व से सहित शोभित हो रहा है ।
सम्यक्त्व धार इक देश व्रती सुहाता,
है पात्र मध्यम सुश्रावक ही कहाता ॥१७॥

सम्यक्त्व पा अविरती रहता सरागी,
होता जघन्य वह पात्र व पाप त्यागी,
सम्यक्त्व से रहित मात्र अपात्र जानो
भाई अपात्र अरु पात्र सही पिछानो ॥१८॥

वे भ्रष्ट हैं पतित, दर्शन भ्रष्ट जो ह,
निर्वाण प्राप्त करते न निजात्म को हैं ।
चारित्र भ्रष्ट पुनि चारित ले सिजेंगे,
पे भ्रष्ट दर्शनतया नहिं वे सिजेंगे ॥१९॥

म हूँ विशुद्धतम निर्मम हूँ अकेला,
विज्ञान दर्शन सुलक्षण मात्र मेरा ।
एकत्व का सतत चिंतन साधु ऐसा,
आदेय मान करते रहते हमेशा ॥२०॥

अन्यत्वानुप्रेक्षा

माता पिता सुत सुता वनिता व भ्राता,
हैं जीव से पृथक हैं रखते न नाता ।
ये बाह्य में सहचरी दिख भी रहे हैं,
मोहाभिभूत मदिरा नित पी रहे हैं ॥२१॥

स्वामी मरा मम, रहा मम प्राण प्यारा,
यों शोक नित्य करता जड़ ही विचारा ।
पै डूबना भव पयोनिधि में निजी की,
चिंता कभी न करता गलती यही की ॥२२॥

मैं शुद्ध चेतन, अचेतन से निराला,
ऐसा सदैव कहता सम दृष्टिवाला,
रे देह नेह करना अति दुःख पाना,
छोड़ो उसे तुम यही गुरु का बताना ॥२३॥

संसारानुप्रेक्षा

संसार पंच विध है दुख से भरा है,
है रोग शोक मृति जन्म जहाँ जरा है।
जो मूढ़ गूढ़ निज को न निहारता है
संसार में भटकता चिर हारता है ॥२४॥

संसार में विषय पुद्गल में अनेकों,
भोगे तजे बहुत बार नितान्त देखो।
संसार द्रव्य परिवर्तन यों रहा है,
अध्यात्म के विषय में जग सो रहा है ॥२५॥

ऐसा न लोक भर में थल ही रहा हो,
तूने गहा! न तन को क्रमशः जहाँ हो।
छोटे बड़े धर सभी अवगाहनों को,
संसार "क्षेत्र" पलटे बहुशः अनेकों ॥२६॥

उत्सर्पिणीव अवसर्पिणि की अनेकों,
कालावली वरतती अयि भव्य देखो।
यों जन्म मृत्यु उनमें बहु बार पाये,
हो मूढ काल परिवर्तन भी कराये ॥२७॥

तूने जघन्य नरकायु लिए बिताये,
ग्रैवेयकांत तक अंतिम आयु पाये।
मिथ्यात्व धार भव के परिवर्तनों को,
पूरे किये बहु व्यतीत युगों युगों को ॥२८॥

लो सर्व कर्म स्थिति यों अनुभाग बंधों,
बाँधे प्रदेश विधि के अयि भव्य बंधो!
मिथ्यात्व के वश हुए भव में भ्रमाये,
ऐसे अनंत भव भावमयी बिताये ॥२९॥

स्त्री पुत्र मोह वश ही धन है कमाता,
पापी बना विषम जीवन है चलाता ।
तो दान धर्म तजता निज भूल जाता,
संसार में भटकता प्रतिकूल जाता ।।३०।।

स्त्री पुत्र धान्य धन ये मम कोष प्यारे,
यों तीव्र लोभ-मद पी सब होश टारे ।
सद्धर्म से बहुत ही बस ऊब जाते,
मोही अगाध भव सागर डूब जाते ।।३१।।

मिथ्यात्व के उदय से जिन धर्म निंदा,
पापी सदैव करता नहिं आत्म निंदा ।
जाता कुतीर्थ, व कुलिंग कुधर्म माने,
संसार में भटकता, सुन तू सयाने ।।३२।।

हो क्रूर जीव वध भी कर माँस खाता,
पीता सुरा मधु-चखे तन दास भाता ।
पापी पराय धन स्त्री हरता सदा है
संसार में गिर, सहे दुख आपदा है ।।३३।।

संसार में विषय के वश जो रहेगा,
सो यत्न रात-दिन भी अघ का करेगा ।
मोहांधकार युत जीवन जी रहा है,
संसार में भटकता "लघुधी रहा है ।।३४।।

दोनों निगोद चउथावर सप्त सप्त,
हैं लक्ष हो विकल इन्द्रिय है प्रयत्न ।
हैं वृक्ष लक्ष दश चौदह लक्ष मर्त्य,
चौरासि-लक्ष सब योनि सुजान मर्त्य ।।३५।।

मानापमान मिल जाय अलाभ होता,
होता कभी सुख कभी दुख लाभ होता ।
होता वियोग विनियोग सुयोग होता,
संसार को निरख तू उपयोग जोता ॥३६॥

हैं कर्म के उदय से जग जीव सारे,
डिग मूढ़ घोर भव कानन में विचारे
संसार-तत्व नहिं निश्चय से तथापि.
हैं जीव मुक्त विधि से चिर से अपापी ॥३७॥

होता अतीत भवसे पद आत्म गाथा.
आदेय-ध्येय वह जीव सदा सुहाता ।
संसार दु:ख सहता दिन रैन रोता,
ऐसा विचार वह केवल हेय होता ॥३८॥

लोकानुप्रेक्षा

जीवादि द्रव्य-दल शोभित हो रहा है,
है लोक स्वीकृत सुनो तुम वो रहा है ।
पाताल-मध्य पुनि ऊर्ध्व प्रभेद द्वारा ॥
सो लोक भी त्रिविध है दुख का पिटारा ॥३९॥

नीचे जहाँ नरक, नारक नित्य रोते,
हैं मध्य में जलधि द्वीप असंख्य होते ।
हैं ऊर्ध्व में स्वरग त्रेशठ भेदवाले,
लोकान्त में परम मोक्ष, मुनीश पाले ॥४०॥

हैं एकतीस पुनिसात व चार दो है,
है एक एक छह यों क्रमवार जो हैं ।
औ तीन बार त्रय है इक एक सारे,
ऋत्वादि ये पटल त्रेशठ है उजाले ॥४१॥

स्वर्गीय मर्त्य सुख हो शुभ से सुनो रे !
शुद्धोपयोग बल से शिव हो गुणो रे ।
पाताल हो अशुभ से पशु या विचारो,
यों लोक चिंतन करो अघ को विसारो ॥४२॥

अशुच्यानुप्रेक्षा

पूरी ढकी चरम से बहु अस्थियों से,
काया बधी वलिपटी पल पेशियों से
कीड़े जहाँ बिलबिला करते सदा हैं,
मैली घृणास्पद यही तन संपदा है ॥४३॥

वीभत्स है तन अचेतन है विनाशी,
दुर्गन्ध मासमल का घर रूपराशी ।
धारा स्वभाव सड़ना गलना सदा ही,
ऐसा सुचितंन करो शिव राह राही ॥४४॥

मज्जा व मांस रस रक्त व मेद वाला,
है मूत्र पीब कृमिधाम शरीर कारा ।
दुर्गन्ध है अशुचि चर्ममयी विनाशी,
जानो अचेतन अनित्य अरे विलासी ॥४५॥

है कर्म से रहित है तन से निराला,
होता अनन्त सुखधाम सदा निहाला ।
आत्मा अचेतन निकेतन है अनोखा,
भा भावना सतत तू इस भांति चोखा ॥४६॥

आस्रवानुप्रेक्षा

मिथ्यात्व और अविरती व कषाय चारों,
औ योग आस्रव रहें इन को विसारो ।
ये पांच पांच क्रमशः चउ तीन भाते,
सत् शास्त्र शुद्ध इनका शुचि गीत गाते ॥४७॥

एकान्त औ विनय औ विपरीत चौथा,
अज्ञान संशय करे निजरीत खोता ।
मिथ्यात्व यों नियम से वह पंचधा है,
हिंसादि से अविरती वह पंचधा है ॥४८॥

माया प्रलोभ पुनि मान व क्रोध चारों,
होते कषाय दुख दे, इनको विसारो ।
वाक्काय और मन ये त्रय योग होते,
वे सिद्ध योग बिन हो उपयोग ढोते ॥४९॥

होता द्विधा वह शुभाशुभ भेद द्वारा,
प्रत्येक योग समझो गुरु ने प्रकारा ।
आहार आदिक रही वह चार संज्ञा,
होता वही अशुभ है "मन" मान अज्ञा ॥५०॥

लेश्या सभी अशुभ जो प्रतिकूल बाना,
धिक्कार, इन्द्रिय सुखो नित झूल जाना ।
ईर्षा विषाद, इन को जिन शास्त्र गाता,
ये ही रहे अशुभ सो मन, दुःख दाता ॥५१॥

नौ नो कषायमय जो परिणाम होना,
संमोह रोष रति को अविराम ढोना ।
हो स्थूल सूक्ष्म कुछ भी जिन का बताना,
वे ही रहे अशुभ सो मन दुःख बाना ॥५२॥

स्त्री राज चोर अरु भोजन की कथायें,
माना बुरा वचन योग, करें व्यथा ये ।
औ छेदनादि वधनादि बुरी क्रियायें,
सो काय का अशुभ योग, यती बतायें ॥५३॥

पूर्वोक्त जो अशुभ भाव उन्हें विसारे,
छोड़े तथा अशुभ द्रव्य अशेष सारे ।
हो संयमी समिति शील व्रतों निभाना,
जानो उसे शुभ रहा मन योग बाना ॥५४॥

बोलो वही वचन जो भव दु:खहारी,
सो योग है वचन का शुभ सौख्यकारी ।
सद्देव शास्त्र गुरु पूजन लीन काया,
सो काय योग शुभ है जिन ईश गाया ॥५५॥

जो दु:ख रूप जल जंगम से भरा है,
ले दोष रूप लहरें लहरा रहा है ।
खाता, भवार्णव जहाँ यह जीव गोता,
है कर्म-आस्रव सहेतु सदीव होता ॥५६॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यों ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
सद्ज्ञान मंडित क्रिया कर तू जरा से,
है मोक्ष का वह निमित्त परंपरा से ॥५७॥

ज्यों ही कुधी करम-आस्रव खूब पाता,
त्यों ही अगाध भव सागर डूब जाता ।
जो आस्रवा वह क्रिया शिव का न हेतु,
ऐसा विचार कर नित्य नितान्त रे तू ॥५८॥

हो सास्रवी वह क्रिया न परंपरा से,
निर्वाण हेतु तुम तो समझो जरा से ।
संसार के गमन का वह हेतु होता,
हैं निंद्य आस्रव हमें भव में डुबोता ॥५९॥

पूर्वोक्त आस्रव विभेद निरे निरे हैं,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे है ।
आत्मा रहा उभय आस्रव मुक्त ऐसा,
चिंते सभी तज प्रमाद सुधी हमेशा ॥६०॥

संवरानुप्रेक्षा

सम्यक्त्व का दृढ़ कपाट विराट प्यारा,
जो शून्य है चलमलादि अगाढ़ द्वारा ।
मिथ्यात्व रूप उस आस्रव द्वार को है,
जो रोकता जिन कहें जग सार सो है ॥६१॥

पाले मुनीश-मन पंच महाव्रतों को,
रोके सही अविरती मय-आस्रवों को
जो निष्कषाय मय पावन भाव-धारे,
रोके कषाय मय आस्रव द्वार सारे ॥६२॥

औचित्य है कि शुभ योग विकास पाता,
सद्यः स्वतः अशुभ योग विनाश पाता ।
शुद्धोपयोग, शुभयोगन को नशाता,
ऐसा वसंततिलका यह छन्द गाता ॥६३॥

शुद्धोपयोग बल वो मिलता जिसे है,
तो धर्म शुक्लमय ध्यान मिले उसे है ।
है ध्यान हेतु विधि संवर का इसी से,
ऐसा करो सतत चिंतन भी रुचि से ॥६४॥

जीवात्म में न वर संवर भाव होता,
वो तो विशुद्ध नय से शुचि भाव ढोता ।
आत्मा विमुक्त वर संवर भाव से रे !
ऐसा सुचिंतन सदा कर चाव से रे ॥६५॥

निर्जरानुप्रेक्षा

जो भी बंधा पृथक हो विधि आतमा से,
सो निर्जरा जिन कहे निज की प्रभा से ।
हो संवरा जिस निजी परिणाम द्वारा,
हो निर्जरा वह उसी परिणाम द्वारा ॥६६॥

सो निर्जरा द्विविध, एक असंयमी में,
होती सभी गतिन में इक संयमी में ।
आद्या स्वकाल विधिका अपना कहानी,
दूजी तपश्चरण का फल रूप मानी ॥६७॥

धर्मानुप्रेक्षा

है धर्म ग्यारह तथा दश भेदवाला,
सम्यक्त्व से सहित है निज तेज शाला ।
सागार और अनगार जिसे निभाते,
पा श्रेष्ठ सौख्य जिन यों हमको बताते ॥६८॥

सद्दर्शना सुव्रत सामयकी सभक्ति
औ प्रोषधी सचित त्याग दिवाभिभुक्ति
है ब्रह्मचर्य व्रत सार्थक नाम पाता
आरंभ संग अनुमोदन त्याग साता
उद्दिष्टत्याग व्रत ग्यारह ये कहाते,
हैं एकदेश व्रत श्रावक के सुहाते ॥६९॥

प्यारी क्षमा मृदुलता ऋजुता सचाई,
औ शौच संयम धरो तप धार भाई ।
त्यागो परिग्रह अकिंचन गीत गा लो,
तो ! ब्रह्मचर्य सर में डुबकी लगा लो ॥७०॥

साक्षात्कार यदि हो उस से, खड़ा है,
जो क्रोध का जनक बाहर में अड़ा है ।
पै क्रोध-लेश तक भी मन में न लाते,
पाते क्षमा धरम वे मुनि हैं कहाते ॥७१॥

हूँ श्रेष्ठ जाति कुल में श्रुत में यशस्वी,
ज्ञानी सुशील अतिसुन्दर हूँ तपस्वी ।
ऐसा नहीं श्रमण हो मन मान लाते,
औचित्य ! वे "परम मार्दव धर्म" पाते ॥७२॥

कौटिल्य-छोड़ मुनि चारित पालता है,
हीराभ सा विमल मानस धारता है ।
सो नीरसा परम आर्जव धर्म पाता,
है अन्त में नियम से शिव शर्म पाता ॥७३॥

मिश्री मिले वचन वे रुचते सभी को,
संताप हो श्रवण से न कभी किसी को ।
कल्याण हो स्वपर का, मुनि बोलता है,
सो सत्य धर्म उसका दृग खोलता है ॥७४॥

भोगाभिलाष जिसने मन से हटाया,
वैराग्य भाव दृढ़ से निज में जगाया ।
ऐसा महा मुनिपना मुनि ही निभाता,
सो, शौच धर्ममय जीवन है बिताता ॥७५॥

जो पालता समिति इन्द्रिय जीतता है,
है योग-रोध करता, व्रत धारता है ।
ऐसा महा श्रमण जीवन जी रहा है,
सद्धर्म संयम-सुधा वह पी रहा है ॥७६॥

फोड़ा कषाय घट को, मन को मरोड़ा,
लो साधु ने विषय को विष मान छोड़ा ।
स्वाध्याय ध्यान बल से निज को निहारा,
पाया नितान्त उसने तप धर्म प्यारा ॥७७॥

वैराग्य धार भव भोग स्वदेह से वो,
देखा स्वको यदि सुदूर विमोह से हो ।
तो त्याग धर्म समझा उसने लिया है,
संदेश यों जगत को प्रभु ने दिया है ॥७८॥

जो अंतरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता दुखी नहि सुखी बस नित्य चंगा ।
निर्द्वन्द्व हो विचरता अनगार होता,
भाई वही वर अकिंचन धर्म ढोता ॥७९॥

सर्वांग देख कर भी वनिता जनों के,
होते न मुग्ध उनमें मुनि हैं अनोखे ।
तो ब्रह्मचर्य व्रत धारक वे रहे हैं,
कन्दर्प-दर्प अपहारक वे रहे हैं ॥८०॥

सागार धर्म तज के अनगार होते,
शास्त्रानुसार यति के व्रतसार जोते ।
रीते रहे न शिव से अनिवार्य पाते,
यों धर्म चिंतन करो अयि ! आर्य तातें ॥८१॥

सागार धर्म यति धर्म निरे निरे हैं,
आत्मा विशुद्ध नय से उनसे परे हैं ।
मध्यस्थ भाव उनमें रखना इसी से,
शुद्धात्म चिंतन सदा करना रुची से ॥८२॥

सद् ज्ञान होय जिस भाँति उपाय द्वारा,
चिंता करे उस उपायन की सुचारा ।
चिंता वही परम बोधि अहो कहाती,
सो बोधि दुर्लभ अतीव मुझे सुहाती ॥८३॥

जो भी क्षयोपशम ज्ञानन की छटायें,
हैं हेय कर्म वश लो उपजी दशायें ।
आदेय मात्र निज आतम द्रव्य होता,
सद्ज्ञान सो यह सुनिश्चय भव्य होता ॥८४॥

होते असंख्यतम लोक प्रमाण सारे,
मूलोत्तरादि विधि ये पर द्रव्य न्यारे ।
आत्मा विशुद्धमय से निज द्रव्य भाता,
ऐसा जिनागम निरंतर नित्य गाता ॥८५॥

ऐसा सुचिंतन जभी दिन रात होता,
आदेय हेय वह क्या वह ज्ञात होता ।
आदेय हेय नहिं निश्चय में सयाने,
चिंता सुबोध मुनि सो भवकूल-पाने ॥८६॥

हैं वस्तुतः सकल-बारह भावनायें,
आलोचना सुखद शुद्ध समाधियाँ ये ।
ये ही प्रतिक्रमण है बस प्रत्यख्याना,
भा भावना नित अतः इनकी सयाना ॥८७॥

आलोचना सुसमता व समाधि पाले,
सच्चा प्रतिक्रमण का शुचिभाव भा ले ।
औ प्रत्यख्यान कर रे दिन रात भाई,
है चांदनी क्षणिक तो फिर रात आई ॥८८॥

भा बार बार बस बारह भावनायें,
वे भत मे शिव गये जिनभाव पाये ।
म बार बार उनको प्रणमूँ त्रिसंध्या,
मेरा प्रयोजन यही तजदूँ अविद्या ॥८९॥

जो भी हुए विगत में शिव और आगे,
होंगे नितान्त पुरुषोत्तम और आगे ।
माहात्म्य मात्र वह द्वादश भावना का,
क्या अर्थ है अब सुदीर्घ प्ररूपणाका ॥९०॥

जो कुन्द कुन्द मुनि नायक ने निभाया,
है निश्चयादि व्यवहार हमें सुनाया ।
भाता विशुद्ध मन से इस को वही है,
निर्वाण प्राप्त करता शिव की मही है ॥९१॥

समन्तभद्र की भद्रता

समन्तभद्र की भद्रता

मूल : स्वयभू स्तोत्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

समन्तभद्र की भद्रता

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

स्वामी समंतभद्र हो मैं तो रहा अभद्र।
मम उर में आ तुम बसो बन जाऊँ मैं भद्र ॥२॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर ! करुणा करो कर से दो आशीष ॥३॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन-धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत ॥४॥

स्वयंभु-थुति का मैं करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र कामना मम रही मोह मिटे परमाद ॥५॥

वृषभनाथ-स्तवन

(ज्ञानोदय छन्द : लय : मेरी भावना)

पर से बोधित नहीं हुए पर, स्वयं स्वयं ही बोधित हो।
समकित-संपत्ति ज्ञान नेत्र पा जग में जग हित शोभित हो ॥
विमोह-तम को हरते तुम प्रभु निज-गुण-गण से विलसित हो।
जिस विध शशि तम हरता शुचितम किरणावलि ले विकसित हो ॥१॥

जीवन इच्छुक प्रजाजनों को जीवन जीना सिखा दिया।
असि, मषि, कृषि आदिक कर्मों को प्रजापाल हो दिखा दिया ॥
तत्त्व-ज्ञान से भरित हुए फिर बुध-जन में तुम प्रमुख हुए।
सुर-पति को भी अलभ्य सुख पा विषय-सौख्य से विमुख हुए ॥२॥

सागर तक फैली धरती को मन-वच-तन से त्याग दिया।
सुनन्द-नन्दा वनिता तजकर आतम में अनुराग किया॥
आतम-जेता मुमुक्षु बनकर परीषहों को सहन किया।
इक्ष्वाकु-कुल-आदिम प्रभुवर अविचल मुनिपन वहन किया॥३॥

समाधि-मय अति प्रखर अनल को निज उर में जब जनम दिया।
दोष-मूल अघ-घाति कर्म निर्दय बनकर भसम किया॥
शिव-सुख-वाछक भविजन का फिर परम तत्त्व का बोध दिया।
परम-ब्रह्म-मय अमृत पान कर तुमने निज घर शोध लिया॥४॥

विश्व-विज्ञ हो विश्व-सुलोचन बुध-जन से नित वंदित हो।
पूरण-विद्या-मय तन धारक बने निरंजन नंदित हो॥
जीते छुट-पुट वादी-शासन अनेकान्त के शासक हो।
नाभि-नन्द हे! वृषभ जिनेश्वर मम-मन-मल के नाशक हो॥५॥

- दोहा -

आदिम तीर्थंकर प्रभो आदिनाथ मुनिनाथ!
आधि व्याधि अघ मद मिटे तुम पद में मम माथ॥१॥

शरण, चरण हैं आपके तारण तरण जहाज।
भव-दधि-तट तक ले चलो! करुणाकर जिनराज॥२॥

अजितनाथ-स्तवन

बन्धु-वर्ग तो खेल-कूद में भी विजयी तव मस्त रहा ।
अजेय-बनकर अमेय बल पा मुदित सुखी बन स्वस्थ रहा ॥
यह सब प्रभाव मात्र आपका दिवि से आ जब जन्म लिया ।
"अजित"-नाम तव सार्थक रख तव परिजन सार्थक जन्म किया ॥१॥

अजेय शासन के शासक थे अनेकान्त के पोषक थे ।
भविजन हित-सत पथदर्शक थे अजित नाथ ! जग-तोषक थे ॥
वांछित-शिव-सुख, मंगल पाने मुमुक्षु जन अविराम यहाँ ।
आज ! अभी भी लेते जिन का परम सुपावन नाम महा ॥२॥

भविजन का सब पाप मिटे बस यही भाव ले उदित हुए ।
मुनि नायक प्रभु समुचित बल ले घाति-घात कर मुदित हुए ॥
मेघ-घटा बिन नभ-मंडल में दिनकर जिस विध पूर्ण उगा ।
कमल-दलों को खुला-खिलाता, अन्धकार को पूर्ण भगा ॥३॥

चन्दन-सम शीतल जल से जो भरा लबालब लहराता ।
तपन ताप से ,तपा मत्त गज उस सर में ज्यों सुख पाता ॥
धर्म-तीर्थ तव परम-श्रेष्ठ शुचि जिसमें अवगाहन करते ।
काम-दाह से दग्ध दुखी जन पल में सुख पावन वरते ॥४॥

शत्रु मित्र में समता धरकर परम ब्रह्म में रमण किया ।
आत्म-ज्ञान-मय सुधा-पान कर कषाय-मल का वमन किया ॥
आतम-जेता अजित-नाथ हो चेतन-श्री का वरण किया ।
जिन-पद-संपद-प्रदान कर दो तुम-पद में "यह" नमन किया ॥५॥

- दोहा -

जित इन्द्रिय जित मद बने, जित भव विजित कषाय।
अजित-नाथ को नित नमूँ, अर्जित दुरित पलाय॥१॥

कोंपल पल-पल कों पले, वन में ऋतु-पति आय।
पुलकित मम जीवन-लता, मन में जिन पद पाय॥२॥

शम्भवनाथ-स्तवन

ऐहिक सुख-तृष्णामय रोगों से जो पीड़ित जग जन हैं।
उन्हें निरोगी पूर्ण बनाने वैद्य रहे शंभव जिन हैं॥
प्रति-फल की पर वाँछा कुछ नहिं बिना-स्वार्थ परहित रत हैं।
वैद्य लोग ज्यों रोग मिटाते दया-भाव से परिणत हैं॥१॥

अहकार-मय विभाव भावों मिथ्या-मल से रंजित है।
क्षणिक रहा है त्राण-हीन है जगत रहा सुरल वंचित है॥
जनन-मरण से जरा रोग से पीड़ित दु:खित विकल अहा!
उसे किया जिन निरंजना-मय शान्ति पिला कर सबल महा॥२॥

बिजली-सम पलजीवी चंचल इन्द्रिय-सुख है तनिक रहा।
तृष्णा-मय-मारी के पोषण का कारण है क्षणिक रहा॥
तृष्णा की वह वृद्धि, निरंतर उपजाती है ताप निरा।
ताप जगत को पीड़ित करता जिन कहते, तज पाप जरा॥३॥

बंध-मोक्ष क्या उनका कारण सुफल मोक्ष का कौन रहा?
बद्ध जीव औ मुक्त जीव सब जग में रहते कौन कहाँ?
ये सब वर्णन देव! तुम्हारे स्याद्-वाद मत में पाते।
एकान्ती-मत में ना, पाते शिव-पथ-नेता तुम तातैं॥४॥

पुण्य बर्धनी तुम स्तुति करने इन्द्र विज्ञ असमर्थ रहा ।
किन्तु अज्ञ मैं स्तोत्र कार्य में उद्यत हूँ ना अर्थ रहा ॥
तदपि भक्तिवश तुम-पद-पंकज-स्तुति, अलि बल अनिवार्य किया ।
शिव-सुख की कुछ गंध सुँघा दो आर्य देव ! शुभ कार्य-किया ॥५॥

- दोहा -

तुम-पद पंकज से प्रभो झर-झर-झरी पराग ।
जब तक शिव-सुख ना मिले पीऊँ षट्पद जाग ॥१॥

भव-भव, भव-वन भ्रमित हो भ्रमता-भ्रमता आज ।
शंभव-जिन भव शिव मिले पूर्ण हुआ मम काज ॥२॥

अभिनन्दननाथ-स्तवन

क्षमा-सखी युत दया-वधू में सतत निरत हो नन्दन हो ।
गुण-गण से अति परिवर्धित हो इसीलिए अभिनन्दन हो ॥
"लक्ष" बना कर समाधि भर का समाधि पाने यमी बने ।
बाहर-भीतर नग्न बने प्रभु ग्रन्थ तजे सब दमी बने ॥१॥

निरे अचेतन तन-मन-धन हैं वचन बंधु-जन-तनुज रहें ।
हम इनके ये रहें हमारे इस विध जग के मनुज कहें ॥
मोह-भूत के वशीभूत हो अस्थिर को स्थिर समझे हैं ।
तत्त्व-ज्ञान प्रभु उन्हें बताया उलझे जन-जन सुलझे हैं ॥२॥

अशन-पान कर, क्षुधा तृषा से जनित दु:ख के वारण से ।
तन तन धारक नहिं ध्रुव बनते, क्षणिक विषय सुख पानन से ॥
इसीलिए ये विषय सुखादिक किसी तरह नहिं गुणकारी ।
इस विध इस जग को समझाया प्रभो आप गुणगणधारी ॥३॥

यदपि दास बन विषयों का शठ लोलुपता से पूर रहा ।
तदपि नृपादिक भय से परवश दुराचार से दूर रहा ॥
इस पर भव में "दुखद" विषय है इस विध जो जन यदि जाने ।
किस विध विषयन में फिर रमते यही कहा प्रभु, बुध माने ॥४॥

विषयों की वह विषय-वासना ताप बढ़ाती क्षण-क्षण है ।
तृष्णा फलत: द्विगुणित, जिस सुख, से तोषित ना जड़ जन हैं ॥
सदुपदेश यों देते जिससे निहित-लोक-हित तुम मत में ।
अत: शरण हो सुधी जनों के मुनि गण के सब अभिमत में ॥५॥

- दोहा -

विषयों को विष लख तजूँ बन कर विषयातीत ।
विषय बना ऋषि ईश को गाऊँ उनका गीत ॥१॥

गुण धारे पर मद नहीं मृदुतम हो नवनीत ।
अभिनन्दन जिन! नित नमूँ मुनि बन मैं भवभीत ॥२॥

सुमतिनाथ-स्तवन

स्व पर तत्त्व का सही सुनिर्णय सुयुक्तियों से स्वत: लिया ।
सुमति-नाथ मुनि 'सुमति' नाम को सार्थक तुमने अत: किया ।
शेषमतों में क्रिया-कर्म औ कारक कारण की विधियाँ ।
चूँकि सही नहिं सभी सर्वथा एकान्तीपन की छवियाँ ॥१॥

तुमसे स्वीकृत तत्त्व सही है अनेक भी है एक रहा ।
पर्यय वश वह अनेक देखता द्रव्य अपेक्षा एक रहा ॥
इक उपचारी इनमें हो तो दूजा झूठा, इक नय से ।
शेष मिटेगा अवाच्य जिससे तत्त्व बनेगा निश्चय से ॥२॥

तत्त्व कथंचित् असत्त्व सत् ही अपर अपेक्षा चहक रहा ।
नभ में यद्यपि न पुष्प खिला पर, तरु पर खुल-खिल महक रहा ।
तत्त्व, सत्त्व और असत्त्व बिन यदि, रहा, नहीं सम्मानित है ।
तुम मत से प्रभु अन्य सभी मत, स्वीय वचन से बाधित हैं ॥३॥

तत्त्व सर्वथा नित्य रहा जो मिटता-उगता नहीं कभी ।
तथा क्रिया औ कारक विधियाँ उसमें बनती नहीं कभी ॥
जनन असत का नहीं सर्वथा सत भी वह ना विनस रहा ।
दीपक, खुद बुझ, सघन तिमिर बन, पुद्गल-पन से विहस रहा ॥४॥

नास्तिपना और अस्तिपना है इष्ट कथंचित् यही सही ।
वक्ता के कथनानुसार ये मुख्य-गौण हो कभी कहीं ॥
तत्त्व-कथन की सही प्रणाली सुमति-नाथ प्रभु तव प्यारी ।
स्तुति करती है तव, मम मंदा मति, अमंद हो सुख प्याली ॥५॥

- दोहा -

सुमति नाथ प्रभु सुमति हो मम मति है अति मंद ।
बोध कली खुल-खिल उठे महक उठे मकरन्द ॥१॥

तुम जिन मेघ मयूर मैं गरजो बरसो नाथ ।
चिर प्रतीक्षित हूँ खड़ा ऊपर कर के माथ ॥२॥

पद्मप्रभ-स्तवन

शुचिमय तन-चेतन लक्ष्मी से मंडित निज में निवस रहे ।
लाल-लाल फल पलाश छवि से अहो पदमप्रभ ! विलस रहे ॥
लोकबन्धु हो भविक-कमल ये तुम दर्शन से खिलते हैं ।
जिस विध सर में सरोज दल वे दिनकर को लख खुलते हैं ॥१॥

अक्षय सुख-मय लक्ष्मी वर के दिव्य भारती पाय लसे ।
पूर्णमुक्ति से पूर्ण प्रभा ! तुम त्रयोदशी गुण माँय बसे ।
देव रचित था समवसरण तव उसमें नहिं, अनुरक्त हुए ।
दिव्य देशना त्याग अन्त में सर्वज्ञान युत मुक्त हुए ॥२॥

नयन मनोहर किरणावलि छवि आप देह से उछल रही ।
बाल भानु की द्युति सम भाती धरती छूने मचल रही ॥
नर सुर से जो भरी सभा ललित लाल अति करा रही ।
पदम राग-मय पर्वत जिस विध स्वीय-पार्श्व को विभामयी ॥३॥

सहस्र दल वाले कमलों के मध्य आप चलने वाले ।
चरण-कमल से नभ-तल को प्रभु पुलकित अति करने वाले ॥
मत्त मदन का मद-मर्दन कर निर्मद जीवन बना लिया ।
विश्वशान्ति के लिए विश्व में विचरण इच्छा बिना किया ॥४॥

तुम में हे ! ऋषिवर गुण-गण का लहराता वह सिन्धु महा ।
इन्द्र विज्ञ तव स्तुति करके भी पी न सकता वह बिन्दु अहा !!
अज्ञ, सफल क्या ? मैं हो सकता स्तुति करने जो उद्यत हूँ ।
बाध्य मुझे तव भक्ति कराती तुम पद में तब अवनत हूँ ॥५॥

दोहा

शुभ्र सरल तुम बाल तव कुटिल कृष्ण तम नाग।
तव चिति चित्रित ज्ञेय से किन्तु न उसमें दाग॥१॥

विराग पद्मप्रभु आपके दोनों पाद सराग।
रागी मम मन जा वहीं पीता तभी पराग॥२॥

सुपार्श्वनाथ स्तवन

निज आतम में चिर स्थिर बसना भविक जनों का स्वार्थ नहीं।
भाँति भाँति के क्षणभंगुर सब भोग कभी ये स्वार्थ नहीं॥
तृष्णा का वह अविरल बढ़ना ताप शान्ति के हेतु नहीं।
सुपार्श्व प्रभु का कथन यही है भवसागर का सेतु सही॥१॥

जंगम चालक जभी चलाना स्थाणु यंत्र तब चल पाता।
तथा जीव से तन चल पाता जन्मय तन की यह गाथा॥
दुखद विनाशी रुधिरमांस मय तन है इस विध बता दिया।
तन की ममता अतः वृथा है शिव का तुमने पता दिया॥२॥

बाह्याभ्यंतर कारण द्वारा बनी हुई कृति जो दिखती।
होनहार सो हो कर रहती रोक वह नहि रुक सकती॥
बाहर कारण सब पाकर भी अहंकार से दुखित हुए।
सब कार्यों में विफल रहे शठ प्रभु तुम कहते सुखित हुए॥३॥

मात्र मरण से भले भीति हो मोक्ष धाम वह नहि मिलता।
शिव की वांछा भर से शिव नहिं मिलता जीवन नहिं खिलता॥
मृत्यु भीति से काम चोर से ठगा हुआ जड़ अज्ञानी।
वृथा व्यथा है सहता फिर भी तुमने कह दी यह वाणी॥४॥

धर्म-रत्न की गवेषण में निरत जनों के नायक हो ।
जननी-सम जड़ जन के हित प्रभु सदुपदेश के दायक हो ।।
सकल विश्व के जड़-चेतन मय सकल तत्त्व के ज्ञायक हो ।
इसीलिए मैं तव गुण-गण-का गीत गा रहा, गायक हो ।।५।।

- दोहा -

अबंध भाते काट के वसु विध विधि का बंध ।
सुपार्श्व प्रभु निज प्रभु-पना पा पाये आनन्द ।।१।।

बांध-बांध विधि-बंध मैं अन्ध बना मति मन्द ।
ऐसा बल दो अंध को बंधन तोड़ूँ *द्वन्द्व* ।।२।।

चन्द्रप्रभ-स्तवन

अपर चन्द्र हो अनुपम जग में जगमग जगमग दमक रहे ।
चन्द्र-प्रभा सम नयन-मनोहर गौर वर्ण से चमक रहे ।।
जीते निज के कषाय-बंधन बने तभी प्रभु जिनवर हो ।
चन्द्रप्रभो ! मम नमन तुम्हें हो सुरपति नमते ऋषिवर हो ।।१।।

परम ध्यानमय दीपक उर में जला आत्म को जगा दिया ।
मोह-तिमिर को मानस-तल से पूर्ण-रूप से भगा दिया ।।
हे प्रभु ! तव तन की श्रीछवि से बाह्य सघनतम दूर भगा ।
दिनकर को लख, तम ज्यों भगता, पूरब में द्युति-पूर उगा ।।२।।

पूरे भीगे कपोल जिनके मद से गज गण मद-धारे ।
सिंह-गर्जना सुनते, डरते, बनते ज्यों निर्मद सारे ।।
निजमत स्थिति से पूर्ण मत्त हो प्रतिवादी ज्यों अभिमानी ।
स्याद्वाद तव सिंहनाद सुन बनते वे पानी-पानी ।।३।।

तप: साधना अद्भुत करके हित-उपदेशक आप्त हुए ।
परम इष्ट पद को तुम प्रभुवर त्रिभुवन में जब प्राप्त हुए ।
अनन्त सुख के धाम बने हो विश्व-विज्ञ अविनश्वर हो ।
जग-दुख-नाशक शासक के ही शासक तारक ईश्वर हो ॥४॥

भगवन् तुम शशि, भव्य कुमुद ये खिलते हैं दृग खोल रहे ।
राग-रोष मय मेघ तुम्हारे चेतन में नहिं ड़ोल रहे ॥
स्याद्वाद मय विशद वचन की मणिमय माला पहने हो ।
परमपूत हो, पावन कर दो, मम मन वस में रहने दो ॥५॥

- दोहा -

चद्र कलंकित, किन्तु हो चन्द्र प्रभु अकलक ।
वह तो शंकित केतु से शंकर तुम नि:शंक ॥१॥

रंक बना हूँ मम अत: मेटो मन का पंक ।
जाप जपूँ जिन-नाम का बैठ सदा पर्यंक ॥२॥

पुष्पदंत-स्तवन

विरोध एकान्ती का करता तर्कादिक से सिद्ध सही ।
तदतत्-स्वभाव धारक यानी मुख्य-गौण हो कहीं-कहीं ॥
सुविधि नाथ प्रभु आत्मज्योति से तत्त्व प्ररूपित सही किया ।
तुम मत से विपरीत मतों ने जिसका स्वाद न कभी लिया ॥१॥

स्वभाव-वश औ अन्यभाव-वश तत्त्व रहा वह नहीं रहा ।
क्योंकि कथंचित उसी तरह ही प्रतीत होता सही रहा ॥
निषेध-विधि में कभी सर्वथा अनन्यपन या अन्यपना ।
होते नहिं हैं जिन मत गाता तत्त्व अन्यथा शून्य बना ॥२॥

वही रहा यह प्रतीत इसविध तत्त्व अत: यह नित्य रहा ।
अन्य रूप ही झलक रहा है इसीलिए नहि नित्य रहा ।।
बाहर-भीतर के कारण औ कार्य-योग वश, तत्त्व वही ।
नित्यानित्यात्मक सगत है तव मत का यह सत्त्व सही ।।३।।

एक द्रव्य वश अनेक गुण वश वाच्य रहा वह वाचक का ।
''वन है तरु है''इस विध कहते भाव विदित ज्यों गायक का ।।
सर्व धर्म के कथन चाहते गौणपक्ष पर नहिं माने ।
एकान्ती मत कहते उनको स्याद्-पद दुखकर, बुध जाने ।।४।।

गौण-मुख्य मय अर्थ-युक्त तव दिव्य वाक्य है सुख-कारी ।
यदपि तदपि तुम मत से चिढ़ते उनको निश्चित दुखकारी ।।
साधु राज हे चरण-कमल तव सुर-नर-पति से वंदित हैं ।
अत: मुझे भी वन्दनीय हैं सुरभित-सौम्य-सुगधित हैं ।।४।।

- दोहा -

सुविध ! सुविधि के पूर हो, विधि से हो अति दूर ।
मम मन से मत दूर हो, विनती हो मंजूर ।।१।।

बाल मात्र भी ज्ञान ना मुझ में मैं मुनि-बाल ।
बवाल भव का मम मिटे प्रभु पद में मम भाल ।।२।।

शीतलनाथ-स्तवन

ना तो मलयाचल चंदन औ चन्द्र चान्दनी शीतल है ।
शीतल गंगा का भी जल नहिं मणिमय माला शीतल हैं ।।
हे मुनिवर तव वचन-किरण में प्रशम भाव-मय नीर भरा ।
शीतलतम है, बुधजन जिसका सेवन करते पीर हरा ।।१।।

विषय-सौख्य की चाह-दाह से क्लान्त किया था तप्त किया ।
निज के मन को ज्ञान-नीर से शान्त किया तुम तृप्त किया ।।
वैद्य-राज ज्यों मंत्र-शक्ति से जहर शक्ति को हरता है ।
जहर-दाह से मूर्च्छित निज के तन को सुशान्त करता है ।।२।।

जीवन की औ काम सौख्य की तृष्णा के जो नौकर हैं ।
जड़ दिन-भर श्रम कर थक रात बिताते सो कर है ।।
शुचि-तम निज आतम मेंतुम तो निशि-दिन निश्चल जाग रहे ।
यही आर्य ! अनिवार्य कार्य तव, प्रमाद रिपु-सम त्याग रहे ।।३।।

सुर-सुख की, सुत-धन की, धन की तृष्णा जिनके मन में है ।
ऐसे ही कुछ जड़ जन, तापस, बन तप तपते वन में हैं ।।
किन्तु, जनन-मृति-जरा मिटाने, समधी बन यम धार लिया ।
मन वच तन की क्रिया मिटा दी, तुमने भव-दधि पार किया ।।४।।

धवलित केवलज्ञान-ज्योति हो जन्म रहित दुख सर्व हरें ।
आप कहाँ ये अन्य कहाँ जड़ अल्प ज्ञान ले गर्व करें ।।
शिव-सुख के अभिलाषी बुधजन अतः सदा तव गुण गाते ।
शीतल प्रभु मुझ शीतल कर दो तुम्हें भजे मम मन तातैं ।।५।।

- दोहा -

शीतल चन्दन है नहीं शीतल हिम ना नीर ।
शीतल जिन ! तव मत रहा शीतल, हरता पीर ॥१॥

सुचिर काल से मैं रहा मोह-नींद से सुप्त ।
मुझे जगा कर, कर कृपा प्रभो करो परितृप्त ॥२॥

श्रेयोनाथ-स्तवन

दोष-रहित, शुभ वचन सुधारों श्रेयन् ! जिन ! अघ गला दिया ।
हित पथ दर्शित कर हित पथ पर हितैषियों को चला दिया ॥
एक अकेले विलसित हो तुम त्रिभुवन में ज्यों उदित हुआ ।
मेघ-रहित इस विशाल नभ में रवि लसता, जग मुदित हुआ ॥१॥

अस्तिपना जो नास्तिपना मय प्रमाण का वह विषय बना ।
अस्ति-नास्तिपन में इक होता गौण एक तो प्रमुख बना ॥
प्रमुख बनाया, जिसको उसके नियमन का नय हेतु रहा ।
दृष्टान्त का रहा समर्थक जिन दर्शन का केतु रहा ॥२॥

प्रासंगिक जो मुख्य कहाता तव मत कहता पुण्य मही ।
प्रासंगिक जो नहीं रहा सो गौण भले पर शून्य नहीं ॥
मित्र कथंचित शत्रु मित्र हो किसी अपेक्षा अनुभव हो ।
सगुण गुणी अस्तिनास्ति वश वस्तु कार्य में सक्रिय हो ॥३॥

समुचित है दृष्टान्त जभी से लोक सिद्ध वह मिल जाता ।
वादी-प्रतिवादी का झगड़ा स्वयं शीघ्र तव मिट जाता ॥
मतैकान्त का पोषक तव मत में मिलता दृष्टान्त नहीं ॥
साध्य-हेतु दृष्टान्तन में मत चूंकि श्रेष्ठ नैकान्त सही ॥४॥

स्याद-वाद मय रामबाण से रगरग जिसको छेद दिया ।
एकान्ती मत का मस्तक प्रभु पूर्ण रूप से भेद दिया ॥
लाभ लिया कैवल्य विभव का मोह-शत्रु का नाश किया ।
अत: बने अरहन्त तभी मम मन तुम पद में वास किया ॥५॥

- दोहा -

अनेकान्त की कान्ति से हटा तिमिर एकान्त ।
नितान्त हर्षित कर दिया क्लान्त विश्वको शान्त ॥१॥

निश्रेयस् सुख-धाम हो हे जिन वर श्रेयांस ।
तव थुति अविरल मैं करूँ जब लौं घट में श्वास ॥२॥

वासुपूज्यनाथ-स्तवन

मंगल कारक गर्भ जन्म मय कल्याणों में पूज्य हुए ।
वासुपूज्य प्रभु शत इन्द्रों से तुम पद-पकज पूज्य हुए ॥
हे मुनि-नायक लघु धी मैं हूँ मेरे भी अब पूज्य बनें ।
पूजा क्या नहिं दीपक से हो रवि की जो द्युति-पुंज तनें ॥१॥

वीतराग जिन बने तुम्हें अब पूजन से क्या अर्थ रहा ।
बैरी कोई रहे न तब फिर निंदक भी अब व्यर्थ रहा ॥
फिर भी तव गुण-गण-स्मृति से प्रभु परम लाभ है वह मिलता ।
निर्मलतम जीवन है बनता मम मन-मल सब यह धुलता ॥२॥

पूजन पूजक पूज्य प्रभो ! जिन तब जब करता भव्य यहाँ ।
अल्प पाप तब पाता फिर भी पाता पावन मुख्य महा ॥
किन्तु पाप वह ताप नहीं है घटना-भर अनिवार्य रही ।
सुधा-सिन्धु में विष-कण करता बाधक का कब कार्य कहीं ? ॥३॥

उपादानमय मूल हेतु का बाह्य द्रव्य ले सहकारी ।
श्रावक जब तक पूजन करता पाप-पुण्य का अधिकारी ॥
किन्तु साधु जब पूजन करते संग-रहित ही जो रहते ।
पुण्य-पाप में भाव शुभाशुभ केवल कारण, जिन कहते ॥४॥

बाह्याभ्यन्तर हेतु परस्पर यथायोग्य ये मिले सही ।
तभी कार्य सब जग के बनते द्रव्य धर्म बस दिखे यही ॥
मोक्ष कार्य में यही व्यवस्था पर इससे विपरीत नहीं ।
अत: वन्द्य तुम बुध जन से ऋषि-पति हो, कहता गीत सही ॥५॥

- दोहा -

औ न दया बिन धर्म ना, कर्म कटे बिन धर्म ।
धर्म मर्म तुम समझकर, कर लो अपना कर्म ॥

वासुपूज्य जिनदेव ने, देकर यूँ उपदेश ।
सबको उपकृत कर दिया, शिव में किया प्रवेश ॥

विमलनाथ-स्तवन

तत्व नित्य या क्षणिक सर्वथा इत्यादिक जो नय गाते ।
कलह परस्पर करते मरते सभी परस्पर भय खाते ॥
विमल नाथ प्रभु अनेकान्तमय तुम-मत के जो नय मिलते ।
बने परस्पर पूरक, हिल-मिल सभी कथंचित् पथ चलते ॥१॥

निजी सहायक शेष कारकों को आपेक्षित करते हैं ।
एक-एक कर जिस विध कारक कार्य सिद्ध सब करते हैं ॥
समानता को विशेषता को लखते हैं क्रमवार भले ।
उस विध तव नय गौण-मुख्य हो वक्ता के अनुसार चले ॥२॥

ज्ञानमयी हो स्व-पर प्रकाशक प्रमाण जिस विध निश्चित हैं ।
जैनागम में निराबाध वह स्वीकृत है औ समुचित हैं ।।
अभेद-मय औ भेद-ज्ञान में सदा मित्रता शुद्ध रही ।
समानता और विशेषता की समष्टि जिन से सिद्ध रही ।।३।।

किसी वस्तु की विशेषता का, कथक विशेषण होता है ।
विशेषता जिसकी की जाती विशेष्य बस वह होता है ।।
किन्तु विशेषण विशेष्य इनमें नित्य निहित सामान्य रहा ।
स्यात् पद-वश प्रासंगिक होता मुख्य-गौण तब अन्य रहा ।।४।।

स्यात पद भूषित तव नय बनते सुर सुख शिव सुख-दाता हैं ।
जिस विध पारस योग प्राप्त कर लोह स्वर्ण बन जाता है ।।
अत: हितैषी सविनय होते तव पद में प्रणिपात रहे ।
परम पुण्य का फलत: बुधजन लाभ लुटा दिन-रात रहे ।।५।।

- दोहा -

कराल काला व्याल सम कुटिल चाल का काल ।
मार दिया तमने उसे फाड़ा उसका गाल ।।१।।

मोह-अमल वश समल बन निर्बल मैं भयवान ।
विमलनाथ तुम अमल हो संबल दो भगवान ।।२।।

अनन्तनाथ-स्तवन

चिर से जीवित तुम उर में था मोह-भूत जो पाप-मयी ।
अमित-दोष का कोष रहा था जिसका तन परिताप मयी ।।
उसे जीत कर बने विजेता आत्म तत्त्व के रसिक हुए ।
अत: नाम तब अनन्त सार्थक, तव सेवक हम भविक हुए ।।१।।

समाधि-मय गुणकारी औषध, का तुमने अनुपान किया ।
दुर्निवार संतापक दाहक काम रोग का प्राण लिया ।।
रिपु-सम दु:खद कषाय-दल का और पूर्णत: नाश किया ।
पूर्णज्ञान पर परमजोति से त्रिभुवन को परकाश दिया ।।२।।

भरी लबालब श्रम के जल से भय-मय लहरें उपजाती ।
विषय-वासना-सरिता तुममें चिर से बहती थी आती ।।
उसे सुखा दी अपरिग्रहमय तरुण अरुण की किरणों से ।
मुक्ति-वधु वह हुई प्रभावित इसीलिए तब चरणों से ।।३।।

भक्त बना तब निरत भक्ति में भुक्ति मुक्ति सुख वह पाता ।
तुम से जो चिढ़ता वह निश्चित प्रत्यय-सम मिट दुख पाता ।।
फिर भी निन्दक वंदक तुम को सम हैं समता-धाम बने ।
तब परिणति प्रभु विचित्र कितनी निज रस में अविराम सने ।।४।।

तुम ऐसे हो तुम वैसे हो मम-लघु धी का कुछ कहना ।
केवल प्रलाप-भर हैं मुनिवर ! भक्ति-भाव में बस बहना ।।
तव महिमा का पर नहीं पर अल्प मात्र भी तारण हैं ।
अमृत-सिन्धु का स्पर्श तुल्य बस शान्ति सौख्य का कारण हैं ।।५।।

- दोहा -

अनन्त गुण पा कर दिया अनन्त भव का अन्त।
अनन्त सार्थक नाम तव अनन्त जिन जयवन्त ॥१॥

अनन्त सुख पाने सदा भव से हो भयवन्त।
अन्तिम क्षण तक मैं तुम्हें स्मरूं स्मरें सब सन्त ॥२॥

धर्मनाथ-स्तवन

वीतराग-मय धर्मतीर्थ को किया प्रसारित त्रिभुवन में।
धर्म नाम तव सार्थक गणधर गुरू जो मुनिगण में ॥
सघन कर्म के वन को तपमय तेज अनल से जला दिया।
शंकर बन कर सुखकर शिव-सुख पाकर जग को जगा दिया ॥१॥

भद्र भव्य सुर-नरपति गण नत तुम पद में अति मोहित हैं।
मुनिगण-नायक गणधर से प्रभु आप घिरे हैं शोभित हैं ॥
जैसा नभ में पूर्ण कला ले शान्त चन्द्रमा निखरा हो।
जिसके चारों ओर विहसता तारक-दल भी बिखरा हो ॥२॥

छत्रादिक से सजा हुआ जिस समवशरण में निवस रहे।
विरत किन्तु निज तन से भी हो निरीह सब से विलस रहे ॥
नर, सुर, किन्नर भव्य जनों को शिव-पथ दर्शित करा रहे।
प्रति-फल की कुछ वांछा नहिं पर हमको हर्षितकरा रहे ॥३॥

तन की मन की और वचन की चेष्टाएँ तब होती हैं।
किन्तु बिना इच्छा के केवल सहज भाव से होती हैं ॥
थोथी यदवा-तदवा भी नहिं सही ज्ञान से सहित सभी।
धीर! नीर-निधि-सम तव परिणति, अचिंत्य-लखबुध, मुक्ति सभी ॥४॥

मानवता से ऊपर उठ कर ऊपर उन्नत चढ़े हुए ।
सुर, सुर-पालक देवों में भी पूज्य हुए हो बड़े हुए ॥
इसीलिए देवाधिदेव हो परम इष्ट जिन ! नाथ हुए ।
हम पर करुणा कर दो शिव-सुख, तुम पद में नत-माथ हुए ॥५॥

- दोहा -

दया धर्म वर धर्म हैं अदया-भाव अधर्म ।
अधर्म तज प्रभु धर्म ने, समझाया पुनि धर्म ॥१॥

धर्मनाथ को नित नमूँ सधे शीघ्र शिव शर्म ।
धर्म-मर्म को लख सकूँ मिटे मलिन मम कर्म ॥२॥

शान्तिनाथ-स्तवन

प्रजा सुरक्षित कर रिपुओं से निजी राज्य अविभाज्य किया ।
सुचिर काल तक प्रतापशाली अजेय राजा राज्य किया ।
स्वयं आप मुनि बन वन में पापों का अतिशमन किया ।
शान्तिनाथ जिन ! दया-धाम हो शान्ति-रमा से रमण किया ॥१॥

पुण्य-पुरुष चक्री बन तुमने चक्र दिखा कर डरा दिये ।
छहों खण्ड के नराधिपों को पूर्ण रूप से हरा दिये ॥
समाधि-मय निज दिव्य चक्र पुनि मोह-शत्रु पे चला दिया ।
दुर्नय-दुर्जय दुष्ट क्रूर को मिट्टी में बस मिला दिया ॥२॥

राजाओं-के-राजा बन कर राजसभा में राजित थे ।
लघु राजाओं के सुख-साधन तुम पर ही निर्धारित थे ॥
किन्तु पुनः जब निजाधीन हो आर्हत पद को प्राप्त हुए ।
अगणित अमरासुर पतिगण में हुए सुशोभित, आप्त हुए ॥३॥

नरेन्द्र जब थे, नरपति-दल ने तब चरणों में शरण लिया ।
सदय बने जब मुनिवर तुम को दया-धर्म को नमन किया ।।
पूज्य बने जिन तव पद युग में सुरदल आ प्रणिपात हुआ ।
ध्यानी बनते, कर्म विनसता, हाथ जोड़, नत-माथ हुआ ।।४।।

निजी दोष सब पूर्ण मिटा कर, प्रथम प्रशम बन शान्त हुए ।
शान्ति दिलाते शरणागत को, सुचिर काल से क्लान्त हुए ।।
शान्तिनाथ जिन ! शान्ति विधायक, शान्त मुझे अब आप करो ।
शरण, चरण में मुझे दिला कर भव-भव का मम ताप हरो ।।५।।

- दोहा -

शान्तिनाथ हो शान्त, कर सातासाता सान्त ।
केवल, केवल-ज्योतिमय क्लान्ति मिटी सब ध्वान्त ।।१।।

सकल ज्ञान से सकल को जान रहे जगदीश ।
विकल रहे जड़ देह से विमल नमूँ नतशीश ।।२।।

कुन्थुनाथ-स्तवन

चक्री बन शासित नरपों को प्रथम किया यश सुख पाने ।
तीर्थंकर बन धर्म-चक्र, फिर चला दिया निजै-घर जाने ।।
जरा जनन मृति रोग मिटाने सदय स्वीजन बना लिया ।
कुन्थु कृमी आदिक जीवों पर, कुन्थु जिनेश्वर दया किया ।।१।।

स्वभाव से ही तृष्णा-ज्वाला सदा धधकती वह जलती ।
भोग्य वस्तुएँ भले भोग लो तृष्णा बुझती नहिं बढ़ती ।।
विषय-सौख्य तो निमित्त केवल, हर सकते ! तन-ताप भले ।
विमुख हुए हैं अतः विषय से, मुनि बन, शिव-पथ आप चले ।।२।।

कष्ट-साध्य बहु बाह्य तपों से तन को मन को जला दिया ॥
आभ्यंतर तप उद्दीपित हो यही प्रयोजन बना लिया ।।
आर्त ध्यान को, रौद्र ध्यान को, पूर्ण ध्यान से हटा दिया,
धर्म ध्यान में, शुक्ल ध्यान में, क्रमशः निज को बिठा दिया ॥३॥

रत्नत्रयी मय होम-कुण्ड को योग अनल से तेज किया ।
होमा जिसमें घाति कर्म को यम-पुर रिपु को भेज दिया ॥
अतुल वीर्य पा सकल ज्ञेय के प्रतिपादक आगम-कर्त्ता ।
विलस रहे प्रभु मेघ-रहित नभ में जिस विध रवि तम-हर्ता ॥४॥

विद्या-धन का निधान दुर्लभ मुनिवर ! तुम में अहा खुला ।
ब्रह्मा महेश आदिक को पर जिसका कण भी कहाँ मिला ॥
अमिट-अमित हो स्तुत्य बने हो जन्म-रहित जिन-देव ! तभी ।
निज हित-इच्छुक अतः सुधी ये तुम्हें भजे स्वयमेव सभी ॥५॥

- दोहा -

ध्यान-अग्नि से नष्ट कर प्रथम पाप परिताप ।
कुन्थुनाथ पुरुषार्थ से बने न अपने-आप ॥१॥

ऐसी मुझ पे हो कृपा मम मन मुझमें आय ।
जिस विध पल में लवण है जल में घुल मिल जाय ॥२॥

अरहनाथ-स्तवन

किसी पुरुष के अल्प गुणों का बढ़ा-चढ़ा कर यश गाना ।
जग में बुधजन कविजन कहते स्तुति का वह सब बाना ।।
पूज्य बने हो ईश बने हो अगणित गुण के धाम बने ।
ऐसी स्थिति में आप कहो फिर कैसे स्तुति का काम बने ।।१।।

यदपि मुनीश्वर की स्तुति करना रवि को दीपक दिखलाना ।
तदपि भक्ति-वश मचल रहा मन कुछ रहने को अनजाना ।।
तथा अल्प भी जो तव यश का भविक यहाँ गुण-गान करें ।
शुचितम बनता, क्यों ना हम फिर तव थति-रस का पान करें ।।२।।

चौदह मनियाँ निधियाँ नव भी चक्री तुम थे तुम्हें मिली ।
हाथी छोड़े कोटि, नारियाँ कुछ कम लाखों तुम्हें वरी ।।
मुमुक्षुपन की किन्तु किरण जो तुम में जगमग जभी जगी ।
सार्वभौम पदवी भी तुमको जीरण तृण सम सभी लगी ।।३।।

सविनय द्वय नयनों से तव मुख छवि को जब अनिमेष लखा ।
किन्तु तृप्त वह हुआ नहीं पर लख-लख कर अमरेश थका ।।
सहस्र लोचन खोल लिये फिर निजी ऋद्धि से काम लिया ।
चकित हुआ तब अंग-अंग का प्रभु दर्शन अभिराम किया ।।४।।

मोहरूप रिपु-भूप, पाप-का-बाप, ताप का कारक है ।
कषाय-मय सेना का चालक, चेतन निधि का हारक है ।।
समकित-चारित-भेदज्ञान मय कर में खर तर-बार लिया ।
किया वार निज मोह-शत्रु पर धीर आपने, मार दिया ।।५।।

तीन लोक को अपने बल पर जीत विजेता बना हुआ ।
काम समझ यों लोक-ईश मैं व्यर्थ गर्व से तना हुआ ।।
धीर वीर जिन किन्तु आप पर प्रभाव उसका नहीं पड़ा ।
लज्जित होकर शिशु-सा आकर तव चरणों में तभी पड़ा ।।६।।

इस भव में भी पर भव में भी दुस्सह दुख की है जननी ।
तृष्णा-रूपी नदी भयंकर यह नरकों की वैतरणी ॥
इसका पाना पार कठिन है कई तैरते हार गये ।
वीतराग-मय ज्ञान-नाव में बैठ किन्तु प्रभु पार गये ॥७॥

सदा काल से काल जगत को रुला रहा था सता रहा ।
जन्म-रोग को मित्र बना कर जीवन अपना बिता रहा ॥
महाकाल बिकराल किन्तु प्रभु काल आपने विकल किया ।
कुटिल चाल को छोड़ काल ने सरल चाल में बदल दिया ॥८॥

शस्त्रों, वस्त्रों, पुत्र, कलत्रों, आभरणों से रहित रहा ।
विराग विद्या दया दमन से पूर्ण रूप से सहित रहा ॥
इस विध जो तव रूप मनोहर मौन रूप से बोल रहा ।
धीर ! रहित हो सकल दोष से जब जीवन अनमोल रहा ॥९॥

तव तन की अति प्रखर ज्योतिमा फैल रही चहुँ ओर सही ।
फलत: बाहिर सघन तिमिर सब भगा, हुआ हो भार कहीं ॥
इसी तरह निज शुद्धातम के परम विभा से नाश किया ।
मोह-मयी अतिघनी निशा का, निज-घर शिव में वास किया ॥१०॥

सकल विश्व का जानन हारा तुममें केवलज्ञान हुआ ।
समवशरण आदिक अनुपम तन अतिशय आविर्भाव हुआ ॥
पुण्य-पाक मय इस अतिशय को भविक जनों ने निरखा हो ।
तव पद में नत क्यों ना होवे दोष गुणन को परखा हो ॥११॥

जिसकी भाषा, उस भाषा में उसको समझाती वाणी ।
अमृतमयी है जिनवाणी है ज्ञानी कहते कल्याणी ॥
समवशरण में फैल सभी के कर्ण तृप्त भी है करती
सुधा जगत में जिस विध, जन-जन को सुख दे सब दुख हरती ॥१२॥

अनेकान्त तव दृष्टि रही है सत्य तथ्य बुध-मीत रही ।
तथ्य-हीन एकान्त दृष्टि है औरों की विपरीत रही ॥
एकान्ती का जो कुछ कहना असत्य भी है उचित नहीं ।
और रहा निज मत का घातक इसीलिए वह मुदित नहीं ॥१३॥

पर मत की कमियों को लखने नेत्र खोलकर जाग रहे ।
निज-कमियाँ लख भी नहिं लखते जैसे सोते नाग (हाथी) रहे ॥
निज मत थापित पर मत बाधित करने में भी निर्बल है ।
तापस वे नहिं समझ सकेंगे तव मत जो अति निर्मल है ॥१४॥

एकान्ती जन दोष-बीज ही सदा निरन्तर बोते हैं ।
निज मत घातक दोष मिटाने सक्षम नहिं वे होते हैं ॥
अनेकान्त तव मत से चिढ़ते आत्महनक हैं बने हुए ।
अवक्तव्य ही "तत्त्व सर्वथा" जड़ जन कहते तने हुए ॥१५॥

अवक्तव्य वक्तव्य नित्य या अनित्य ही यह वस्तु रही ।
सदसत् या है एक रही या अनेक अथवा वस्तु रही ॥
कहें सर्वथा यों नय करते वस्तु-तत्त्व को दूषित हैं ।
पोषित करते, किन्तु आपके स्याद् पद से नय भूषित हैं ॥१६॥

प्रमाण द्वारा ज्ञात विषय की सदा अपेक्षा रखता है ।
किन्तु 'सर्वथा नियम' रखे बिन वस्तु-भाव को चखता है ॥
ऐसा स्याद् पद पर मत का नहिं तव मत का शृंगार रहा ।
अतः 'सर्वथा पद' ही परमत निजमत को संहार रहा ॥१७॥

प्रमाण नय साधन से साधित अनेकान्त-मय तव मत में ।
अनेकान्त भी अनेकान्त है जिसका सेवक अवनत मैं ॥
पूर्ण वस्तु को विषय बनाते प्रमाण-वश नैकान्त बने ।
वस्तु-धर्म हो एक विवक्षित, नय-वश तब एकान्त तने ॥१८॥

निराबाध और निरुपम शासन के शासक गुण-धारक हो ।
सुखद-योग-गुण-पालन का पथ दिखलाते अघ मारक हो ॥
इन्द्रिय-विजयी धर्म तीर्थ के हे अर जिन तुम नायक हो ।
तुम बिन, भविजन हितपथ दर्शक, अन्य कौन ? सुखदायक हो ॥१९॥

आगम का भी अल्प ज्ञान है पूर्ण ज्ञान वह मिला नहीं ।
मंद बुद्धि मम, विशद नहीं है भक्ति-भाव मिला यहीं ॥
मानस आगम-बल से फिर भी जो कुछ तव गुणगान किया ।
पाप-शमन का हेतु बनेगा वरद ! यही अनुमान लिया ॥२०॥

- दोहा -

नाम-मात्र भी नहिं रखो नाम-काम से काम ।
ललाम आतम में करो विराम आठों याम ॥१॥

नाम धरो 'अर' नाम तव अन्त: स्मरूँ अविराम ।
अनाम बन शिव-धाम में काम बनूँ कृत-काम ॥२॥

मल्लिनाथ-स्तवन

बने महा ऋषि जब तुम, तुममें सुसुप्त जागृत योग हुआ ।
लोकालोकालोकित करता अतुलनीय आलोक हुआ ॥
इसीलिए बस सादर आकर अमराकर नर-जगत सभी ।
जोड़ करों को हुआ प्रणत तव, पद में हूँ मुनि जगत अभी ॥१॥

तव तन आभा तप्त स्वर्ण-सी तन की चारों ओर सही ।
परिमण्डल की रचना करती यह शोभा नहिं और कहीं ॥
वस्तु-तत्त्व को कहने आतुर स्याद्-पद वाली तव वाणी ।
दोनों मुनिजन को हर्षाती जिनकी शरणा सुखदानी ॥२॥

मनमानी तज प्रतिवादी जन तव सम्मरव हो गतमानी ।
वाद करे ना कुतर्क करते जब प्रभु पूरण हो ज्ञानी ॥
तथा आपके शुभ दर्शन से हरी-भरी हो भी लसती ।
खिली कमलिनी मृदुतम-सी यह धरा सुन्दरा भी हँसती ॥३॥

शान्त कान्ति से शोभ रहे हैं पूर्ण चन्द्रमा जिनवर हैं ।
शिष्य-साधु चहुँ-ओर घिरे हैं गृह-बन गणधर मुनिवर हैं ॥
तीर्थ आप का ताप मिटाता अनुपम सुख का हेतु रहा ।
दुखित भव्य भव पार कर सके भव-सागर का सेतु रहा ॥४॥

शुक्ल ध्यान मय तपश्चरण के दीप्त अनल से जला जला ।
राख किया कटु पाप कर्म को तभी तुम्हें शिव किला मिला ॥
शल्य-रहित कृत-कृत्य बने हो मल्लिनाथ जिन पुंगव हो ।
चरणों में दो शरण मुझे अब भव-भव पुनि ना संभव हो ॥५॥

- दोहा -

मोह मल्ल को मार कर मल्लिनाथ जिनदेव ।
अक्षय बनकर पा लिये अक्षय सुख स्वयमेव ॥१॥

बाल ब्रह्मचारी विभो बाल समान विराग ।
किसी वस्तु से राग ना मम तव पद से राग ॥२॥

मुनिसुव्रतनाथ-स्तवन

मुनि बन मुनि-पथ चलते मुनिपन में दृढ़ हो मुनिनाथ हुए ।
मुनिसुव्रत प्रभु पाप-रहित हो निज में रत दिन-रात हुए ॥
मुनियों की उस भरी सभा में अनुपम द्युति से शोभ रहे ।
तारक गण के ठीक बीच ज्यों शोभित शीतल सोम रहे ॥१॥

द्वादश विध खर तप कर तुमने देह-मोह सब भुला दिया ।
काम रोग को अहंकार को पूर्ण रूप से जला दिया ॥
मोर-कण्ठ-सम सघन नीलिमा फलतः तव तन में फूटी ।
पूर्णचन्द्र के परितः फैली मण्डल-द्युति पड़ती झूठी ॥२॥

चन्द्र-चाँदनी-सम धवलित शुचि रुधिर भरा है तव तन में ।
परम सुगंधित निर्मल तन है ऐसा तन ना त्रिभुवन में ॥
केवल मुख-कर नहीं किन्तु तव तन मन वच की परिणतियाँ ।
विस्मय जग को सदा करातीं जिन से मिटती चहुँ गतियाँ ॥३॥

युगों-युगों से जड़-चेतन ये जग के पदार्थ सारे हैं ।
ध्रौव्य-जनन-मय तथा नाशमय लक्षण यथार्थ धारे हैं ॥
इस विध तव वाणी यह कहती, सकल विश्व के ज्ञायक हैं ।
शिव पथ शासन कर्त्ताओं में कुशल आप हो शासक हैं ॥४॥

निरुपम चौथे शुक्ल ध्यान मय संबल निज में जगा लिया ।
अष्टकर्म-मल पाप-किटट को जला-जला कर मिटा दिया ॥
भवातीत उस मोक्ष-सौख्य का लाभ आपने उठा लिया ।
करो नाश अब मम भव का भी, मन में तव पद बिठा लिया ॥५॥

- दोहा -

मुनि बन मुनिपन में निरत हो मुनि यति बिन स्वार्थ ।
मुनिव्रत का उपदेश दे हमको किया कृतार्थ ॥१॥

यही भावना मम रही मुनिव्रत पाल यथार्थ ।
मैं भी मुनिसव्रत बनूँ पावन पाय पदार्थ ॥२॥

नमिनाथ-स्तवन

स्तुत्य रहे या नहीं रहे, फल उसे मिले या नहीं मिले ।
स्तुति जब करता सज्जन मन में पुण्य-भाव की कली खिले ॥
निजाधीन औ सुलभ मोक्षपथ जग में इस विध बनता हो ।
पूज्य ईश नमि जिन फिर क्यों ना तव थुति रत बुध जनता हो ॥१॥

परम ब्रह्म रत हो तोड़ा भव-बंधन प्रभु कृत-काम बने ।
इसीलिए जिन सुधीजनों के बोध-धाम शिव-धाम बने ॥
ज्ञान-ज्योति अति प्रखर किरण ले उदित हुई फलतः तुम में ।
पर-मत जुगनू सम कुंदित हैं तेज उदित हो रवि नभ में ॥२॥

अस्ति नास्ति औ उभय रूप भी अवक्तव्य भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी तीन रूप यों सप्त भंगमय तत्त्व रहा ॥
आपस में आपेक्षित बहुविध धर्मों से जो भरित रहा ।
गौण-मुख्य कर बहुनय-वश वह लोक ईश से कथित रहा ॥३॥

अणु-भर भी षडारम्भ हो वहाँ दया यह नहीं रहे ।
जीव-दया सो परम-ब्रह्म है जग में बुधजन यही कहें ॥
अतः दया की प्राप्ति हेतु प्रभु करुण भाव से पूर रहें ।
उभय संग तज बनो दिगंबर विकृत वेष से दूर रहे ॥४॥

भूषण वसनादिक से रीता नग्न काय तव यों गाता ।
जीता तुमने काम-बली को जित इन्द्रिय हो हो धाता ॥
तीक्ष्ण शस्त्र निज उर में थित अदय क्रोध का नाश किया ।
निर्मोही हो अतः शरण दो शान्ति-सदन में वास किया ॥५॥

- दोहा -

अनेकान्त का दास हो अनेकान्त की सेव ।
करूँ गहूँ मैं शीघ्र से अनेक गुण स्वयमेव ॥१॥
अनाथ मैं जगनाथ हो नमीनाथ दो साथ
तव पद में दिन-रात हूँ हाथ जोड़ नत-माथ ॥२॥

नेमिनाथ-स्तवन

ऋद्धि-सिद्धि के धारक, ऋषि हो, प्राप्त किया है निज धन को।
शुक्ल ध्यान मग्न तेज अनल से जला दिया विधि-इंधन को ॥
खिले-खुले तव नील कमल-सम, युगल-सुलोचन विकसित हैं।
सकल ज्ञान से सकल निरखते भगवन जग में विलसित हैं ॥१॥

विनय-दमादिक पाप-रहित-पथ के दर्शक तीर्थंकर हो।
लोक-तिलक हरिवंश मुकुट हो, संकट के प्रलयंकर हो ॥
हुए शील के अपार सागर, भवसागर से पार हुए।
अजरामर हो अरिष्ट नेमी जिनवर! जग में सार हुए ॥२॥

झिलमिल-झिलमिल मणियों से जो जड़ित मुकुट को चढ़ा रहे।
तव चरणों में अवनत सुरपति और मंजुता बढ़ा रहे ॥
कोमल-कोमल लाल-लाल तव युगल पाद-तल विमल लसे।
तालाबों में खुले-खिले-ज्यों लाल दलों से कमल लसे ॥३॥

शरद-काल के पूर्ण चन्द्र की शुभ्र चाँदनी-सी लसती।
पूज्य-पाद की नखावली ये जिनमें जा मम मति बसती ॥
थुति करते नित तव पद में नत प्रभु दर्शन की आस लगी।
बुध-ऋषि, जिन को जिन आतम सुख की चिर से अतिप्यास लगी ॥४॥

तेज-भानु-सा चक्र-रत्न से जिनके कंधे शोभित हैं।
घिरे हुए हैं स्वजन बंधुओं से जो पर में मोहित हैं ॥
सघन-मेघ-सम नील वर्ण का जिन का तन जगनामी है।
भ्रात चचेरे कृष्ण-राज तव तीन खण्ड के स्वामी हैं ॥५॥

स्वजन-भक्ति से मुदित रहे है जन-जन के जो सुखकर हैं।
धर्म-रसिक हैं विनय-रसिक हैं इस विध चक्री हलधर हैं ॥
भक्ति-भाव से प्रेरित होकर नेमिनाथ तव! चरणन में।
दोनों आकर बार-बार नत होते हर्षित तन-मन में ॥६॥

सौराष्ट्र में, वृषभ-कंध-सम उन्नत पर्वत अमर रहें ।
खेचर महिलाओं से सेवित जिसके शोभित शिखर रहें ।।
बादल-दल-से जिसके तट भी सदा घिरे ही रहते हैं ।
जहाँ इन्द्र ने तव गुण लक्षण लिखे, जिन्हें बुध कहते हैं ।।७।।

तव गुण लक्षण धारण करता अतः तीर्थ वह महा बना ।
ऊर्जयन्त फिर ख्यात हुआ है पुराण कहते महामना ।।
सुचिर काल से आज अभी भी जिसका वन्दन करते हैं ।
ऋषि-गण भी अति प्रसन्न होते सफल स्वजीवन करते हैं ।।८।।

बाहर से भी भीतर से भी ना तो साधक बाधक हो ।
इन्द्रिय गण हो यद्यपि तुममें तदपि मात्र प्रभु ज्ञायक हो ।।
एक साथ जिननाथ, हाथ की रेखा सम सब त्रिभुवन को ।
जान रहे हो देख रहे हो विगत-अनागत कण-कण को ।।९।।

इसीलिए यति मुनिगण से प्रभु-पद युग्म-पूजित सुखदाता ।
अद्भुत से अद्भुत तम आगम-संगत चारित तव साता ।।
इस विध तव अतिशय का चिन्तन करके मन में मुदित हुआ ।
जिन-पद में अति निरत हुआ हूँ आज भव्य शुभ उदित हुआ ।।१०।।

- दोहा -

नील गगन में अधर हो शोभित निज में लीन ।
नील कमल आसीन हो नीलम से अति नील ।।१।।

शील-झील में तैरते नेमि जिनेश सलील ।
शील डोर मुझ बाँध दो डोर करो मत ढील ।।२।।

पार्श्वनाथ-स्तवन

जल वर्षाते घने बादले काले-काले डोल रहे ।
झंझा चलती बिजली कड़की घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे ॥
पूर्व वैर-वश कमठ देव हो इस विध तुमको कष्ट दिया ।
किन्तु ध्यान में अविचल प्रभु हो घाति कर्म को नष्ट किया ॥१॥

द्युति-मय बिजली-सम पीला निज फण का मण्डप बना लिया ।
नाग इन्द्र तव कष्ट मिटाने तुम पर समुचित तना दिया ॥
दृश्य मनोहर तब वह [illegible] विस्मय-कारी एक बना ।
संध्या में पर्वत को ढकता समेत-बिजली मेघ घना ॥२॥

आत्म ध्यान-मय कर में खर तर खड्ग आपने धार लिया ।
मोहरूप निज दुर्जय रिपु को पल-भर में बस मार दिया ॥
अचिन्त्य-अद्भुत आर्हत पद को फलतः पाया अघहारी ।
तीन लोक में पूजनीय जो अतिशयकारी अतिभारी ॥३॥

मनमाने कुछ तापस ऐसे तप करते थे वनवासी ।
पाप-रहित तुम को लख, इच्छुक तुम-सम बनने अविनाशी ॥
हम सब का श्रम विफल रहा यों समझ सभी वे विकल हुए ।
शम-यम-दम मय सदुपदेश सुन तव चरणन में सफल हुए ॥४॥

समीचीन विद्या-तप के प्रभु रहे प्रणेता वरदानी ।
उग्र-वंश मय विशाल नभ के दिव्य सूर्य, पूरण ज्ञानी ॥
कुपथ निराकृत कर भ्रमितों को पथिक सुपथ के बना दिये ।
पार्श्वनाथ मम पास वास बस, करो, देर अब बिना किये ॥५॥

- दोहा -

खास दास की आस बस श्वास-श्वास पर वास।
पार्श्व करो मत दास को उदासता का दास ॥१॥

ना तो सुर सुख चाहता शिव सुख की ना चाह।
तव थुति सरवर में सदा होवे मम अवगाह ॥२॥

वीर-स्तवन

तव गुण गण की फल रही है विमल कीर्ति वह त्रिभुवन में।
तभी हो रहे शोभित ऐसे वीर देव बुध जन जन में ॥
कुन्द पुष्प की शुक्ल कान्ति सम कान्ति धाम शशि हो भाता।
घिरा हुआ हा जिससे उडुदल गीत गगन में हो गाता ॥१॥

सत युग में था कलियुग में भी तव शासन जयवन्त रहा।
भव्यजनों के भव का नाशक मम भव का भी अन्त रहा ॥
दोष चाबु को निरस्त करते पर मत खण्डन करते हैं।
निज-प्रतिभा से अत गर्णी ये जिनमत मण्डन करते हैं ॥२॥

प्रत्यक्षादिक से ना बाधित अनेकान्त मत तव भाता।
स्याद वाद सब वाद विवादों का नाशक मुनिवर ! साता ॥
प्रत्याक्षादिक से है बाधित स्यादवाद से दूर रहे।
एकान्ती मत इसीलिए सब दोष धूल से पूर रहे ॥३॥

दुष्ट दुराशय धारक जन से पूजित जिनवर रहे कदा ?
किन्तु सुजन से सुरासुरों से पूजित वदित रहे सदा ॥
तीन लोक के चराचरों के परमातम हितकारक है।
पूर्ण ज्ञान से भासमान शिव का पाया अघहारक है ॥४॥

समवशरण थित भव्यजनों को रुचते मन का लोभ रहे ।
सामुद्रिक औ आत्मिक गुण से हे प्रभुवर अति शोभ रहे ।।
चमचम चमक निजी कान्ति से ललित मनोहर उस शशि को ।
जीन लिया तव काय कान्ति से प्रणाम मम हो जिन ऋषि को ।।५।।

मुमुक्षु जन के मनवाछित फलदायक ! नायक ! जिन तुम हो ।
तत्त्व-प्ररूपक तव आगम तो श्रेष्ठ रहा अति उत्तम हो ।।
बाहर भीतर श्री से युत हो माया को नि:शेष किया ।
श्रेष्ठ श्रेष्ठतम कठिन कठिनतम यम-दम का उपदेश दिया ।।६।।

मोह शमन के पथ के रक्षक अदया तज कर सदय हुए ।
किया जगत मे गमन अबाधित सभय सभीजन, अभय हुए ।।
ऐसा लगते तब, गज जैसा मद धारा, मद बरसाता ।
बाधक गिरि की गिरा करिनियाँ अरुक अनाहत बस जाता ।।७।।

एकान्ती मत-मतान्तरो मे वचन यदपि श्रुति मधुर सभी ।
किन्तु मिले न सगुण कभी भी नहीं सकल-गुण प्रचुर कभी ।।
तब मत "समन्तभद्र" देव है सकल गुणो से पूरण है ।
विविध नयो की भक्ति भूख को शीघ्र जगाता चूरण है ।।८।।

- दोहा -

नीर-निधी-से धीर हो वीर बने गभीर ।
पूर्ण तैर कर पा लिया भवसागर का तीर ।।१।।

अधीर हूँ मुझ धीर दो सहन करूँ सब पीर ।
चीर-चीर कर चिर लखूँ अन्तर की तस्वीर ।।२।।

भूल्य क्षम्य हो !

लेखक कवि मैं हूँ नहीं, मुझ में कुछ नहिं ज्ञान।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान् ॥

मंगलकामना

विना-भीति विचरूँ सदा वन में ज्यों मृगराज।
ध्यान धरूँ परमात्म का निश्चल हो गिरिराज ॥१॥

सागर सम गंभीर मैं बनूँ चन्द्र-सम शान्त।
गगन-तुल्य स्वाश्रित रहूँ हरूँ दीप-सम ध्वान्त ॥२॥

रवि सम पर-उपकार मैं करूँ समझ कर्त्तव्य।
रखूँ न मन में मान-मद सुन्दर हो भवितव्य ॥३॥

चिर संचित सब कर्म को राख करूँ बन आग।
तप्त आत्म को शान्त भी करूँ बनूँ गतराग ॥४॥

सदा संग बिन पवन सम विचरूँ मैं निस्संग।
मंत्र जपूँ निज तन्त्र का नष्ट शीघ्र हो अंग ॥५॥

तन मन को तप से तपा स्वर्ण बनूँ छविमान।
भक्त बनूँ भगवान को, भजूँ बनूँ भगवान ॥६॥

द्रव्य हेय जड़मय तजूँ, ध्येय बना निज द्रव्य।
कीलित कर निज चित्त को पाऊँ शिव-सुख दिव्य ॥७॥

भद्र बनूँ बस भद्रता जीवन का शृंगार ।
द्रव्य दृष्टि मे निहित है सुख का वह संचार ॥८॥

तामस बस प्रति लोम हो मुझमें चिर बस जाय ।
है यह हार्दिक भावना मोह सभी नश जाय ॥९॥

गुरु-स्मृति

तरणि ''ज्ञानसागर'' गुरो !, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥

स्थान एवं समय-परिचय

भव सागर से भीत हैं सागर के सागार ।
प्रथम बार पहुँचा यहाँ ससंघ मैं अनगार ॥१॥

द्रव्य-गगन-गति-गंध की वीर जयन्ती आज ।
पूर्ण किया इस ग्रन्थ को ध्येय ! बनूँ जिनराज ॥२॥

गुणोदय

मूल : आत्मानुशासन (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य गुणभद्र

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

मंगलाचरण

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय ।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर चान्दनी से जिन धुनि अति शीत !
उसका सेवन मैं करूँ मन-वच-तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु कर गुरु-चरण रज सरपर सुचढाय ।
यह मुनि-मन गुरु भजन में निशि दिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्द-कुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय ।
परम सुगंधित महक में जीवन मम घुल जाय ॥४॥

गुण गण निधि गुणभद्र-गुरु महके अगुरु सुगन्ध ।
अर्पित जिनपद में रहें गंधहीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋषीश ।
करुणा-कर करुणा करो कर से दो आशीष ॥६॥

आतम अनुशासन का पद्यमयी अनुवाद ।
करूँ, प्रयोजन बस यही मोह मिटे परमाद ॥७॥

गुणोदय

सादर उर में बिठा वीर को जिनके विधि सब विलय हुए ।
समवशरण की श्री शोभा से शोभित, गुणगण निलय हुए ॥
आतम दर्शक आतमशासन नामक आगम की रचना ।
भविक जनों को मोक्ष मिले बस करूँ प्रयोजन औ' कुछ ना ॥१॥

सुख की आशा करते-करते युग-युग अब तक बीत गये ।
भव-भव, भव-दुख सहते-सहते भव-दुख से अति भीत हुए ॥
मन वांछित फल मिले तुम्हें बस यही भावना भाकर मैं ।
दुख का हारक सुख कारक पथ्य कहूँ जिन चाकर मैं ॥२॥

इसका सेवन करते आता यदि कुछ-कुछ कटु स्वाद मनो ।
किन्तु अन्त में मधुर-मधुरतम सुख बनता निर्बाध बनो ॥
स्वल्प मात्र भी इसीलिए मन इससे मन में भय लाना ।
रोग मिटाने रोगी चखता जिस विधि कटु औषध नाना ॥३॥

करुणा रस पूरित उर वाले जग हित में नित निरत रहें ।
दुर्लभ जग में सुलभ अदय जन वाचाली बस फिरत रहें ॥
दुलमुल-दुलमुल-नभ में डोले बिन जल बादल बहुत बके ।
सजल जलद हैं जल वर्षाते कम मिलते मन मुदित भले ॥४॥

जन-मन हारक पर निंदक नहिं विविध प्रश्न भी सहन करें ।
उत्तर मुख में रखते प्रतिभा, निधि गुणगण को ग्रहण करें ॥
शमी दमी व्यवहार चतुर हैं शास्त्र ज्ञान के सही धनी ।
मित मित मिश्री मिश्रित प्रकटित बोल बोलते सुधी गणी ॥५॥

शिवपथ पथिकों को पथदर्शित करने रत बोधित भवि को ।
दोष रहित श्रुत परण धरते धरत शुचि चारित छवि को ।।
निरीह निर्मद लोक विज्ञ मृदु बुध जन से भी वंदित है ।
यतिपति गुण ये जिनमें वह "गुरु" और गुणों से मंडित हैं ।।६।।

मम हित किसमें निहित रहा यों चिंतित दुःखित प्रति श्वासा ।
धर्म-श्रवण, निर्णय, धारण बल रखे भव्य, शिव-सुख आशा ।।
प्रमाण नय से सिद्ध, दयामय धर्म श्रवण का अधिकारी ।
दूर दुराग्रह से हो सुनकर धर्म धारता सुखकारी ।।७।।

हिंसादिक इन पाप कर्म कर, प्राणी पल पल दुख पाता ।
लोक मान्य यह सूक्ति रही है धर्म कर्म कर सुख पाता ।।
सुर-सुख या शिव-सुख चाहो यदि पूर्ण पाप का त्याग करो ।
चर्म-राग तज, धर्म भाव में भाग्य मान अनुराग करो ।।८।।

सभी चाहते शिव-सुख पाना मिले शीघ्र शिव करम नशे ।
वह शुचि व्रत से, व्रत धी से, धी आगम से, श्रुति परम वशे ।।
श्रुति जिन से जिन दोष रहित हो, दोष सहित जिन आप्त नहीं ।
सही समझ शिव-सुखद आप्त को भजो तजो अघ व्याप्त मही ।।९।।

द्विविध त्रिविध दशविध समदर्शन मदादि बिन भव काम हने ।
संवेगादिक से वर्धित, त्रय वितथ बोध शुचि धाम बने ।।
मोक्ष महल सोपान प्रथम जो शिव पथ के सब पथिकों को ।
तत्त्वों अर्थों का विषयक है सेव्य सदा बुधपतियों को ।।१०।।

आज्ञा उद्भव मार्ग समुद्भव सदुपदेश-भव, यथा रहा ।
सूत्र समुद्भव, बीज समुद्भव, समास उद्भव तथा रहा ।।
विस्तृत उद्भव अर्थ समुद्भव इस विध दश विध दर्शन है ।
आवगाढ, परमावगाढ है गाता यह जिन-दर्शन है ।।११।।

मोह नाश से जिन की आज्ञा पालन आज्ञा दर्शन है ।
ग्रन्थ-श्रवण बिन शिव सुख पथ में रुचि हो मारग दर्शन है ॥
परम पूत तम पुरुष तथा सुन परम दृष्टि जो पाना है ।
ग्रन्थ सृजक गणधर ने उसको सदुपदेश-भव माना है ॥१२॥

पदार्थ दल को अल्प जान रुचि हो समासभव वही भला ।
शास्त्र अर्थ जो अगम ज्ञात हो किसी बीज पद सही खुला ॥
मोह कर्म के वर उपशम से बीज समुद्‌भव दृष्टि खिली ॥
मुनि-व्रतविधि-सूचक सूतर सुन सूत्र दृष्टि वह दृष्टि मिली ॥१३॥

द्वादशांग सुन श्रद्धा करना वह है विस्तृत दृष्टि रही ।
अंग बाह्य बिन सुन तदंश में रुचि हो सार्थक दृष्टि वही ॥
मथन अंग का अंग बाह्य का दृष्टि वहीं 'अवगाढ' रही ।
पूर्ण ज्ञान में आगत में रुचि दृष्टि "परम-अवगाढ" वही ॥१४॥

मन्द मन्दतम कषाय कर, धर बोध चरित खरतर तपना ।
वृथा भार पाषाण खण्ड सम समदर्शन बिन सब सपना ॥
समदर्शन से मंडित यदि हो सहज सधे अघ-विधि खपना ।
मंजु-मंजुतम मणि-माणिक सम पूज्य बने, फिर 'शिव' अपना ॥१५॥

किसमें मम, हित अहित निहित है तुझको यह ना विदित रहा ।
हुआ हिताहित लाभ हानि ना मोह-रोग से व्यथित रहा ॥
क्लेश बिना शिशु को जननी ज्यों शिवपथ परिचित करा रहे ।
कोमल समकित संस्कारों से हम संस्कारित करा रहे ॥१६॥

विषम विषयमय अशन उड़ाया तुमने कितना पता नहीं ।
मोह महाज्वर तभी चढ़ा है तृष्णा तुमको सता रही ॥
अणुव्रत लेना निःशंकित तुमको समयोचित सार यही ।
प्रायः पाचक पथ्य पेय से प्रारंभिक उपचार सही ॥१७॥

सुखमय जीवन जीते हो या दुखमय जीवन बीत रहा ।
धर्म एक ही शरण जगत् में आगम का यह गीत रहा ॥
सुखमय जीवन यदि है मानो धर्म उसे औ पुष्ट करे ।
दुखमय जीवन बीत रहा यदि धर्म उसे झट नष्ट करे ॥१८॥

मन वांछित इन्द्रिय विषयों के भाँति भाँति के सुख सारे ।
धर्म रूप वर नन्दन वन के तरुओं के रस फल प्यारे ॥
कुछ भी कर तू वृष तरुओं का किसी तरह रक्षण करना ।
प्राप्त फलों को संचय कर कर सुचिर काल भक्षण करना ॥१९॥

भव्य भद्र सुन धर्म एक ही अनुपम सुख का साधक है ।
साधक जो हो, स्वीय कार्य का नहीं विराधक बाधक है ॥
मन मे भय हो, यदि हो सकता इस सुख का अवसान कहीं ।
किन्तु स्वप्न में भी नहिं होना धर्म विमुख धर ध्यान सही ॥२०॥

धर्म पालते फलतः मिलता अतुल विभव भरपूर सही ।
भोग-भोगते उनका भोगो किन्तु धर्म को भूल नहीं ॥
प्रथम बीज बोकर कृषि करता कृषक विपुल फल पाता है ।
किन्तु पृथक रख बीज सुरक्षित पुनः शेष फल खाता है ॥२१॥

कल्पवृक्ष से यथायोग्य ही कल्पित फल भर मिलता है ।
चिंतामणि से मन में चिंतित मिलता पर मन खिलता है ॥
किन्तु कल्पना चिंता के बिन अनुपम अव्यय फल देता ।
सत्य धर्म है क्यों ना मन तू तदनुसार रे, चल लेता ॥२२॥

पाप-पुण्य का केवल कारण अपना ही परिणाम रहा ।
विज्ञ बताते इस विध आगम गाता यह अभिराम रहा ॥
अतः पाप का प्रलय कराना प्रथम आपका कार्य रहा ।
पल-पल अणु-अणु परम पुण्य का संचय अब अनिवार्य रहा ॥२३॥

धर्म त्याग कर पागल पामर पापाश्रित है गिरे हुए ।
विषय सुखो का सेवन करते मोह भाव म घिरे हुए ॥
सरस फलो स लदा हुआ है मूल रहित द्रुम छेद रहे ।
फल खान म निरत हुए है नहीं अनागत वेद रहे ॥२४॥

— — —

कृत भी हो, पर से कारित भी अनुमत भी अनिवार्य रहा ।
मन से वच से आ तन से भी पूर्ण शक्य जो कार्य रहा ॥
उसी धर्म का धारण पालन किस विध फिर नहीं हो सकता ।
उज्ज्वल जल है पीला धोलो पल भर म मल धो सकता ॥२५॥

जब तक जिसके जीवन म वह जीवित जागृत धर्म रहा ।
मारक का भी नहीं मारते तब तक ना अघ कर्म रहा ॥
चूकि धर्म च्युत पिता पुत्र भी कट पिट आपस मे मिटते ।
अत धर्म ही सबका रक्षक जिससे सब सुख है मिलते ॥२६॥

पाप बन्ध वह हो नहि सकता सुख के सेवन करने से ।
किन्तु पाप हो धर्म विघातक हिंसादिक अघ करने से ॥
मिष्ट अन्न के अशन मात्र से अपच रोग नहि वह आता ।
अशन रसन का किन्तु दास अति अधिक अशन खा दुख पाता ॥२७॥

सप्त व्यसन तो स्पष्ट दु ख है पर भव मे भी दुखकारी ।
पाप ताप है किन्तु उन्हे तुम मान रहे अति सुखकारी ॥
इन्द्रिय सुख म अनासक्त ज्यो बुधजन जिसको अपनाते ।
उभय लोक मे सुखद धर्म को क्या न मानते अपनाते ॥२८॥

दोष रहित है, त्राण रहित है रहती है भयभीत यही ।
देह गेह ही धन है जिनका जिनकी जीवन रीत यही ॥
दन्त पक्ति मे मिले मृदुल तृण भोजन करती मृगी व्यथा ।
व्याध उन्हे भी मार मिटाते पर की अब क्या रही कथा ॥२९॥

पर निन्दन तज दैन्य दम्भ से सभी सर्वथा दूर रहो ।
मृषा वचन मत बोलो मुख से करो न चोरी भूल अहो ॥
चूंकि धर्म-धन यश-धन धी-धन इष्ट तुम्हें हैं सुखकर हैं ।
इस भव हित भी पर भव हित भी अर्जित कर लो अवसर है ॥३०॥

पुण्य करे निज पुण्य पुरुष को कुछ नहिं करती आपद है ।
आपद ही वह बन जाती है सुखद सपदा आस्पद है ॥
निखिल जगत को निजी ताप से तपन तपाता यदपि यहाँ ।
सकल दलों सह कमल दलों को खुला खिलाता तदपि अहा ॥३१॥

सुर गुरु मन्त्री सुर सैनिक थे जिसके शिर पर 'हरिकर' था ।
स्वर्ण दुर्ग था व्रज शस्त्र था ऐरावत वर कुंजर था ।
बली इन्द्र भी इस विध रण में रावण दानव से हारा ॥
अतः शरण बस दैव, वृथा है पौरुष को बहु धिक्कारा ॥३२॥

धरणीपतिसम अचल कुलाचल मोह भाव से रहित हुए ।
जलनिधि धन राग रहित हो गुण मणि निधि से सहित हुए ॥
पर आश्रित ना नभ सम स्वाश्रित जग हित में निर निरत हुए ।
सन्त आज भी लसे पुराने मुनिसम कतिपय विरत हुए ॥३३॥

नृप-पद जैसे सुख लव पाने मोह मद्य पी भ्रमित हुए ।
पिता पुत्र को पुत्र पिता को ठगते धन से भ्रमित हुए ॥
अहो ! मूढ जग जनन मरण के दीर्घ दाढ़ में पड़ा हुवा ।
नहिं लखता, रत, तन हरने में निकट काल को खड़ा हुवा ॥३४॥

मोही जड़ जन अन्ध बने हैं विषयों में जो झूल रहे ।
महा अन्ध हैं अन्धों से भी सत्यपंथ को भूल रहे ॥
नेत्रों से जो अन्ध बने हैं मात्र रूप को नहिं लखते ।
किन्तु मूढ़ विषयान्ध बने कुछ भी न लखे सुध नहिं रखते ॥३५॥

प्रति प्राणी में आसारूपी गर्त पड़ा है महा बड़ा ।
जिसमें सब संसार समाकर लगता अणुसम रहा पड़ा ॥
किसको कितना उसका भाजित भाग मिले फिर बना सही ।
विषय वासना इसीलिये बस विषय-रसिक की वृथा रही ॥३६॥

उचित आयु धन तन सुख मिलते पास पुण्यमय रतन रहा ।
यदि वह नहिं तो धनादि भी नहिं भले करो अब यतन महा ॥
यही सोच इस भव सुख पाने रुचि लेते ये आर्य नहीं ।
परभव सुख के निशिदिन करते कार्य सुधी अनिवार्य सही ॥३७॥

कटु कटुतम विषसम विषयों में कौन स्वाद तू लुभित सुधी ।
जिसे ढूँढने निजी अमृत का मूल्य मलिन कर अमित दुखी ॥
मन के अनुचर विषय रसिक इन इन्द्रिय गण से विकृत हुवा ।
पित्त ज्वराकुल नर मुख सम तव स्वाद, खेद यह विदित हुवा ॥३८॥

विरत भाव से विरत रहा तू विषय राग रसिकेश रहा ।
खाता खाता भोग्य जगत को तेरे मुख से शेष रहा ॥
चूंकि शक्ति नहिं तुझमें उतनी भोग सके जो पूर्ण इसे ।
राहु केतु के मुख से जिस विध शेष रहे शशि सूर्य लसे ॥३९॥

किसी तरह भी विश्वसारमय सार्वभौम पद प्राप्त किया ।
किन्तु अन्त में तजा उसे तब चक्री शिव पद प्राप्त किया ॥
त्याज्य परिग्रह ग्रहण पूर्व तज नहिं तो तव उपहास हुवा ।
पतित धूल में मोदक ले ऋषि का जिस विध यश नाश हुवा ॥४०॥

सुबुध-चरित को भी वह करता पूर्ण पापमय कभी कभी ।
कभी कभी तो पूर्ण धर्ममय, पाप धर्ममय कभी कभी ॥
अंध रज्जु संपादन सम गज स्नान सदृश गृह धर्म रहा ।
या पागल चेष्टा सम इससे हित न सर्वथा शर्म रहा ॥४१॥

खेद बोध बिन नृप सेवक बन सुखार्थ धन से प्यार किया।
कृषि करता बन वनिक वनिकता करता वन नद पार किया॥
विष में जीवन तेल रेत में ढूढ रहा दिन रात अहा।
मोह भूत के निग्रह बिन सुख नहीं, तुझे ज्ञात हुआ॥४२॥

दुख से बचने तू सुख पाने चलता उलटी राह रहा।
दुख के कारण आशावर्धक भोग संपदा चाह रहा॥
तपन ताप से तपा हुवा नर शांति खोजता दुखी बड़ा।
बाँस जल रही उसकी छाया में जाकर बस वहीं खड़ा॥४३॥

प्यास लगी जल निकट जानकर भू खोदत, पाषाण मिला।
अब क्या करता कार्य चल रहा खोदत ही पाताल चला॥
बिल-बिल करते कृमि-कुल जिसमें जहाँ मिला जल क्षार भरा।
प्यास बुझी ना, कण्ठ सूखता हाय भाग्य से हार मरा॥४४॥

नीति न्याय से धन अर्जन कर जीवन अपना बिता रहे।
उनका वह धन बढ़ नहिं सकता साधु सन्त यों बता रहे॥
पूर्ण सत्य है नदियाँ बहतीं जग में जल से भरी-भरी।
मलिन सलिल से सदा भरीं वे विमल सलिल से कभी नहीं॥४५॥

अधर्म जिसमें पलता नहिं है धर्म वहीं पर पलता है।
गन्ध दुःख की आती नहिं है उसमें ही सुख फलता है॥
वही ज्ञान है वहीं ज्ञान है जहाँ नहीं अज्ञान रहा।
वही सही गति चहुँ गतियों का जब होता अवसान रहा॥४६॥

धन-कन-कंचन संचय करने असि मषि कृषि में बन श्रमधी
बार-बार कटु पीर पा रहा विषय लंपटी बन भ्रमधी॥
शम यम दम नियमादिक धरता यदि जाने शिवधाम सही
जनन मरण औ जरण जनित दुख-जीवन का फिर नाम नहीं॥४७॥

बाह्य-वस्तु को मान रहा यह अनिष्ट वह है इष्ट रहा ।
तत्त्व बोध बिन वृथा समय खो बार-बार पा कष्ट रहा ॥
निर्दय यम के ज्वाला मुख में जब तक नहिं जल मरता।
तब तक पीले निजी शांतिमय अविकल अविरल जल झरता ॥४८॥

परवश आशा सरिता में तुम बह-बह कर अति दूर गये ।
इसे तैरने सक्षम तुम ही, क्या न पता, क्या भूल गये ? ॥
निजाधीन हो निज अनुभव कर शीघ्र तैरकर तीर गहो ।
नहिं तो पातक मरण मगर मुख, में पड़ भव दधि पीर सहो ॥४९॥

रस ले लेकर नीरस कह कर विषयी जन सब विषय तजे ।
उन्हें मूढ़ तुम अपूर्व समझे करें उन्हीं की विनय भजे ॥
आशा रूपी पाप खानमय रिपु सेना की रही ध्वजा ।
मिटे न तब तक विषय कीट ! रे शांति नहीं ना निजी मजा ॥५०॥

विषम नाग सम भोग भोगते खुद मर सुर सुख नहिं पाते ।
निर्भय निर्दय बन, पर को मर, -वाते तातैं दुख पाते ॥
साधु जनों ने जिनको त्यागा चाह उन्हीं की नित करते ।
काम क्रोध के वशीभूत जन क्या-क्या अनर्थ नहिं करते ॥५१॥

जिसको भावी कल है वह ही उसे विगत का कल बनता ।
ध्रुव कुछ नहिं लग काल अनिल से बदल रहा बादल घनता ॥
भ्रान्त ! भ्रान्ति तज कुछ तो देखो आँख खोलकर सही सही ।
बार बार हो भ्रमित रम रहा विषयों में ही वहीं-वहीं ॥५२॥

नरकों में दुख सहन किये हैं करनी की थी पाप भरी ।
दूर रहें वे बीत गये हैं जिनकी स्मृति भी ताप करी ॥
मदन बाण सम स्त्रीजन कटाक्ष से निर्धन तू जला मरा ।
हिम से मृदुतरु जलता जिम विध उसे याद कर भला जरा ॥५३॥

आत्म प्रवंचक चरित रहित है आधि व्याधि से सहित रहा ।
सप्त धातुमय तन धारक है क्रोधी तन से उदित अहा ।।
जीर्ण जरा का कवल बनेगा काल गाल में पतित हुवा ।
हे ! जन्मी क्यों ? अहित विधायक विषयों में तू मुदित हुवा ।।५४।।

तरुण अरुण की स्वरतर अरुणिम किरणों से नर तप्त यथा ।
इन्द्रियमय अति ज्वाला से अति तृषित जगत संतप्त तथा ।।
कुधी विषय सुख मिलते नहिं तब अघकर उसविध दुख पाता ।
नीर निकट-तम कीच बीच फंस बैल-क्षीण बल दुख पाता ।।५५।।

उचित रहा यह अगनी जलती, समयोचित इन्धन पाती ।
इन्धन जब इसको ना मिलता, जली ना झट बुझ जाती ।।
मोह अग्नि तो किन्तु निरन्तर, धू-धू करती ही जलती ।
भोग मिले तो भले जले पर नहीं मिले तब भी जलती ।।५६।।

दुखमय ज्वाला लपटों से क्या कभी काय तब जला नहीं ।
मधु मक्खी सम प्रखर पाप से क्या तव जीवन छिला नहीं ।।
गर्जन करते काल वाघ के, भयद शब्द क्या सुना नहीं ।
क्यों न तजी फिर निंद्य मोह की नींद, भाव यह गुना नहीं ।।५७।।

तन में घुलमिल रहना अघविधि फल चखना तव काम रहा ।
पुनि पुनि पल पल विधि बंधन में पड़ना भी अविराम रहा ।।
मृति ध्रुव फिर भी मृति भय रखता, निद्रा ही विश्राम रहा ।
फिर भी जन्मी ! भव में रमता, विस्मय का यह धाम रहा ।।५८।।

स्थूल हाड़मय काष्ट रचित है सिरा नसों से बंधा हुवा ।
विधि-रिपु रुधिर पिशित से लिप्त चर्म से ढका हुवा ।।
लगा जहाँ पर आयु-रूप गुरु-सांकल है तव तन घर है ।
मूढ़ उसे तू जेल समझ मत वृथा राग कर अघकर है ।।५९।।

विधि बंधन के मूल बंधुजन शरण काय नहिं अशरण है ।
आपद गृह के मझाझार हैं चिर परिचित प्रमदा जन हैं ।।
स्वार्थ परायण सुत, रिपु हैं, यदि तुमको है शिव चाह रही ।
तजो इन्हें बस भजो धर्म शुचि यही रही शिव राह सही ।।६०।।

जिनसे तृष्णा अनल दीप्त हो इंधन सम क्या उस धन से ? ।
पाप जनक संबंध रहा है जिनका क्या उन परिजन से ? ।
मोह नाग का विशाल बिल सम गेह रहा क्या, क्या तन से ? ।
भज समता देही ? सुख-बांछक प्रमाद तज तू तन मन से ? ।।६१।।

सेनापति औ बली जनों के सर्वप्रथम आश्रित रहती ।
सैनिक रक्षित, असिधर रक्षक, -दल से फिर आवृत रहती ।।
चमर अनिल से दीप शिखा सम, झट नरपति श्री भी मिटती ।
भला बता फिर साधारण जन की लक्ष्मी की क्या गिनती ।।६२।।

जनन मरण से व्याप्त रहा है जड़ मय तेरा यह तन है ।
खेद, खेद का अनुभव करता तन में स्थित हो निशिदिन है ।।
अग्नि लगी एरण्ड काष्ठ में दोनों मुख जिसके जलते ।
जैसे उसमें स्थित कीड़े हा ! दुख पाते मरते जलते ।।६३।।

दुराचार कर अघ करता क्यों दुखित हुवा सम नोकर के ।
इन्द्रिय पति मन से प्रेरित हो सुख पाने सुध खोकर के ।।
विषय त्याग, बन इन्द्रिय विजयी इन्द्रिय तेरे दास बने ।
अकलुष निज लख शिव सुख पा पाल चरित, विधि नाश घने ।।६४।।

धन का अभिलाषी नहिं धन पा, दुखी रहें निर्धनी सदा ।
धन पाकर भी तृप्त नहीं हो दुखी रहें नित धनी मुधा ।।
धनिक दुखी है दुखी निर्धनी खेद यहाँ सब देख दुखी ।
अंतरंग बहिरंग संग तज निसंग मुनि बस एक सुखी ।।६५।।

सुखाभास है केवल दुख है सुख जो परके आश्रित है।
यथार्थ सुख तो शाश्वत सुख यह निज के आश्रित है ॥
ऐसा भी सुख मिल सकता क्या यदि मन शंकित इस विध है।
द्वादश विध तप तपते तापस सुखी सदा फिर किस विध है ॥६६॥

निजाधीन हो विचरण करते बिना याचना अशन करें।
बुध जन संगति करते श्रुत का मनन करें मन शमन करें ॥
बाह्य-द्रव्य में मन की गति कम, किस वर तप का सुफल रहा।
यह सब सोचा सुचिर काल पर, जान सका ना, विफल रहा ॥६७॥

विरति विषय से कर श्रुत चिंतन उर से करुणा अति बहती।
जिनकी मति एकान्त-तिमिर को हरने में नित रत रहती ॥
अशन अन्त में तज तन तजना पर आगम बल पर चलना।
महामना उन मुनियों का यह लघु तप विधि का प्रतिफल ना ! ॥६८॥

कोटि-कोटि खुद उपाय कर लो तन लक्षण नहिं संभव है।
पर से करवाते करवा लो यह तो सदा असंभव है ॥
पल-पल गलना चलता तन का मिटना रहता क्षण-क्षण है।
तन रक्षण का हट छोड़ो तुम समझो यह "तन लक्षण" है ॥६९॥

निसर्ग नश्वर स्वभाव वाले आयु काय आदिक सारे।
ज्ञात हुआ यह निश्चित तुमको तरंग जीवन यह प्यारे ॥
इसके मिटने से यदि मिलता शाश्वत शुचितम शिव पद है।
बिना कष्ट बस मिला समझ लो स्वयं आ गई संपद है ॥७०॥

उच्छ्वासों का निःश्वासों का करता है अभ्यास सदा।
जीव चाहता तन से निकलूँ बाहर, शिव में वास कदा ॥
किन्तु मनुज कुछ श्वास रोक लो, आयु बढ़ेगी कहते हैं
अजर अमर आतम बनता है फलतः जड़ जन बहते हैं ॥७१॥

अरहट घट दल के जल सम यह आयु घटे बस पल पल है ।
तथा आयु का सहचर होकर चलता अविरल तन खल है ।।
काय आयु के आश्रित जीवन फिर पर से क्या अर्थ रहा ।
किन्तु नाव थित नर सम निज का भ्रान्त लखे स्थिर व्यर्थ अहा ।।७२।।

बिना खेद उच्छ्वास जनम ना लेता वह दुख कूप रहा ।
टिका हुआ है जिस पर नियमित जीवन का यह स्तूप रहा ।।
जब वह लेता विराम निश्चित जीवन का अवसान तभी ।
आप बता दो किस विध सुख का पान करे फिर प्राण सभी ।।७३।।

जनन ताड़ के पादप से जो प्राणी फल दल पतित हुए ।
अधोमुखी है निराधार ह पथ मे ह वे पथिक हुए ।।
भले अभी तक मरण रूप इस धरती तल तक नहि आये ।
कब तक फिर वे अन्तराल मे अधर गगन म रह पाये ।।७४।।

नीचे नारक असुरो ऊपर देवा को बस ! बसा दिये ।
मध्य मानवो को रख अमितो द्वीप सागरो घिरा दिये ।।
तीन वातवलयो से वेष्टित कर विधि ने नभ को ताना ।
पर नर पति ना बचा बचाता अटल काल का सो बाना ।।७५।।

विदित निलय जिसका ना तन भी दुष्ट राहु तापस पापी ।
पूर्ण निगलता खेद ! भानु को भासुरतम जो परतापी ।।
दश शत प्रखर किरण कर बल से निखिल प्रकाशित कर पाता ।
उचित समय यदि कर्म उदय हो कौन बली फिर बच पाता ।।७६।।

ठग सम निर्दय कर्म ब्रह्म खुद मोह महामद पिला पिला ।
सकल जगत् को समोहित कर सही पथ से भुला भुला ।।
सघन भयानक भव कानन मे हन्ता बन कर विचर रहा ।
उसे मारना कौन बली वह कहाँ रहा है किधर रहा ।।७७।।

आता है कब किस विध आता कहाँ से आता है ।
महादुष्ट है काल विषय में कुछ भी कहा न जाता है ॥
वह तो निश्चित आता ही पै तुम क्यों बैठे मन माने ।
विज्ञ ! करो नित यतन निजोचित निज सुख पाने शिव जाने ॥७८॥

किसी तरह संबंध नहीं हो दुष्ट काल से बस जिसका ।
कुछ भी कर लो किसी तरह भी शोध लगाओ तुम उसका ॥
देश काल विधि हेतु वही इम जहाँ मोह का नाम नहीं ।
शरण उसी की ले बिन चिंता रहो रहा शिवधाम वही ॥७९॥

बार-बार उपकार किया पर, बार बार अपकार मिला ।
इस विधि द्वारा तन है नारक दुख का भारी द्वार खुला ॥
परम पुण्य को जला-जलाकर भस्म बनाती यह ज्वाला ।
किस विध इसमें मुग्ध हुवा तू जिसे कहे जड़ सुख प्याला ॥८०॥

विपद पर्वमय मूल भोग्य, ना रस बिन जिस का चूल रहा ।
तथा बहुत से रोगों से भी ग्रसित रहा दुख शूल रहा ॥
घुण-भक्षित उस इक्षु दण्ड सम ऊपर केवल मनहर है ।
परभव सुख का बीज रहा बस मानव जीवन अघहर है ॥८१॥

निशि में बिता शयन मृतक सम चेष्टा विहीन हो जाता ।
जागृत हो जीवन साधन में दिन भर विलीन हो पाता ॥
इस विध प्रतिदिन नियमित जीवन इस प्राणी का बीत रहा ।
किन्तु काय में कब तक टिक कर गा पायेगा गीत अहा ॥८२॥

अरे ! हितैषी इस जीवन में बन्धु जनों से क्या पाया ।
सत्य-सत्य बस हमें बता दे क्या ! हित अनुभव कर पाया ? ॥
केवल इतना करते मरता जब तू तज कंचन तन को ।
जला-जला वे राख बनाते अहित दुरित घर तव तन को ॥८३॥

राग रंगमय भववर्धक है विवाह आदिक कार्य रहें ।
उनको करने में ही परिजन निरत सदा अनिवार्य रहें ॥
अतः वस्तुतः परम शत्रु है परिजन इस विधि जान अरे ! ।
अन्य शत्रु तो एक बार पर बार-बार ये प्राण हरें ॥८४॥

जिसके जीवन में वह जलता आशारूपी अनल महा ।
जिसमें डाले धन इंधन को ढेर ढेर जड़ विकल अहा ॥
प्रतिफल में वह प्रतिपल जलती जलती दीपित हो जाती ।
भ्रान्त समझता शान्त उसे पै बुद्धि भ्रान्ति वश खो जाती ॥८५॥

धवल धवल तम बालों से तव मस्तक शशि सम धवलित है ।
इसी बहाने तव मति शुचिता बाहर निकली मम मत है ॥
जरा दशा में जरा सोचना भी किस विध फिर बन सकता ।
पर हित का अतः स्मरण भी किस विधि यह मन कर सकता ॥८६॥

तृप्ति जनक, ना, इष्ट अर्थमय भव सुख खारा उदक रहा ।
बहुविध मानस दुख वडनानल जिसके भीतर धधक रहा ॥
जनन जरा मृति तरंग उठती मोह मगर मुख खोले हैं ।
भव दधि में गिरने से कुछ ही बच पाते दृग खोले हैं ॥८७॥

अविरल सुख परिकर से लालित यौवन मद से स्पर्शित था ।
ललित युवति दल नयन कमल ले तुझे निरख कर हर्षित था ॥
फिर भी तप कर काय सुखाया धन्य हुवा यदि सुधी रखे ।
जली कमलिनी का भ्रम कर तुझ दग्ध बनी में मृगी लखे ॥८८॥

निर्बल तन मन बालक जब थे नहीं हिताहित विदित हुये ।
युवा हुए कामान्ध युवति तरु वन में निशिदिन भ्रमित हुए ॥
प्रौढ़ हुए धन तृषा बढ़ी फिर कृषि आदिक कर विकल बने ।
वृद्ध हुए फिर अर्धमृतक कब जनम धरम कर सफल बने ॥८९॥

बाल्य काल में जो कुछ बीता उसकी स्मृति अब उचित नहीं
धन संचय करता तब विधि ने किया तुझे क्या दुखित नहीं ॥
अन्त समय तो दांत तोड़कर इसने तब उपहास किया ।
फिर भी तू दुर्मति विधिवश हो विधि परही विश्वास किया ॥९०॥

घृणित दशा तव देख सके ना तभी नेत्र तव अन्ध हुये ।
तव निंदा पर से सुन सुनकर बधिर कान अब बन्द हुये ॥
निकट काल को लख भय वश तब पूर्ण कांपता बदन तथा ।
फिर भी रहता अकंप जर्जर तन में जलता भवन यथा ॥९१॥

परिचय जिनका अधिक हुवा हो वहीं अनादर तनता हैं ।
सूक्ति रही यह नवीनतम जो प्रीति तथा ऽऽदर बनता है ॥
दोष कोष में निरत हुवा क्यों गुण-गण से अति विरत हुवा ।
उचित उक्ति को वृथा मृषा क्यों करता यह ना उचित हुवा ॥९२॥

हंस कभी ना खाते जिसको दिन में खिलता जलज रहा ।
जल में रहकर जल ना छूता कठोर कर्कश सहज रहा ॥
जलज धर्म ना ज्ञात भ्रमर को भ्रमित वृथा फस मर जाता ।
स्वहित विषय में विषय रसिक कब समुचित विचार कर पाता ॥९३॥

तीन लोक में प्रज्ञा दुर्बल स्वपर बोध का हेतु रही ।
शुभ गति दात्री और दुर्लभा भव दधि में शुभ सेतु सही ॥
इस विध प्रज्ञा पाकर भी यदि पद पद प्रमाद पाले हैं ।
उनका जीवन चिन्त्य रहा है बोल रहे मति वाले हैं ॥९४॥

जगदधिपति धरतीपति सुरपति हुये विगत में अगणित हैं ।
सुकृत सुफल वह बाह्य-वाक्य से यद्यपि सब जन परिचित हैं ॥
किन्तु खेद है वीर धीर और बुध जन तक भी किन्नर हैं ।
इन्हीं सुराधिप भूप जनों के जिन पर हँसते शंकर हैं ॥९५॥

श्रेष्ठ धर्म के बल पर नरपति महावंश में जनन धरें ।
सुधी धनी हो जिन्हें निर्धनी धनार्थ सविनय नमन करें ॥
यह पथ शम मय जिस पर चलना विषयी का वह कार्य नहीं ।
धर्म कथ्य नहीं महाजनों को जिसे लखे जिन आर्य सही ॥९६॥

अशुचि धाम तन दुखद रहा है इसमें चिर से निवस रहा ।
निरीह इससे हुवा नहीं तू राग बढ़ा प्रति दिवस रहा ॥
घटे राग तव, सदुपदेश में अत: निरत नित यति जन ये ।
महाजनों की परहित की रति देख जरा, तज रति मन ऐ ! ॥९७॥

'इस विध' 'उस विध' तन है इस विध कहने मे कुछ अर्थ नहीं ।
पुनि पुनि तन धर तजकर तूने व्यथा सही क्या व्यर्थ नहीं ॥
फिर भी यह संकेत मात्र है सदुपदेश सुन संपद है ।
भव भ्रमितों का यह जड़ तन सब विपदाओं का आस्पद है ॥९८॥

मल घर माँ का उदर जहाँ चिर क्षुधित तृषित मुख खोल पड़ा ।
पड़ा अन्नमल मिश्रित खाया विधिवश ले दुख मोल सड़ा ॥
निश्चल था तव कृमि कुल सहचर तभी मरण से भीत हुवा ।
चूंकि जनन का मरण जनक है यहीं मुझे परतीत हुवा ॥९९॥

अजा कृपाणक समान तुमने चिर से अब तक कार्य किया ।
नहीं हिताहित हुवा विदित हे आर्य दुरित अनिवार्य किया ॥
अन्धक वर्त्तन न्याय मात्र से प्राप्त किया सुख क्षणिक रहा ।
वह भी आत्मिक सुख ना इन्द्रिय दुख मिश्रित सुख तनिक रहा ॥१००॥

हा ! आकस्मिक, वनितादिक की काम कामना करवाता ।
निज को पंडित माने उनके पंडितपन को भरमाता ॥
फिर भी पंडित धीर धार कर इसको सहते यह विस्मय ।
सुतप अनल से क्रूर काम को यहीं जलाते बन निर्दय ॥१०१॥

समझ विषय को तृण सम कोई याचक को निज धन देता ।
तृष्णा वर्धक अघमय गिन इक बिना दिये धन तज देता ।।
किन्तु प्रथम ही दुखद जान धन नहिं लेता वह बड़भागी ।
एक एक से क्रमशः बढ़कर, सर्वोत्तम हैं ये त्यागी ।।१०२।।

विलासतायें प्राप्त संपदा संत साधु ये यदि तजते ।
विस्मय क्या है इस घटना में विरागता को जब भजते ।।
उचित रहा यह जिसके प्रति है घृणा मनो, नर यदि करता ।
रसमय भोजन भला किया हो तुरत वमन क्या नहिं करता ।।१०३।।

श्रम से अर्जित लक्ष्मी तजता रोता तब जड़ मति-वाला ।
तथा संपदा तजता यद्यपि मद करता हिम्मत-वाला ।
ना मद करता ना रोता है किन्तु संपदा तजता है ।
वही विज्ञ है वीतराग है तत्त्व ज्ञान नित भजता है ।।१०४।।

जड़मय तन जननादिक से ले मृति तक सोचो भला जरा ।
क्लेश अरुचि भय निंदन आदिक से पूरा बस भरा परा ।
त्याज्य, तजो तन रति जब मिलती मुक्ति भली फिर कौन कुधी
दुर्जन सम तन राग तजे ना उत्तर दो तुम मौन सुधी ।।१०५।।

मिथ्या मतिवश राग रोष कर दुराचार में लीन हुवा ।
बार-बार तन धार धार मर दुखी हुवा अति दीन हुवा ।।
राग हटाकर विराग बन कर एक बार यदि निज ध्याता ।
अक्षय बनकर अक्षय फल पा निश्चित बनता शिव धाता ।।१०६।।

जीव दया मय इन्द्रिय दम मय संग त्यागमय पथ चलना ।
मन से तन से और वचन से पूर्ण यत्न से तज छलना ।।
जिस पर चलने से निश्चित ही मिले मुक्ति की मंजिल है ।।
निर्विकल्प है अकथनीय है अनुपम शिवसुख प्रांजल है ।।१०७।।

ज्ञान भाव से प्रथम हुवा हो मोह भाव का शमन महा ।
किया गया पुनि पाप-मूल उस सकल संग का वमन अहा ॥
अजर अमर पद का कारण वह मुक्तिरमा खुद वरती है ।
रही "कुटी परवेश क्रिया" ज्यों विशुद्ध तन को करती है ॥१०८॥

योग्य भोग उपभोग योग पा भोग भाव नहिं मन लाते ।
किन्तु विश्व को उपभोजित कर स्वयं भोग सब तज पाते ॥
मार मार कौमार्य काल में बाल ब्रह्मचारी प्यारे ।
चकित हुए हम इस घटना से उन चरणों को उर धारें ॥१०९॥

सदा अकिंचन में चेतन हूँ इस विध चिंतन करना है ।
तीन लोक का ईश शीघ्र बन मुक्ति रमा को वरना है ॥
योग धार कर योगी जिसको विषय बनाते अपना है ।
परमातम का गूढ़रूप यह प्राप्त ! और सब सपना है ॥११०॥

अल्प काल ही मानव गति है काल आय कब ज्ञात नहीं ।
दुर्लभ तम है अशुचि धाम है जिसकी दुखमय गात रही ॥
इस गति में ही तप बन सकता तप से ही शिव मिलता है ॥
अतः करें तप तापस बनकर तप से ही विधि हिलता है ॥१११॥

ध्यान समय में जगन्नाथ, प्रभु ध्येय बने बुध सम्मति है ।
जिन पद स्मृति ही क्लेशमात्र क्षति यदि है तो विधि क्षति है ॥
साधन मन है साध्य सिद्धि सुख काल लगेगा पल भर ही ।
सब विध बुधजन निशिदिन चिंतन करें कष्ट ना तिल भर भी ॥११२॥

धन की आशा जिसे जलाती कभी सुखी क्या बन सकता ?
तप के सम्मुख काम व्याध आ मनमाना क्या तन सकता ?
छू सकती अपमान धूल क्या तप तपते उन चरणन को ?
बता कौन वह तप बिन वांछित सुख देता भवि जन-जन को ? ॥११३॥

यहीं सहज कोपाधिक पर भी पाता तापस विजय अहा !
प्राणों से जो अधिक मूल्य है पाता गुण-गण निलय महा !
पर भव में फिर परम सिद्धि भी स्वयं शीघ्र बस वरण करें।
ताप पाप हर कर फिर नर क्यों ना नित आचरण करें ॥११४॥

अपक्व फल से लगा फूल ज्यों यथा समय पर गलता है।
त्यों मुनि तन भी सुतप बेल लिपटा शुभ फल फलता है ॥
दूध सुरक्षित रख जल सूखे समाधि अगनी में जिसकी।
आयु सूखती वृष रक्षित कर धन्य ! वही जय हो उसकी ॥११५॥

राग रंग बहिरंग संग तज विराग पथ पर चलते हैं।
किन्तु उपेक्षित नहिं है समुचित पालन तन का करते हैं ॥
जीवन भर चिर तापस बनकर खरतर तपते अचल महा।
भ्रात ज्ञात हो निश्चित ही यह आत्म ज्ञान का सुफल रहा ॥११६॥

आत्म ज्ञान वह चूंकि हुवा हो तन का परिचय स्पष्ट रहा।
पल भर भी पलमय तन का फिर पालन किसको इष्ट रहा ॥
तन का पालन करने में बस तदपि प्रयोजन एक रहा।
ध्यान सिद्धि वर ज्ञान सिद्धि हो आत्मसिद्धि अतिरेक रहा ॥११७॥

जीरण तृण सम सकल संपदा तजी वृषभ ने तपधारा।
क्षुधित दीन सम बिन मद, पर घर जाते पाने आहारा ॥
बहुत दिवस तक मिली नहीं विधि भिक्षार्थी बन भ्रमण किया।
सुखार्थ हम क्या नहीं सहे जब जिनने परिषह सहन किया ॥११८॥

जिनका सुत नवनिधियों का पति कुलकर मनु वृषभेश महा।
गर्भ पूर्व ही विनीत सेवक जिनका था अमरेश रहा ॥
भूतल पर प्रभु भटके भूखे पुरुषोत्तम छह मास यहाँ।
कौन टालता विधान विधि का बल वह किसके पास कहाँ ॥११९॥

प्रथम संयमी स्वपर तत्त्व का अवभासक हो चलता है ।
जिस विध सबको दीपक करता आलोकित है जलता है ॥
तदुपरान्त वह सुतप ध्यान से और सुशोभित हो जाता ।
प्रखर प्रभा आलोक ताप से जिस विध नभ में रवि भाता ॥१२०॥

ज्ञान विभा से चरित चमक से भासुर धी-निधि यमी दमी ।
दीप बने है उन्हें नमूँ मम-अघ-तम की हो कमी कमी ॥
समीचीन आलोक धाम से करा स्वपर को उजल रहें ।
कर्म रूप अलि काला कज्जल फलतः पल-पल उगल रहें ॥१२१॥

सही सही आगम का भवि जब चिंतन मंथन करता है ।
अशुभ असंयम तज शुभ संयम प्रथम यथाविधि धरता है ॥
फिर बनता वह विशुद्धतम है सकल कर्म मल धुलता है ।
उचित रहा रवि प्रभात से जब मिलता फिर तम टलता है ॥१२२॥

विषय राग को मिटा रहा है तप श्रुति में अनुराग हुवा ।
भविक जनों का भाग्य खुला है सुख का ही अनुभाग हुवा ॥
प्रभात में जब बाल भानु की कोमल हलकी सी लाली ।
अणु-अणु कण-कण खुलते खिलते, खिलती जग जीवन डाली ॥१२३॥

तत्त्वज्ञान आलोक त्याग यदि विषय राग में रमन करो ।
रवरव नारक निगोद आदिक गतियों में गिर भ्रमण करो ॥
संध्या की लाली को छूता सघन निशा सम्मुख करके ।
प्रखर प्रभा तज, जाय रसातल दिनकर नीचे मुख करके ॥१२४॥

चरित पालकी पड़ाव समुचित स्वर्ग रहा गुण रक्षक हैं ।
तप संबल है सहचर लज्जा ज्ञान रहा पथ-दर्शक है ॥
सरल पंथ शम जल से सिंचित दया भाव ही छाँव रही ।
बाधा बिन यह यात्रा मुनि को पहुँचाती शिव गाँव सही ॥१२५॥

नाग दृष्टि विष ना, पर नारी रही दृष्टि विष दुरित मही ।
जिसके पल भर ही लखने से ही धू-धू जगत सभी ।
विलोम उनके तुम हो जिससे क्रुद्ध भटकती विवश सभी ।
स्त्री के मिष विष वे उनके वश हो न वशी बस निमिष कभी ॥१२६॥

कभी क्रुद्ध हो नाग काट कर प्राण हरे पर सदा नहीं ।
लो औषध भी बहु मिलती झट विष हरती है सुधामयी ॥
किन्तु क्रुद्ध या प्रसन्न रह भी "दिखी देख" सबको मारे ।
जिस पर औषध नहिं स्त्री-नागिन से योगी भी भय धारे ॥१२७॥

यदि चाहो यह मुक्ति रमा है कुलीन जन को मिलती है ।
परम नायिका जन-जन प्रिय है गुण-बगिया में खिलती है ॥
इसे सजा गुण गण से इसमें रम जाओ पर मत बोलो ।
अन्य स्त्रियों से लगभग महिला ईर्षा करती, दृग खोलो ॥१२८॥

बाहर केवल कोमल कोमल वदन कमल से विलस रही ।
तरल लहर सुख से स्त्री सरवर वचन सलिल से विहँस रही ॥
बालक सम हा ! अज्ञ तृषित ही जिसके तट पर बस जाते ।
विषय विषम कर्दम से फिर वे नहीं निकलते फँस जाते ॥१२९॥

भयद क्रुद्ध पापिन इन्द्रिय सब राग आग अति जला जला ।
अस्त व्यस्त कर त्रस्त, किया है पूर्ण रूप से धरातला ॥
स्त्री मिष निर्मित घात थान का श्रय लेते हा ! मरण जहाँ ।
मदन व्याधपति से पीडित जन-मृग ढूँढत सुख शरण यहाँ ॥१३०॥

हे ! निर्लज्जित सुतप अनल से अधजल शवसम तव तन है ।
बना घृणा का भय आस्पद ज्ञात नहीं क्या जड़पन है ॥
तव तन को लख महिला डरती चूँकि सहज कातर रहती ।
क्या न डराता उन्हें वृथा तव रति उनमें क्यों कर रहती ॥१३१॥

उन्नत दो दो स्तन पर्वतमय दुर्ग परस्पर मिले वहीं ।
रोमावलिमय कुपथ बहुत हैं भ्रमित करें पथ दिखे नहीं ॥
दुखद त्रिवलियाँ सरितायें है जिसे घिरी, नहिं पार कहीं ।
स्त्री-योनी पा विषय-मूढ़ ! क्या खिन्न हुवा बहु बार नहीं ? ॥१३२॥

मदन शस्त्र का नाड़ी व्रण है जहाँ पटकता मल कामी ।
काम सर्प को निवास करने बनी हुई है वह बाँबी ॥
उन्नत तम शिव मुक्ति शैल का ढका गर्त है बुध गाते ।
रम्य-कान्त-बाली स्त्री जन का योनिथान तू तज तातें ॥१३३॥

कृत्रिम गड्ढे में जिस विध गज ! तप धारक भी गिरते हैं ।
स्त्रीजन के उस योनिथान में विषयों से जब घिरते हैं ॥
प्रथम जन्म थल अत: मात वह रागथान ! पर जड़ कहते ।
उन दुष्टों के दुष्ट वचन से ठगा जगत है हम कहते ॥१३४॥

कगल काला काल कूट वह महादेव के गला पड़ा ।
पर उस विषधर का विष उस पर नहीं चढ़ा क्या भला चढ़ा ॥
तथापि वह तो स्त्री संगति से अति जलता दिन रात रहे ।
निश्चित ही बस विषम विषमतम विष हैं स्त्री जन, ज्ञात रहे ॥१३५॥

सकल दोष के कोष यदपि स्त्री-काया की परिणति होती ।
शशि आदिक समसुंदर दिखती जिससे यदि तव रति होती ॥
शुचितर शुभतम पदार्थ भर में करो भली फिर प्रीति यहाँ ।
किन्तु काम रत मदान्ध जन में कहाँ बोध शुभ रीति कहाँ ॥१३६॥

यदा प्रिया को अनुभवता मन केवल कातर बने दुखी ।
किन्तु प्रिया को विषयी-इन्द्रिय अनुभवती तब बने सुखी ॥
मात्र शब्द से नहीं नपुंसक रहा अर्थ से भी मन ओ ।
शब्द अर्थ से पुरुष बने फिर मन के साथी बुधजन हो ? ॥१३७॥

न्याय युक्त ही राज्य पूज्य है ज्ञान-युत सुतप महा ।
राज्य त्याग तप करे महा लघु करे राज्य, तज सुतप अहा ॥
राज्य कार्य से सुतप पूज्य है इस विध बुधजन समझ सभी ।
पाप भीत वे आर्य करें बस भव भय हर तप सहज अभी ॥१३८॥

पूर्ण खिले हों पूर्ण सुगंधित फूल महकते जब तक हैं ।
देव सुबुध तक मस्तक पर भी धारण करते तब तक हैं ॥
छूते पैरों से तक पुनि, ना गंध फूल से नहिं झरता ।
अहो जगत् में नाश गुणों का क्या क्या अनर्थ है नहिं करता ॥१३९॥

अरे चन्द्र तू तुझे हुवा क्या बता समल क्यों बना कुधी ।
बनना तुझ को समल इष्ट था पूर्ण समल क्यों बना नहीं ॥
तव मल को प्रकाटाती ज्योत्स्ना व्यर्थ रही बदनाम रही ।
मलिन राहु सम यदि बनता तो अदृश्य होता शाम कहीं ॥१४०॥

दोष छिपा कुछ शिष्य जनों के स्वयं मनो गुरु क्या चले चला ।
दोष सहित यदि शिष्य मरे तो फिर वह गुरु क्या करे भला
इसीलिये वह किसी तरह भी हितकारी गुरु नहीं रहा ।
स्वल्प दोष भी बढ़ा चढ़ा खल भले कहें गुरु वही महा ॥१४१॥

गुरु के वचनों में यद्यपि वह कठोरता भी रहती है ।
भविक जनों के मन की कलियाँ तथापि खुलती खिलती हैं ॥
प्रखर प्रखरतर दिनकर की वे किरणें अगनी बरसातीं ।
कोमल कोमलतम कमलों को किन्तु खुल खिला विहँसाती ॥१४२॥

उभय लोक के हित की बातें कई सुनाते सुनते थे ।
विगत काल में भी दुर्लभ थे सुनते सुनते गुणते थे ॥
धर्म सुनाता कौन सुने अब ये भी दुर्लभ विरल मिले ।
हित पथ चलने वाले तो "ईद चन्द्र" सम विरल खिले ॥१४३॥

दोष गुणन का ज्ञान जिन्हें है जबकि दिखाते दूषण हैं ।
बुधजन को वह सदुपदेश सम प्रिय लगता है भूषण है ॥
बुधजन की जो करें प्रशंसा बिन आगम का ज्ञान अहा ।
विज्ञ तुष्ट नहिं होते उससे खेद कष्ट अज्ञान रहा ॥१४४॥

सद्गति सुख के साधक गुण गण जिन्हें अपेक्षित प्यारे हैं ।
दुर्गति दुख के कारण सारे हुए उपेक्षित खारे हैं ॥
फलतः साधक को भजते हैं अहित विधायक को तजते ।
सुबुध जनों में श्रेष्ठ रहें वे जन जन हैं उनको भजते ॥१४५॥

अविनश्वर शिव सुख प्रद पथ तज अहित पंथ पर चलता है ।
कुधी बना है दुःख दाह से फलतः पल पल जलता है ॥
कुटिल चाह तज सरल चाल से शिव पथगामी यदि बनता ।
सुधी नियम से बन अनुभवता तू शाश्वत शिव सुख-धनता ॥१४६॥

मिथ्यात्वादिक दोष रहे हैं मोहादिक से उदित हुए ।
सम्यक्त्वादिक गुण लसते हैं मोहादिक जब शमित हुए
समझ त्याज्य तज अहित हेतु को हित साधन को गह पाता ।
सुख निधि यश निधी वही, वही बुध, वही सुचारित कहलाता ॥१४७॥

बढ़न किसी के घटन किसी के आयु धनादिक हैं चलते ।
पूर्व उपार्जित पुण्य पाप फल साधारण सब में मिलते ॥
किन्तु दृगादिक बढे, घटे अघ जिनके वे ही विज्ञ रहें ।
इससे उल्टा जीवन जिनका सुबुध कहें वे अज्ञ रहें ॥१४८॥

दण्ड नीति ही चलती केवल नरपतियों से कलियुग में ।
धनार्थ नरपति इसे चलाते किन्तु नहीं धन मुनिपद में ॥
इधर ख्याति रत गुरु शिष्यों को नहिं शिवपथ दिखला सकता ।
मूल्य मणी सम महामना मुनि मही में है विरला दिखता ॥१४९॥

निज को मुनि माने अति आकुल महिला जन के लखने से ।
भ्रमते व्याकुल बाण लगे उन घायल मृग के गण जैसे ।।
विषय वनी में जिन्हें कभी भी बना असंभव स्थिर रहना ।
तूफानी बादल सम चंचल उनकी संगति मत करना ।।१५०।।

गेह गुफा हो गगन दिशायें तेरे हो बस वसन सदा ।
द्वादशविध तप विकास मधुरिम इष्ट उड़ा ले अशन सुधा ।।
परमागम का अर्थ प्राप्त तुझ गुणा-वली तव वनिता है ।
वृथा याचना मत कर अब तू मुनियों की यह कविता है ।।१५१।।

सकल विश्व में और दूसरा नभ सम गुरुतम नहीं रहा ।
उसी तरह बस यह भी निश्चित अणु सम लघुतम नहीं रहा ।।
मात्र इसी पर ध्यान दे रहें सूक्ति यहाँ जो प्रचलित है ।
स्वाभिमान मंडित जन औ क्या नहीं दीन से परिचित है ।।१५२।।

याचक बनकर दीन याचनादीन भाव से करता है ।
मैं मानूँ तब उसका गौरव दाता में जा भरता है ।।
मेरा निर्णय मानो यदि यह प्रमाण पन नहिं रखता है ।
दान समय में दाता गुरु और याचक लघु क्यों दिखता है ।।१५३।।

ग्रहण भाव को रखने वाले नीचे जाते दिखते हैं ।
ग्रहण भाव को नहिं रखते वे ऊपर जाते दिखते हैं ।
इसी बात को स्पष्ट रूप से तुला हमें बतलाती है ।
भरी पालड़ी नीचे जाती खाली ऊपर जाती है ।।१५४।।

धनी जनों से धन की इच्छा सभी निर्धनी करते हैं ।
धनी बनाकर किन्तु तृप्त भी उन्हें धनी कब करते हैं ।
याचक की ना प्यास बुझाता धनिकपना क्या काम रहा ।
धनिकपना से निर्धनपन मय मुनिपन वर अभिराम रहा ।।१५५।।

अतल अगम पाताल छू रही आशा की जो खाई है ।
तीन लोक की सब निधियाँ भी जिसे नहीं भर पाई हैं ।।
किन्तु उसे बस पूर्ण रूप से स्वाभिमान धन भरता है ।
इसीलिये तू मान ! मानधन ही धन भव दुख हरता है ।।१५६।।

तीन लोक को नीचे जिसने किया थाह किसने पाई ।
थाह नहीं है अथाह आशा खाई दुखदाई भाई ।।
किन्तु यही आश्चर्य रहा किया इसे भी समतल है ।
तज तज विषयों को भविकों ने धार तोष धन संबल है ।।१५७।।

भाव भक्ति से शुद्ध अशन यदि यथा समय श्रावक देते ।
तन की स्थिति, तप की उन्नति हो तभी स्वल्प कुछ मुनि लेते ।।
महामना मुनियों को वह भी लज्जा का ही कारण है ।
अन्य परिग्रह को फिर किस विध कर सकते वे धारण हैं ।।१५८।।

देह अशन-धन गृही व्रती हे दाता इस विध शास्त्र कहें ।
निज पर हित हो अशन गहें मुनि निरीह तन से पात्र रहें ।।
पात्र दान दे पात्र दान से रागद्वेष यदि वे करते ।
कलियुग की यह महिमा कहते बुध जिस पर लज्जा करते ।।१५९।।

त्रिभुवन आलोकित जिससे हो तव वर केवलज्ञान सही ।
सहज आत्म सुख इन्हें मिटाया विधि ने विधि पहिचान यही ।।
विधि निर्मित इन्द्रिय पा इन्द्रिय सुख तू चखता लाज नहीं ।
दीन क्षुधित कुछ खा पीकर ज्यों सुखित बने दुख भाजन ही ।।१६०।।

व्रत तप पालो सहो परीषह स्वर्गों में तुम जावोगे ।
विषयों की यदि रुचि है मन में विषयों को बस पाओगे ।।
भोजन पाने यदपि प्रतीक्षित क्षुधित क्षुधा की व्यथा सहो ।
किन्तु पेय पी नष्ट कर रहे भोजन को क्यों वृथा अहो ।।१६१।।

बाहर भीतर संग रहितपन मुनिपन ही धन बना हुवा ।
मृत्यु महोत्सव सदा मनाना जिनका जीवन बना हुवा ॥
साधु जनों को एक मात्र बस विषद सुलोचन ज्ञान सही ।
फिर विधि उनको क्या कर सकता विचलित या भयवान कभी ॥१६२॥

जीवन जीने की अभिलाषा आशा धन की जिन्हें रही ।
कर्म उन्हें पीड़ित कर सकता भीति कर्म से उन्हें रही ॥
जिनकी आशा निराशता में किन्तु ढ़ली फिर कर्म भला ।
उन्हें दुखी क्या कर सकता है सुखमय आतम धर्म भुला ॥१६३॥

चक्री पद को पाकर भी तज तापस बन तप तपते हैं ।
परम पूज्य वे बनते, जन जन नाम उन्हीं के जपते हैं ॥
पुरुष बने हैं किन्तु तपों को तज विषयन में झूल रहें ।
पद पद पर उनकी निंदा हो हित का साधन भूल रहें ॥१६४॥

चक्री, चक्रीपन तज तपता विस्मय करना विफल रहा ।
अनुपम अव्यय आत्मिक सुख यह चूँकि सुतप का सुफल रहा ॥
समझ विषम विष विषयों को तज तपधर, पुनि तज तब मोही ।
सुधी उन्हीं का सेवन करते रहा महा विस्मय सो ही ॥१६५॥

उन्नत शैया तल से नीचे भू तल पर आ शिशु गिरता ।
संभावित पीड़ा लखकर तब कँपता भय से है घिरता ॥
त्रिभुवन से भी उन्नत तप गिरि से गिरते मतिवर यति हैं ।
किन्तु भीति नहिं होती उनको होते विस्मित हम अति हैं ॥१६६॥

अतीचार से अनाचार से हुवा महाव्रत दूषित हो ।
योग सुतप का उसे मिले शुचिपन से झट भूषित हो ॥
विमल विमलतम उस तप को भी मलिन मलिनतम करता है ।
सदाचार से दूर दुष्ट जो दुराचार भर धरता है ॥१६७॥

जहाँ कहीं भी मिलते सौ सौ कौतुक विस्मयकारी हैं ।
उन सब में भी इन दो पर ही होता विस्मय भारी है ।।
परमामृत का प्रथम पान कर पुनः उसे जो वमन करें ।
सुकृत रहित वे व्रतधर व्रत तज फिर विषयन में रमण करें ।।१६८।।

बाह्य शत्रु आरंभादिक को पूर्ण रूप से त्याग दिया ।
निज बल संग्रह करने वाला तब थोड़ा बस जाग जिया ।।
अशन शयन गमनादिक मे हो जागृत निज रक्षण करना ।
रागादिक का क्षय करना हो व्रत पालन हर क्षण करना ।।१६९।।

कतिपय नयमय शाखाओ में वचन पत्र से सजा हुवा ।
अमित धर्म के निलय अर्थमय फूल फलों से लदा हुवा ।।
उन्नत "श्रुत-तरु" समकित मतिमय जड़ जिसकी अति दृढतर भी
बुधजन अपने मन मर्कट नित रमण करावे उसे पर ही ।।१७०।।

अव्यय व्ययमय एक नैक भी विलसित होती निज सत्ता ।
वही द्रव्य पर्यय वश लसती गौण मुख्य हो मतिमत्ता ।।
आदि रहित है मध्य रहित है अन्त रहित भी जगत रही ।
इस विध चिंतन बुधजन कर लो रहो जगत में जगत सही ।।१७१।।

एक द्रव्य ही एक समय में ध्रौव्य रूप भी लसता है ।
नाश रूप भी वही दिखाता जन्म धार कर हँसता है ।।
यदि इस विधि ना स्वीकृत करते फिर यह निश्चित थोथा है ।
नित्यपने का अनित्यपन का ज्ञान हमें जो होता है ।।१७२।।

बोध धाम ही क्षणिक नित्य ही अभावमय ही तत्त्व रहा ।
चूंकि उचित ना इस विध कहना उस विध दिखता तत्त्व कहाँ ।।
भेदाभेदात्मक हो लसता किन्तु, तत्त्व वह प्रतिपल है ।
इसी भाँति सब आदि अन्त बिन समझो मिलता शिवफल है ।।१७३।।

रवि सम भाता आतम का है स्वभाव केवल ज्ञान रहा ।
उसका मिलना ही मिलना बस शिवसुख है अभिराम रहा ॥
इसीलिए तुम सुचिर काल से शिव सुख की यदि चाह करो ।
ज्ञान भावना के सरवर में संग त्याग अवगाह करो ॥१७४॥

ज्ञान भावना का फल भी वह ज्ञान मात्र बस भास्वर है ।
श्लाघनीय है अर्चनीय है नश्वर नहिं अविनश्वर है ॥
किन्तु ज्ञान की सतत भावना अज्ञ करे भव सुख पाने ।
अहो ! मोह की महिमा न्यारी सुख दुख क्या है ना जाने ॥१७५॥

शास्त्र अग्नि में भविजन निज को जला-जला शुचि हो लसते ।
मणिसम बनकर मनहर सुखकर लोक शिखर पर जा बसते ॥
उसी अग्नि में मलिन मुखी हो राख-राख बनकर नशते ।
किन्तु दुष्ट वे विषयी निज को विषय पाश में हैं कसते ॥१७६॥

बार बार बस ज्ञान नेत्र को फैला-फैला लखना है ।
पदार्थ दल जिस विध है इस विध उसको केवल चखना है ॥
आतम-ज्ञाता मुनि वे केवल ध्यान सुधा का पान करें ।
किन्तु भूल भी राग रोग के कभी नहीं गुणगान करें ॥१७७॥

कर्म निर्जरा सहित किन्तु वह जब तक विधि बंधन पलता ।
तब तक भवदधि में आतम का भ्रमण नियम से है चलता ॥
एक छोर से रस्सी बँधती एक ओर से खुलती है ।
तब तक निश्चित मथनी की वह भ्रमण क्रिया बस चलती है ॥१७८॥

एक ओर से भले छोड़ दो रस्सी, मथनी नहिं रुकती ।
और छोर से नियम रूप से बंधती भ्रमती है रहती ॥
उसी भाँति कुछ कर्म छोड़ते बंध भ्रमण पर नहिं मिटते ।
पूर्ण निर्जरा यदि करते हो बंध भ्रमण तब सब मिटते ॥१७९॥

भले पालते समिति गुप्तियाँ तुम बहुविध तप हो धरते ।
बहुविध विधि का बँधन बँधता राग द्वेष यदि हो करते ॥
तत्त्वज्ञान को किन्तु धारते राग रोष यदि नहिं करते ।
उन्हीं समितियाँ गुप्ति पालकर मुक्ति रमा को झट बरते ॥१८०॥

हित पथ के अरुचि भाव औ अहित पंथ का राग वही ।
पाप कर्म का बंध करारा अत: उसे तू त्याग यहीं ।
इससे जो विपरीत भाव है पाप मिटाता पुण्य मिले ।
दोनों मिटते शिव मिलता पर प्रथम पाप पुनि पुण्य मिटे ॥१८१।

मूल और अंकुर जिस विध वे सदा बीज से उदित रहें ।
मोह बीज से राग द्वेष भी उदित हुए हैं विदित रहें ॥
तत्त्वज्ञान के तेज अनल से उन्हें जला कर शान्त करो ।
तप्त क्लान्त निज जीवन को तुम सुधा पिलाकर शान्त करो ॥१८२॥

नस पर गहरा घाव पुराना पल-पल पीड़ाप्रद होता ।
सदुपचार घृत-आदिक का हो मिटता सीधा पद होता ॥
मोह घाव भी सग ग्रहण से सुचिर काल से सता रहा ।
सग त्याग से वह भी मिटता शिव मिलता गुरु बता रहा ॥१८३॥

मित्र मानते तुम उनको यदि सुखित तुम्हें जो मिलते हैं ।
तथा शत्रु यदि उन्हें मानते दुखित तुम्हें जो करते हैं ॥
किन्तु मित्र जब मरते तब तुम विरह दु:ख अति सहते हो ।
अत: मित्र भी शत्रु हुए फिर शोक वृथा क्यों करते हो ॥१८४॥

मरण टले ना टाले, मरते अपने परिजन पुरजन हैं ।
विलाप कर-कर रोते खुद भी मरण समय में जड़ जन हैं ।
उन्हें सुगति यश किस विध मिलते वीर-मरण के सुफल रहें ।
सुधी करें ना शोक मरण में फलत: शिव सुख विमल गहें ॥१८५॥

इष्ट वस्तु जब मिटती तब हो शोक, शोक से दुख होता ।
इष्ट वस्तु जब मिलती तब हो राग, राग से सुख होता ॥
अत: सुधीजन इष्ट हानि में शोक किये बिन मुदित रहें ।
सदा सर्वदा सुखी सर्वथा उन पद में हम नमित रहें ॥१८६॥

इस भव में जो सुखी हुवा हो वही सुखी पर भव में हो ।
दुखी रहा है इस जीवन में वही दुखी पर भव में हो ॥
उचित रहा है सुख का कारण सकल संग का त्याग रहा ।
उससे उलटा दुख का कारण ग्रहण संग का राग रहा ॥१८७॥

मरण प्राप्त कर पुन: मरण को जग प्राणी जो पाते हैं ।
उनका वह ही जनम रहा है साधु संत यों गाते हैं ॥
किन्तु जन्म में जन्म दिवस में होते मोही प्रमुदित हैं ।
मना रहे वे भावी मृतिका उत्सव यह मम अभिमत हैं ॥१८८॥

सकल श्रुतामृत पी डाला है चिर से खरतर तप धारा ।
उनका फल यदि नाम यशादिक चाह रहा गत-मतिवाला ॥
तप तरु में जो लगा फूल है उसे तोड़ता वृथा रहा ।
सरस पक्व फल किस विध फिर तू खा पायेगा व्यथा रहा ॥१८९॥

सदा सर्वदा लोकेषण बिन श्रुत का आलोड़न कर लो ।
उचित तपों से तन शोषण कर निज का अवलोकन कर लो ॥
इन्द्रिय विषयों कषाय रिपुओं जीत विजेता तभी बनो ।
तप श्रुत का फल शम हैं मुनिजन गीत सुनाते सभी सुनो ॥१९०॥

विषय रसिक को लखकर क्यों कर विषय भाव मन में लाते ।
भले अल्प हो विषय भाव अति अनर्थ जीवन में लाते ॥
उचित रहा यह तैलादिक तो अपथ्य रोगी को जैसे ।
निषिद्ध मानों निषिद्ध ना हैं सशक्त भोगी को वैसे ॥१९१॥

अहित विधायक विषयों में रत विषयीजन भी त्याग करें ।
निज प्रमदा यदि पर पुरुषन में एक बार भी राग करें ॥
भव भव में वे जिनने परखे विषय विषम विष से मारे ।
निज हित में रत बुध किस विध फिर विषयों में रत हो प्यारे ॥१९२॥

दुराचार कर दूषित निज को कर चिर बहिरातम रुलता ।
अब तुम मुनि बन निज चारित जल से अतर आतम धुलता ॥
मिले आत्म स परमातम पद मिलता केवलज्ञान महा ।
आतम से आतम मे आत्मिक सुख का कर अनुपान अहा ॥१९३॥

दास बनाकर तन से अब तक कष्ट दिया अति कटुतर है ।
अनशनादि तप से इसको अब कृश कृशतर कर अवसर है ॥
जब तक तन की स्थिति है जब तक लेलो तुम इससे बदला ।
स्वय शत्रु आ मिला मिटा ले भीतर का बाहर बल ला ॥१९४॥

प्रथम जनन हो तन का तन में भाँति-भाँति इन्द्रिय उगती ।
इन्द्रिय निज निज विषय चाहती विषय वासना अति जगती ॥
फलत: होती मान हानि हो श्रम भय अघ हो दुर्गति हो ।
अनर्थ जड़ है तन यह तेरा, तप तपता यदि शिवगति हो ॥१९५॥

मोह भाव से मंडित जन ही तन को पोषण करते हैं ।
विषयों का सेवन करते हैं आतम शोषण करते हैं ।
सब कुछ उनको सुलभ रहे है कोई दुष्कर कार्य नहीं ।
विष पीकर भी जीवन जीना चाह रहे वे आर्य नहीं ॥१९६॥

इधर-उधर दिन भर मृगगण वे दुखित हुए वन में भ्रमते ।
किन्तु रात में ग्रामादिक के निकट थान में आ जमते ॥
इसी भाँति कलियुग में मुनिगण दिन में रहते हैं वन में ।
किन्तु खेद ! यह निशा बिताते नगर निकट के उपवन में ॥१९७॥

यदपि आज तुम तप धरते हो बचकर रागी बनने से ।
यदि लुटती वैराग्य संपदा कल स्त्रीजन के लखने से ।।
जनन मरण तो नहीं मिटाता किन्तु बढ़ाता उस तप से ।
श्रेष्ठ रहा वह गृहस्थपन ही शास्त्र कह रहा तुम सबसे ।।१९८।।

स्वाभिमान औ लज्जा तजकर जीवन जीता स्वार्थ बिना ।
स्त्री के वश अपमानित शत शत बार हुआ अति आर्त बना ।।
ठगा हुआ है स्त्री तन से तू किन्तु साथ वे नहीं चलते ।
रहा सुधी यदि अत: राग तज तन का जिससे विधि पलते ।।१९९।।

एक गुणी से एक गुणी का हो सकता समवाय नहीं ।
किन्तु काय से ऐक्य रहा तव कष्ट खेद बस हाय यही ।।
तव तन नहिं है तन में रखता अभेद जिसको मान रहा ।
छिदता भिदता भव वन में तू बहुत दुखी भयवान रहा ।।२००।।

जनन रहा जो मात वही तव मरण रहा ओ तात रहे ।
विविध आधियाँ दुखद व्याधियाँ तथा सगे तव भ्रात रहें ।।
अन्त समय में साथ दे रहा परम मित्र है जरा वही ।
फिर भी तन में आशा अटकी भलासोच तू जरा सही ।।२०१।।

स्वभाव से ही विषय बनाता त्रिभुवन को तव ज्ञान महा ।
अमूर्त शुचि हो अशुचि मूर्त तू तन वश तज निज भान अहा ।।
मूर्त रहा तन रहा अचेतन अशुचि धाम मल झरता है ।
किस किस को ना दूषित करता धिक धिक सबको करता है ।।२०२।।

नर सुर पशु नारक गतियों में सुचिर काल से दुखित हुवा ।
उसका कारण तन धारण तन-पालन में तू निरत हुवा ।।
विदित हुवा है तुझे अचेतन अशुचि निकेतन तव तन है ।
अब यह साहस ! तन तजना तन-राग मिटा, तब शिवधन है ।।२०३।।

जिनके तन में असहनीय हो कर्म योग से रोग रहें ।
विचलित यति ना होते फिर भी उनका शुचि उपयोग रहें ॥
उचित रहा यह भले बढ़ रहा नीर नदी में बड़ी नदी ।
छिद्र रहित नौका में बैठा यात्री डरता कभी नहीं ॥२०४॥

साधक तन में रोग हुवा हो उचित रूप उपचार करें ।
यदि नहिं मिटता तन तज निज पर समता धर उपकार करें ॥
आग लगी हो घर में यदि तो जल से उसका शमन करें ।
नहीं बुझे तो वहीं रहें क्या ? और कहीं झट गमन करें ॥२०५॥

सर पर भारी भार स्वयं ले पथिक चल रहा पथ पर हो ।
किसी तरह कंधे पर उसको उतार कर चलता फिर वो ॥
यदपि भार तन पर से उतरा नहीं तदपि वह अज्ञानी ।
सुख का अनुभव करता इस पर निश्चित हँसते सब ज्ञानी ॥२०६॥

सदुपचार से रोगो का यदि प्रतीकार वह हो सकता ।
तब तक उनका प्रतीकार भी यथा योग्य बस कर सकता ॥
प्रतीकार करने से भी वे यदि ना होते प्रशमित हैं ।
क्लेश क्षोभ बिन रहना ही फिर प्रतीकार है, समुचित है ॥२०७॥

तन रति रखता फिर-फिर तन धर यह भव में भ्रमता है ।
निरीह तन से बन तन तजता मुक्ति भवन में रमता है ॥
इसीलिए बस इस जीवन मे त्याज्य रहा तन रति तन है ।
अर्थहीन शत अन्य विकल्पों से तो केवल बंधन है ॥२०८॥

रहा अपावन स्वभाव से ही काय रहा यह जड़मय है ।
पूज्य बनाता उसे चरित से आतम का यह अतिशय है ॥
किन्तु काय तो आतम को भी निन्द्य बनाता नीच अहा ।
इसीलिये धिक्कार उसे हो कीच रहा भव बीच रहा ॥२०९॥

रस रुधिरादिक सप्त धातुमय जिसका आदिम भाग रहा ।
ज्ञानावरणादिक कार्मिक वह जड़मय मध्यम भाग रहा ॥
ज्ञानादिक गुण-गण ले चिर से भाग तीसरा वह भाता ।
रहा त्रयात्मक इसविध प्राणी भव-भव भ्रमता दुख पाता ॥२१०॥

रहा त्रयात्मक भाग सहित यह आतम जीवन जीता है ।
नित्य रहा है वसु विधि के कलुषित पीवन पीता है ॥
सही जानकर दो भागों से पृथक् जीव को कर सकता ।
तत्त्व ज्ञान का अवधारक वह शीघ्र भवोदधि तिर सकता ॥२११॥

घोर घोरतर विविध तपों को मतकर यदि नहिं कर सकता ।
क्योंकि दीर्घ संहनन नहीं है क्लेश सहन नहिं कर सकता ॥
मन निग्रह कर कषाय रिपु पर विजय प्राप्त यदि नहिं करता ।
विज्ञ कहें तव यही अज्ञता मैं समझूँ यह कायरता ॥२१२॥

अगाध यद्यपि हृदय सरसि शुचि चेतन जल से भरित रहा ।
कषायमय हिंसक जलचर से किन्तु पूर्ण यदि क्षुभित रहा ॥
क्षमादि उत्तम दशलक्षण गुण, निश्चित तब तक नहिं मिलते ।
यम दम शम सम क्रमश: पालो फलत: पल में ये मिटते ॥२१३॥

शांत मनस की करे प्रशंसा यदपि मोक्ष सुख इष्ट रहा ।
किन्तु संग तज समता धरना बुधजन को भी कष्ट रहा ॥
बिल्ली चूहा सम उनकी यह दशा यही कलियुग फल है ।
जिससे इहभव परभव सुख से वंचित जीवन निष्फल है ॥२१४॥

सागर जल सम यद्यपि तुम में बोध, शास्त्र का मनन किया ।
कठिन तपस्या में भी रत हो कषाय का भी हनन किया ॥
फिर भी ईर्षा साधर्मी से तुममें उसको शीघ्र तजें ।
जिस विधि सर सूखे ऊपर, नहिं दिखता नीचे नीर बचे ॥२१५॥

अबोध वश शिव ने मन में स्थित मनोज को ही भुला दिया ।
अन्य वस्तु को 'काम' समझकर क्रोधित हो कर जला दिया ॥
उसी क्रोध कृत घोर भयानक बुरी दशा को भुगत रहा ।
क्रोधोदय से कार्य हानि भी किसकी न हो ? उचित रहा ॥२१६॥

बाहुबली के निजी दाहिनी चारु बाहु पर चक्र लसा ।
उसे तजा मुनि हुवा वनी में निसंग वन निर्वस्त्र बसा ।
उसी समय, पर मुक्त हुवा ना सुचिर काल तक क्लेश सहा ।
स्वल्प 'मान' भी महा हानि का दायक है वृषभेश कहा ॥२१७॥

दान पुण्य में धन जिनके मन में आगम करुणा उर में ।
शौर्य बाहु में सत्य वचन में लक्ष्मी परम पराक्रम में ॥
शिवपथ चलते तदपि मान बिन गुणी पूर्व में बहु मिलते ।
अब यह विस्मय गुण बिन जीते किन्तु गर्व से हैं चलते ॥२१८॥

भू पर सब रहते भू रहती वात वलय के आश्रय ले ।
वात वलय त्रय आश्रित चिरसे रहते नभ के आश्रय ले ॥
ज्ञेय बना नभ पूर्ण ज्ञान के एक कोन में जब दिखता ।
निज से गुरु हैं उनसे लघु फिर किस विध वह मद कर सकता ? ॥२१९॥

मरीचिका वश सुवरण मृग की माया से ही मलिन हुवा ।
तुच्छ युधिष्ठिर हुवा कहा जब अश्वथाम का मरण हुवा ॥
कपट बटुक का वेषधार कर सुना ! शाम घनशाम बने ।
अल्प छद्म भी महा कष्ट दे जहर मिला पय प्राण हने ॥२२०॥

माया का जो गर्त रहा अतल आगम अति बड़ा रहा ।
सघन सघनतम मिथ्यातम से ठसा ठसा बस भरा रहा ॥
जिसमें अलिसम काली काली कराल कषाय नागिन हैं ।
झुक-झुक कर यदि तुम देखो तो नहीं दीखती अनगिन हैं ॥२२१॥

भीतर के मम गुप्त पाप वह किसी सुधी से विदित नहीं ।
शुचि गुण की वह महा हानि भी मत समझो यों उचित नहीं ॥
धवल धवलतम निजकिरणों से ताप मिटाता शांत अहो !
उस शशि को जब निगल रहा हो गुप्त राहु क्या ज्ञात न हो ॥२२२॥

वनचर भय से चमरी भागी विधिवश उलझी पूँछ कहीं ।
लता कुंज में बाल लोलुपी अचल खड़ी सुध भूल वहीं ॥
फलतः जीवन से धो लेती हाथ यही बस खेद रहा ।
विपदाओं से घिरे रहें अति लोभी जन 'यह वेद' रहा ॥२२३॥

तत्त्व मनन यम दम शम पालन तप तपना मन वश करना ।
कषाय निग्रह संग त्याग औ विषयों में ना फँस मरना ।
दया, भक्ति जिन की करना ये भविक जनों में प्रकट रहें ।
भाग्य खुला बस समझो उनका भवदधि तट जब निकट रहें ॥२२४॥

सब जीवों पर करुणा रखते ध्यानन में नित निरत रहें ।
अशन यथाविधि स्वल्प करें मुनि जित निद्रक हैं विरत रहें ॥
दृढ़तर संयम नियम पालते बाहर भीतर शांत रहें ।
समूल दुख को नष्ट करें वे सार आत्म का ज्ञात रहें ॥२२५॥

निज हित में ही दत्त चित्त हैं सकल पाप से दूर रहें ।
स्वपर भेद विज्ञान सहित हैं इन्द्रिय विजयी शूर रहें ॥
निज पर हित हो बोल बोलते मन में कुछ संकल्प नहीं ।
शिव सुख भाजन क्यों ना हो मुनि अनल्प सुख हो अल्प नहीं ॥२२६॥

दास बना है विषयों का जो जीवन जिसका परवशता ।
दोष गुणन का बोध जिसे ना काफिर का फिर क्या नशता ? ।
तीन रत्न त्रिभुवन को द्योतित करती हरती सब तम को ।
तुमसे इन्द्रिय चोर घिरे हैं डरना जगना है तुमको ॥२२७॥

रम्य वस्तुयें वनितादिक को वीत-मोह बन त्याग दिया ।
संयम साधक उपकरणों में वृथा भला क्यों राग किया ।।
मुझे बतादे रोग भीति से यदपि अशन ना खाता है ।
औषध पी पी अजीर्णता को कौन सुधी वह पाता है ।।२२८।।

चोरादिक से रक्षा करता कृषक समय पर कृषि करता ।
फसल काट कर लाता तब वह धन्य मानता खुशि धरता ।
तप श्रुत का साधन कर उस विध जब निज में अति थिति पाता ।
इन्द्रिय तस्कर बाधा से बच कृतार्थ निज को यति पाता ।।२२९।।

नाच नचाता आशा रिपु है उसे मिटाओ व्रत असि से ।
तत्त्व ज्ञात है ज्ञान गर्व से रहो उपेक्षित मत उससे ।।
अपार सागर जल, बाड़व को देख ! देखकर हिलता है ।
शत्रु रहें यदि निकट उसे कब जीवन में सुख मिलता है ।।२३०।।

रागादिक कणिका से भी यदि जिसका मानस दूषित है ।
स्तुत्य नहीं वह चरित बोध से यद्यपि जीवन भूषित है ।।
पाप कर्मका बंधन जिससे चूंकि निरन्तर चलता है ।
दीप उगलता कज्जल काला तेल जला कर जलता है ।।२३१।।

राग रंग से जब तू हटता शेष नियम से करता है ।
रोष भाव को तजता फिर से राग रंग में ढलता है
किन्तु कभी ना शेष तोष तज लाता मन में समता है ।
खेद यही बस अज्ञ दुखी हो भव कानन में भ्रमता है ।।२३२।।

तपा लोह का गोला जल कण से नहिं शांत बने ।
पूर्ण रूप से उसे डुबा दो गहरे जल में शान्त बने ।।
दुःख अनल में तप्त जीव की क्षणिक सौख्य से क्लांति नहीं ।
मिटती, मिलती मोक्ष सिंधु में डूबे तो चिर शान्ति सही ।।२३३।।

यद्यपि तुमने दिया बयाना समदर्शन का उचित हुवा ।
मोक्ष सौख्य पर अमिट रूप से नाम आपका लिखित हुवा ॥
निर्मल चारित विमल ज्ञान का सकल मूल्य अब देना है ।
तुम्हें शीघ्र शाश्वत शिव सुख को निजाधीन कर लेना है ॥२३४॥

यथार्थ में यह सकल विश्व ही एक रूप है योग्य रहा ।
निवृत्ति वश तो अभोग्यमय है प्रवृत्ति वश है भोग्य रहा ॥
भोग्य रहा हो अभोग्य या हो इस विध विकल्प तजना है ।
मोक्ष सौख्य की प्यास तुम्हें यदि निर्विकल्प पन भजना है ॥२३५॥

त्याज्य वस्तुयें जब तक तुम नहिं तजते तब तक बुधजन से ।
त्याग भावना अविरल भावो मन से वच से औ तन से ॥
तदुपरान्त ना प्रवृत्ति रहती निवृत्ति भी वह ना रहती ।
अक्षय अव्यय वही निरापद-पद है जिनवाणी कहती ॥२३६॥

राग द्वेष यदि मन में उठते प्रवृत्ति वह कहलाती है ।
उनका निग्रह करना ही वह निवृत्ति यति को भाती है ॥
बाह्य द्रव्य के बिना किन्तु वे रागादिक ना हो पाते ।
सर्वप्रथम तुम बाह्य द्रव्य सब तजो भजो निज को तातैं ॥२३७॥

महा भयानक भव भँवरों में भ्रमित पड़ा मैं दुख पाता ।
जिन भावों को भा न सका अब उन भावों को बस भाता ॥
विषय भावना भा-भाकर ही बार-बार भव बढ़ा दिया ।
उन्हें तजूँ निज भाव भजूँ है भवनाशक गुरु पढ़ा दिया ॥२३८॥

सुनो शुभाशुभ पुण्य पाप औ सुख दुख छह त्रय युगल रहें ।
प्रति युगलों में आदिम त्रय है हित कारण हैं विमल रहें ॥
उनको तुम अपने जीवन में धारण कर लो सुख वर लो ।
अशुभ पाप दुख शेष अहित हैं अहित हेतुवों को हर लो ॥२३९॥

हित कारक में भी आदिम सुख का तजना अनिवार्य रहा ।
पुण्य और सुख स्वयं छूट ही जाते हैं सुन आर्य ! महा ॥
इस विध शुभ को छोड़ शुद्ध में श्वास श्वास पर बस रमना ।
अन्त समय में अनंत पद पा अनन्त भव में ना भ्रमना ॥२४०॥

जीव रहा चिर बंधन बंधित बंधन तनादि आस्रव से ।
आस्रव कषाय वश वे कषाय प्रमाद के उस आश्रय से ॥
वह मिथ्या अविरति वश अविरत कालादिक कारण पाते ।
दृग व्रत प्रमाद बिन शम धारे योग रोध कर शिव जाते ॥२४१॥

यह तन मेरा रहा, मैं इसका इसविध प्रीति रही ।
तब तक फल शिवसुख, आशा वृथा रही यह नीति सही ॥
कृषक कृषी है करता पूरण खेत भरी है फसल खड़ी ।
ईति भीति आदिक से यदि है घिरी, फलाशा विफल रही ॥२४२॥

तन ही मैं हूँ मैं ही तन है इसविध चिर से भ्रान्त रहा ।
भवसागर में फलतः अब तक दुखित रहा है अशान्त रहा ॥
अन्य रहा हूँ तन से तन भी मुझसे निश्चित अन्य रहा ।
तन तो तन है मैं हूँ शिवसुख दे चैतन्य महा ॥२४३॥

बाहर कारण बाह्य वस्तु भी विगत काल में अन्ध हुवा ।
पर पदार्थ में रत तू था तब दृढ़तम विधि बंध हुवा ॥
वही वस्तु वैराग्य ज्ञान वश विधि के क्षय में कारण है ।
सुधी जनों की सहज कुशलता अगम अहो ! अघमारण है ॥२४४॥

किसी जीव को अधिक अधिकतम विधि बंधन वह होता है ।
किसी जीव को न्यून न्यूनतम कर्म बंध ही होता है ॥
किन्तु निर्जरा किसी किसी को केवल होती ज्ञान रहें ।
बंध मोक्ष का यही रहा क्रम यही बात जिननाथ कहें ॥२४५॥

गत जीवन में जिसने बाँधा पुण्य रहा औ पाप रहा ।
बिना दिये फल वह यदि गलता तप का वह फल आप रहा ॥
वह शुचि उपयोगी है योगी उसे शीघ्र शिवधाम मिले ॥
पुनः कर्म का आस्रव नहिं हो ज्ञान ज्योति अभिराम जले ॥२४६॥

महा सुतप मय विशाल सरवर नयन मनोहर वह साता ।
उजल-उजल तम शान्त शान्त तम गुणमय जल में लहराता ॥
नियम रूप जो बाँध बँधी है किन्तु कभी वह ना फूटे ।
रहा उपेक्षित मत उससे तुम नहिं तो जीवन ही लूटे ॥२४७॥

मुनि का मुनिपद घर है जिसके सुदृढ़ गुप्तित्रय द्वार रहें ।
मतिमय जिसकी नींव रही है धैर्य रूप दीवार रहें ॥
किन्तु कहीं भी दोष छिद्र यदि उसमें हो तो घुसते हैं ।
राग रोष मय कुटिल सर्प वे भय से मुनिगुण नशते हैं ॥२४८॥

कठिन कठिनतर विविध तपों को तपता तापस बनकर है ।
पूर्ण मिटाने निज दोषों को पूर्ण रूप से तत्पर है ॥
पर दोषों को अपना भोजन बना अज्ञ यदि जाता है ।
निज दोषों को और पुष्ट कर रहता सुख से रीता है ॥२४९॥

विधिवश शशि सम कलंक गुणगण-धारक को यदि लगता ।
मूढ़ अन्ध भी सहज रूप से उसको बस लखने लगता ॥
दोष देखकर भी वह उसकी महानता को कब पाता ? ।
स्वयं प्रकट शशि कलंक लख भी किस्व कभी शशि बन पाता ? ॥२५०॥

विगत काल में जो कुछ हमने किया कराया मरण किया ।
बिना ज्ञान अज्ञान भाव से प्रेरित हो आचरण किया ॥
क्रम-क्रम से इस विध योगी को वस्तु तत्त्व प्रतिभासित हो ।
ज्ञान भानु का उदय हुवा हो अँधकार निष्कासित हो ॥२५१॥

जिनके मन की जड़ वह ममता-जल से भींगी जब तक है।
महातपस्वी जन की आशा-बेल युवती ही तब तक है ॥
अनशन आदिक कठिनी चर्या अतः करे वे बुधजन हैं।
चिर परिचित उस निजी देह से निरीह रहते निशिदिन है ॥२५२॥

क्षीर नीर आपस में मिलकर एक रूप ही दिखते हैं।
यथार्थ में तो भिन्न-भिन्न ही लक्षण अपने रखते हैं।
उसी भाँति तन आतम भी हैं भिन्न भिन्न फिर सही बता।
धन कण आदिक पूर्ण भिन्न हैं फिर इनकी क्या रही कथा ॥२५३॥

स्वभाव से जल यद्यपि शीतल अनल योग पा जलता है।
तप्त हुवा हूँ देह योग से सता रही आकुलता है ॥
इस विध चिंतन बार-बार कर भव्य जनों ने तन त्यागा।
शान्त हुए विश्रान्त हुए हैं जिनमें अनन्त बल जागा ॥२५४॥

समय समय पर समान बल ले वृद्धि पा रहा नहीं पता।
कब से बैठा मन में मदमय महामोह है यही व्यथा ॥
समीचीन निज परम योग से उसका जिनने वमन किया।
भावी जीवन उनका उज्ज्वल उनको हमने नमन किया ॥२५५॥

भव सुख तजने को सुख गिनते विधि फल सुख को आपद है।
तन क्षय को मनवांछित मिलना निसंगपन को संपद है ॥
दुख भी सुख भी सब कुछ सुख है जिन्हें साधु वे सही सुधी।
सब कुछ लुटे किन्तु मनावे मृत्यु महोत्सव तभी सुखी ॥२५६॥

सुबुध उदय में असमय में ला तप से विधि को खपा रहें।
स्वयं उदय में विधि यदि आता खेद नहीं विधि कृपा रहें ॥
विजय भाव से रिपु से भिड़ने लड़ने भट यदि उद्यत हो।
खुद रिपु चढ़ आता तब फिर क्या हानि लाभ ही प्रत्युत हो ॥२५७॥

सहे परीषह सकल संग तज एकाकी निर्भ्रान्त दमी ।
तन भी शिव का कारण इस विध सोच लाज वश क्लान्तयमी ॥
निर्जी कार्यरत अकाय बनने आसन दृढ़कर ध्यान करें ।
गिरि कन्दर में अभय सिंह सम मोह रहित निज ज्ञान धरें ॥२५८॥

स्थान शिलातल जिनका भूषण निज तन पर जो धूल लगी ।
रहें सिंह वह गुफा गेह हैं शयया धरती शूलमयी ॥
यह मम यह मैं विकल्प छोड़ मोह ग्रन्थियाँ सब तोड़े ।
शुद्ध करें मम मन को ज्ञानी निरीह शिव से मन जोड़े ॥२५९॥

जिनमें अतिशय तप बल से वर ज्ञान ज्योति वह उदित हुई ।
किसी तरह भी निज को पाये तम चेतना मुदित हुई ॥
चपल सभय मृग अचल अभय हो वन में जिनको लखते हैं ।
धन्य साधु चिरकाल बिताते अचिन्त्य चारित रखते हैं ॥२६०॥

आशा आतम में जो अन्तर अज्ञ जनों को ज्ञात नहीं ।
उस अन्तर को ज्ञात किये बिन होते बुध विश्रान्त नहीं ॥
बाह्य विषय से हटा मनस को निज में नियमित अचल रहें ।
शम धन धारे उन मुनि पद रज मम मन को अति विमल करें ॥२६१॥

पूर्व जन्म में बँधा शुभाशुभ कर्म वही बस दैव रहा ।
वही उदय मे आता सुख दुख पाता तू स्वयमेव अहा ॥
स्तुत्य रहे शुभ करते केवल किन्तु वन्द्य वे मुनिजन हैं ।
शुभाशुभों को पूर्ण मिटाने तजे संग धन परिजन हैं ॥२६२॥

सुख होता या दुख होता जब किया कर्म का स्वफल रहा ।
हर्ष भाव क्यों खेद भाव क्यों करना, करना विफल रहा ॥
इस विध विचार, विराग यदि हो नया बँध ना फिर बनता ।
पूर्व कर्म सब झड़े साधु तब मणि सम मंजुलतर बनता ॥२६३॥

पूर्ण विमल निज बोध अनल वह देह गेह में जनम लिया ।
यथा काष्ठ को अनल जलाता अदय बना तन भसम किया ॥
हुई राख तन तदुपरान्त भी उद्दीपित हो जलता है ।
विसमय-कारक साधु चरित है पता न बल का चलता है ॥२६४॥

गुणी रहा जो वही नियम से विविध गुणों का निलय रहा ।
विलय गुणों का होना ही बस हुवा गुणी का विलय रहा ॥
अत: "मोक्ष" गुण गणी विलय ही अन्य मतों का अभिमत हैं ।
रागादिक की किन्तु हानि ही "मोक्ष" रहा यह "जिनमत" है ॥२६५॥

निज गुण कर्त्ता जिन सुख भोक्ता अमूर्त सुख-सें दूर रहें ।
केवलज्ञानी जनन दु:ख से तथा मरण से दूर रहें ॥
काय कर्म से मुक्त हुए प्रभु लोक शिखर पर अचल बसे ।
अंतिम तन आकार जिन्होंका असंख्य देशी विमल लसे ॥२६६॥

कर्म निर्जरा लक्ष्य बनाकर तप में अन्तर्धान रहें ।
तब कुछ दुख निश्चित हो तापस किन्तु उसे सुख मान रहें ॥
शुद्ध हुए फिर सिद्ध हुए हैं अविनश्वर सुखधाम हुए ।
वे किस विध फिर सुखी नहीं हो, जिन्हें स्मरें कृत काम हुए ॥२६७॥

इस विध कतिपय शुभ वचनों का माध्यम मैंने बना लिया ।
बुध मन रंजक कृत्य रहा है विषयों से मन बचा लिया ॥
शिव सुख पाने करते मन में इसका चिंतन अविकल हैं ।
मिटे आ[illegible] मिले संपदा उन्हें शीघ्र सुख निर्मल है ॥२६८॥

परम पूत आचार्य दिगंबर वीतराग जिनसेन रहें
जिनके पद की स्मृति में जिसका मानस रत दिन रैन रहे ॥
वही रहा गुणभद्र सूरि, कृति आतम अनुशासन जिनकी ।
सुधा सिन्धु है पीते मिटती क्लान्ति सभी बस तन मन की ॥२६९॥

मंगल कामना

विषद पूर्ण मम ज्ञान हो विभाव मुझ से दूर ।
ध्यान विषय का तज स्मरूँ स्वभाव सुख से पूर ॥१॥

साधु बने समता धरो समयसार का सार ।
गति पंचम मिलती तभी मिटती हैं गति चार ॥२॥

रति पति भी अति भीत हो यति पति पद में लीन ।
विराग समकित का यही सुफल बनो रति हीन ॥३॥

रहूँ रमूँ निज में सदा भ्रमूँ न पर में भूल ।
चिदानन्द का लाभ लूँ पर तो सब कुछ धूल ॥४॥

तब तक जिन स्तुति में करूँ जब तक घट में प्राण ।
गुणनिधि बनना ध्येय हो अघ की पल में हान ॥५॥

नोबत दुख की अब नहीं आयेगी मतिमान ।
दया-धर्म उर धारता शिवपथ पर गतिमान ॥६॥

यम दम शम औ सम धरो क्रमशः कम श्रम होय ।
है जिनवर का वर यही "मत" मन में मम होय ॥७॥

भूल क्षम्य हो

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझ में नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ शोध पढ़े धीमान ॥

गुरू स्मृति

तरणि ज्ञानसागर गुरो ! तारो मुझे ऋशीष ।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष ॥

समय एवं स्थान परिचय

संगमुक्त मुक्ता गिरी पर समंध इस वर्ष ।
धारा वर्षायोग है पाया आत्मिक हर्ष ॥१॥

काल गगन गति गंध की कार्तिक कृष्णा तीज ।
पूर्ण किया इस ग्रंथ को भुक्ति-मुक्ति का बीज ॥२॥

रयणमंजूषा

मूल : रत्नकरण्डक श्रावकाचार

रचनाकार : आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

रयण मंजूषा

सन्मति को मम नमन हो मम मति सन्मति होय।
सुर नर पशु गति सब मिटे गति पंचम गति होय॥१॥

चन्दन चन्दर चाँदनी से जिन धुनि अति शीत।
उसका सेवन मैं करूँ मन वच तन कर नीत॥२॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ हृदय कुन्द खिल जाय।
परम सुगन्धित महक में जीवन मम घुल जाय॥३॥

महके अगुरु सुगन्ध है श्री गुरु समन्तभद्र।
श्रीपद में अर्पित रहे गन्धहीन मम छन्द॥४॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो! तारो मुझे ऋषीश।
करुणाकर करुणा करो कर से दो आशीष॥५॥

रतनकरण्डक का करूँ पद्यमयी अनुवाद।
मात्र प्रयोजन मम रहा मोह मिटे परमाद॥६॥

बाहर भीतर श्री से युत हो वर्धमान गतमान हुए,
विराग-जल से राग-मलिनता धुला स्वयं छविमान हुए।
झलक रहा सब लोक सहित नभ जिनकी विद्या दर्पण में,
मन वच तन से जिन चरणों में करूँ नमन मुनि अर्पण मैं॥१॥

भव-सागर के दुःख गर्त से ऊपर भविजन को लाता,
उत्तम, उन्नत मोक्ष-महल में स्थापित करता, सुख धाता।
धर्म रहा वह समीचीन है वसु विध विधि का नाशक है,
करूँ उसी का कथन मुझे अब बनना निज का शासक है॥२॥

समदर्शन औ बोध चरितमय धर्म रहा यह ज्ञात रहे,
इस विध करुणा कर हम पर वे धर्म-नाथ जिननाथ कहें ।
किन्तु धर्म से, मिथ्या-दर्शन आदिक वे विपरीत रहें,
भव पद्धति हैं भव-दु:ख के ही निशिदिन गाते गीत रहें ॥३॥

परमारथमय पूज्य आप्त में परमागम अघहारक में,
श्रद्धा करना भाव-भक्ति से तथा परम तपधारक में ।
वसुविध अंगो का पालन, त्रय मूढ़पना; वसु मद तजना,
वही रहा समदर्शन है नित रे 'मन समदर्शन भजना' ॥४॥

लोका-लोकालोकित करते पूर्ण ज्ञान से सहित रहें,
विरागता से भरित रहे हैं दोष अठारह रहित रहें ।
जगहित के उपदेशक ये ही नियम रूप से आप्त रहें,
यही आप्तता नहीं अन्यथा जिन-पद में मम माथ रहे ॥५॥

क्षुधा नहीं है तृषा नहीं है जरा जनन नहिं खेद नहीं,
रोक शोक नहीं राग रोष नहिं तथा मरण नहिं स्वेद नहीं ।
निद्रा, चिन्ता, विस्मय नहिं हैं भीति अरति नहिं गर्व रहा,
मोह न जिनमें आप्त रहे वे जिनपद में जग सर्व रहा ॥६॥

परमेष्ठी हैं परम ज्योतिमय पूर्ण-ज्ञान के धारी हैं,
विमल हुए कृत-कृत्य हुए हैं वीतराग अविकारी हैं ।
आदि मध्य औ अन्त रहित हैं विश्व-विज्ञ जग-हितकारी,
वे ही शास्ता कहलाते हैं सदुपदेश के अधिकारी ॥७॥

भविक जनों का हित हो देते सदुपदेश स्वयमेव विभो,
प्रतिफल की वांछा न रखते वीतराग जिनदेव प्रभो !
वाधकला में पण्डित शिल्पी मुरज बजाता, बजता है,
मुरज' माँगता नहीं कभी कुछ यही रही अचरजता है ॥८॥

प्रत्यक्षादिक अनुमादिक प्रमाण से अविरोधित हो,
वीतराग सर्वज्ञ कथित हो नहीं किसी से बाधित हो ।
एकान्ती मत का निरसक हो सब जग का हितकारक हो,
अनेकान्तमय तत्त्व-प्रदर्शक शास्त्र वही अघहारक हो ॥९॥

विषयों से अति दूर हुए हैं कषायगण को चूर किया,
निरारम्भ हैं पूर्ण रूप से सकल संग को दूर किया ।
ज्ञान-ध्यान मय तप में रत हो अपना जीवन बिता रहे,
महा-तपस्वी कहलाते वे हमें मनस्वी बता रहे ॥१०॥

तत्त्व रहा जो यही रहा है इसी तरह ही तथा रहा,
नहीं अन्य भी तथा रहा है नहीं अन्यथा यथा रहा ।
खड्ग धार पर थित जल-कण सम अचल सुपथ में रुचि करना,
शंका के बिन निःशंक बनकर सम-दर्शन को शुचि करना ॥११॥

कर्मों पर जो निर्धारित है स्वभाव जिसका सान्त रहा,
सुख-सा दिखता किन्तु दुःख से भरा हुआ निर्भ्रान्त रहा ।
पाप बीज है इन्द्रिय-सुख यह इसमें अभिरुचि ना करना,
अनाकांक्षमय अंग रहा है समदर्शन का सुख झरना ॥१२॥

स्वभाव से ही अशुचि धाम हो रहा अचेतन यह तन हो,
रतनत्रयी का योग प्राप्त कर पूज्य पूत पुनि पावन हो ।
ग्लानि नहीं हो मुनि-मुद्रा से गुण-गण के प्रति प्रीति रहे,
निर्विचिकित्सिक अंग यही है समदर्शन की रीति रहे ॥१३॥

भटकाने वाले कुत्सित पथ दुखदायक जो बने हुए,
विषयों में अति सने हुए हैं पथिक कुपथ के तने हुए ।
तन, मन, वच से इनकी सेवा अनुमति थुति भी नहीं करना,
यही दृष्टि है अमूढ़पन की प्राप्त करो शिव-सुख वरना ॥१४॥

स्वयं रहा शुचितम शिव-पथ जिस पर चलते बिन होश कभी,
अज्ञ तथा निर्बल जन यदि वे करते हैं कुछ दोष कभी ।
उनके उन दोषों को ढकना कभी प्रकाशित नहिं करना,
उपगूहन दृग अंग रहा है अनंग-सुख-प्रद उर धरना ॥१५॥

समदर्शन या पावन चारित यद्यपि पालन करते हैं,
खेद कभी यदि उनसे गिरते बाधक कारण घिरते हैं ।
धर्म-प्रेम से विज्ञ उन्हें बस पूर्व-स्थिति पर फिर लाते,
स्थितिकरण दृग अंग वही है अपनाते निज घर जाते ॥१६॥

कुटिल भाव बिन जटिल भाव बिन साधर्मी से प्यार करो,
तरल भाव से सरल भाव से नित समुचित व्यवहार करो !
यथायोग्य उनका विनयादिक करना भी कर्त्तव्य रहा,
रहा यही वात्सल्य अंग है उज्ज्वल हो भवितव्य अहा ॥१७॥

अन्धकार अज्ञानमयी जब फैल रहा हो कभी कहीं,
उसे मिटाना यथायोग्य निज-शक्ति छुपाना कभी नहीं ।
जिन-शासन की महिमा की हो और प्रसारण सुखद कहाँ
प्रभावना दृग अंग यही है पाप रहे फिर दुखद कहाँ ? ॥१८॥

प्रथम अंग निःशंकित में वह प्रसिद्ध अंजन चोर महा,
निःकांक्षित में अनन्तमति यश फैल रहा चहुँ ओर यहाँ ।
निर्विचिकित्सित में उद्दायन ख्यात हुआ कृतकाम हुआ,
अडिग रेवती अमूढ़पन में ख्यात उसी का नाम हुआ ॥१९॥

स्थितिकरण के पालन में रत नामी जिनेन्द्र-भक्त रहे,
छठा अंग उपगूहन में वर वारिषेण अनुरक्त रहे ।
इसी भाँति वात्सल्य अंग में विष्णु-मुनि विख्यात रहे,
ख्यात हुए हैं प्रभावना में वज्र मुनीश्वर, ज्ञात रहे ॥२०॥

समदर्शन यदि निज अंगों का अवधारक वह नहीं रहा,
जनन जरा भय भव-संतति का हारक भी फिर नहीं रहा।
न्यूनाधिक अक्षर वाला हो मन्त्र जहर को कब हरता ?
उचित रहा यह समुचित कारण निजी कार्य वह द्रुत करता ॥२१॥

ककर-पत्थर ढेर लगाना स्नान नदी सागर करना,
अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करना गिरि पर चढ़कर गिर मरना।
लोक मूढ़ता यही रही है मूढ़ इन्हें बस धर्म कहें,
अतः मूढ़ता बुधजन तजकर शाश्वत शुचि शिव-शर्म गहें ॥२२॥

राग-रोष से दोष-कोष से जिनका जीवन रजित है,
देव नहीं वे, कुदेव सारे देव-भाव से वंचित हैं।
धन सुत आदिक की वाछा से उनकी पूजा जड़ करते,
देव मूढ़ता यही, इसी से विधि-बन्धन को दृढ करते ॥२३॥

सग सहित आरभ सहित है हिंसादिक में फँसे हुए,
सांसारिक कार्यों में उलझे मोह पाश से कसे हुए।
कुगुरु रहें वे उनका आदर जो जड़ जन नित करते हैं,
गुरू-मूढता यही इसी से पुनि-पुनि तन-धर मरते हैं ॥२४॥

ज्ञानवान हूँ ऋषिमान हूँ उच्च-जाति कुलवान तथा,
पूज्य प्रतिष्ठित रूपवान हूँ तप-धारी बलवान तथा।
मनमें आविर्भान, मान हो इन आठों के आश्रय ले,
वही रहा 'मद' निर्मद कहते जिनवर जिनका आश्रय ले ॥२५॥

व्यर्थ गर्व से तने हुए हैं मन में जो मद-मान धरे
धार्मिक जीवन जीने वाले भविजन का अपमान करे
अतः स्वयं ही आत्म-धर्म का मिटा रहे वह भूल रहे
धर्मात्मा बिन चूंकि धर्म नहिं मिलता जो भव कूल रहे ॥२६॥

संवरमय समकित आदिक से जिनका कलुषित पाप धुला
जात-पात धन, कुल से फिर क्या ? रहा प्रयोजन अब भला
किन्तु पाप-मय जीवन जिनका बना हुआ हैं सतत रहा
बाह्य सम्पदादिक फिर भी वह मूल्य-शून्य सब वितथ रहा ॥२७॥

निजी कर्म के उदय प्राप्त कर जन्म-जात चाण्डाल रहा
पर समदर्शन से है जिसका भासित जीवन भाल रहा
गणधर आदिक पूज्य साधुजन पूज्य उसे भी तदपि कहा
तेज अनल ज्यों अन्दर ऊपर राख ढकी हो यदपि अहा ! ॥२८॥

धर्म-भाव वश श्वान स्वर्ग में देव बने वह सुखित बने,
पाप-भाववश देव श्वान हो पशुगति में आ, दुखित घने ।
अत: धर्म के बिन जग जन को अन्य कौन फिर सम्पद है ?
धर्म-शरण हो मम जीवन हो अक्षय सुख का आस्पद है ॥२९॥

आशा भय के स्नेह लोभ के वशीभूत सुख खोकर के,
कुगुरु-देव आगम ना पूजे नहीं विनय बुध हो करके ।
चूँकि विमल समदर्शन से वह जिनका जीवन पोषित है,
इस विध गुरु कहते जिनके तन-मन यम दम से शोभित हैं ॥३०॥

ज्ञात रहे यह बात सभी को समदर्शन ही श्रेष्ठ रहा,
ज्ञान तथा चारित में समपन लाता फलत: ज्येष्ठ रहा ।
मोक्ष-मार्ग में समदर्शन ही खेवटिया सम मौलिक है,
सन्त कह रहे, कर नहिं सकते जिसका वर्णन मौखिक है ॥३१॥

विद्या चारित के उद्भव औ रक्षण वर्धन सुफल रहा,
समदर्शन बिन संभव नहिं हैं कुछ भी करलो विफल अहा ।
उचित बीज बिन भला बता तू फूल-फलों से लदा हुआ,
हरित भरित तरु कभी दिखा क्या समदर्शन बिन मुधा रहा ॥३२॥

शिव-पथ का वह पथिक रहा है गृही बना यदि निर्मोही,
मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर हैं मुनि होकर यदि मुनि मोही ।
अत: मोह से मण्डित मुनि से मोह रहित "वर" गृही रहा,
मात्र भेष नहिं गुण से शिव हो यही रहा श्रुत, सही रहा ॥३३॥

तीन लोक में तीन काल में तनधारी को सुखकारी,
अन्य कौन वह द्रव्य रहा है समदर्शन बिन दुखहारी ।
इसी भाँति मिथ्यादर्शन सम और नहीं दुखकारक है,
हित चाहो हित कारण धारो गुरु गाते गुण धारक है ॥३४॥

विरत यदपि हैं जिनका जीवन अविरत है,
किन्तु विमल तम समदर्शन के आराधन में नित रत हैं ।
प्रथम नरक बिन नहीं नपुंसक पर भव पशु स्त्री ना हो,
अल्प आयुषी अपांग ना हो दरिद्र ना दुष्कुलिना हो ॥३५॥

बने यशस्वी बने मनस्वी ओज तेज से सहित बने,
नीर निधी सम धीर धनी भी शत्रु-विजेता मुदित बने ।
महाकुली हो शिवपथ साधक मनुज लोक के तिलक बने,
समदर्शन से विमल लसे हैं शीघ्र निरंजन अलख बने ॥३६॥

अणिमा महिमा गरिमादिक वसु गुण पूरण पा तुष्ट रहें,
अतिशय सुन्दर शोभा-से बस विलसित हो संपुष्ट रहें ।
सुर बनकर सुर वनिताओं से सुचिर स्वर्ग में रमण करें,
दृग धारक जिनके आराधक फिर शिवपुर को गमन करें ॥३७॥

चक्री बनकर चक्र चलाते छह खण्डों के अधिपति हैं,
जिनके पद में मुकुट चढ़ाते सादर आ धरणीपति हैं ।
नव-निधियाँ शुभ चौदह मणियाँ सभी उन्हीं को प्राप्त रहें,
जो हैं शुचितम दर्शनधारी इस विध हमको आप्त कहें ॥३८॥

सुरपति, नरपति, असुराधिप भी जिन चरणों में माथ धरें,
गणधर आदिक पूज्य साधु तक जिन्हें सदा प्रणिपात करें।
सत्य-दृष्टि से तत्त्व-बोध को पाये जग में शरण रहें,
धर्म-चक्र के चालक व हो तीर्थंकर सुख शरण रहें ॥३९॥

रोग नहीं है शोक नहीं है जन्म जरा नहि मरण नहीं,
बाधा की भी गंध नहीं है शंका का अनुसरण नहीं।
पूरण विद्या सुख शुचि सम्पद अनुपम अक्षय शिवपद है,
समदर्शन के धारक ही वे पा लेते अभिनव पद है ॥४०॥

यों सुरपुर में अमित सम्पदा-युत सुरपति पद भोग वहाँ
पुनः धरापतियों से पूजित नरपति पद का योग यहाँ
तीन लोक में अनुपम अद्भुत तीर्थंकर पद पाकर के,
प्रभु-पद-पंकज-पूजक भविजन शिव हो निज घर जाकर के ॥४१॥

अहो ! न्यूनता-रहित रहा है संशय से भी रीता है,
तथा अधिक रहित रहा है नहीं रहा विपरीता है।
सदा वस्तु जब जिस विध भाती उन्हें उसी विध जान रहा,
जिन कहते हैं समीचीन बस ! ज्ञान वही सुख खान रहा ॥४२॥

महापुरुष की कथा, शलाका पुरुषों की जीवन गाथा,
गाता जाता बोधि विधाता समाधि-निधि का है दाता।
वही रहा प्रथमानुयोग है परम-पुण्य का कारक है,
समीचीन शुचि बोध कह रहा, रहा भवोदधि तारक है ॥४३॥

लोक कहाँ से रहा कहाँ तक अलोक कितना फैला है ?
कब किस विध परिवर्तन करता काल खेलता खेला है
दर्पण सम जो चहुँ गतियों को स्पष्ट रूप से दर्शाता
वही रहा करणानुयोग शुचि-ज्ञान बताता हर्षाता ॥४४॥

सागारों का अनगारों का चरित सुखद है पावन है,
जिसके उद्भव रक्षण वर्धन में बाहर जो साधन है।
वही रहा 'चरणानुयोग' है पूर्ण-ज्ञान यों बता रहा,
उसका अवलोकन कर ले तू समय वृथा क्यों बिता रहा ॥४५॥

जीव-तत्त्व क्या कहाँ रहा, अजीव कितने रहे कहाँ
पाप रहा क्या पुण्य रहा क्या, बंध मोक्ष क्या रहे कहाँ ?
इस सबको द्रव्यानुयोग-मय, दीप प्रकाशित करता है,
मूल-भूत जिन श्रुत विद्या का, प्रकाश लेकर जलता है ॥४६॥

सुचिर काल के मोह तिमिर को, पूर्ण रूपसे भगा दिया
समदर्शन का लाभ हुआ जो, सत्य-ज्ञान को जगा लिया।
राग-रोष का मूल रूप में, क्षय करना अब कार्य रहा,
तभी चरित को धारण करता, साधु रहा यह आर्य रहा ॥४७॥

हिंसादिक सब पापों के जब, निराकरण के करने से,
राग रोष ये मिटते कारण, बाधक कारण मिटने से।
जिसके मन में अणु भर भी नहिं, धन मणि यश की अभिलाषा,
किस विध कर सकता फिर सेवा, राजा की वह बन दासा ॥४८॥

हिंसा से औ असत्य से भी, चोरी मैथुन-सेवन से,
पापास्रव के सभी कारणों, और परिग्रह मेलन से।
सुदूर होना भाग्य मानकर, संयम-मय जीवन जीना,
सच्चे ज्ञानी पुरुषों का वह, चारित है निज आधीना ॥४९॥

सकल संग को त्याग चुके हैं, अनगारों का सकल रहा,
अल्प संग को त्याग चुके हैं, सागारों का विकल रहा।
सकल नाम का विकल नाम का, इस विध चारित द्विविध रहा,
भविजन धरते फल मिलता है, सुर-सुख शिव-सुख विविध महा ॥५०॥

गृही जनों का विकल चरित्र भी, त्रिविध बताया जिनवर ने,
अणुव्रत गुणव्रत शिक्षाव्रत यों, नाम पुकारा गणधर ने ।
रहा पांचवा अणुव्रत भी वह, गुणव्रत भी वह त्रिविध रहा,
शिक्षाव्रत यह रहा चतुर्विध, रुचि से पालो सुबुध अहा ? ॥५१॥

प्राणनाशिनी हिंसा का औ, अनुचित असत्य भाषण का,
चोरी, मैथुन-सेवन का भी तथा संग के धारण का ।
पूर्ण नहीं पर स्थूल रूप से, पापों का जो त्याग रहा,
अणुव्रत माना जाता है वह, सुख का ही अनुभाग रहा ॥५२॥

कभी भूलकर काया से भी, और वचन से निजमति से,
कृत से भी औ कारित से भी, अन्य किसी की अनुमति से ।
संकल्पित हो त्रस जीवों का, प्राण-घात जो नहिं करना,
'अहिंसाणुव्रत' वही रहा है, जिन कहते तू उर धरना ॥५३॥

निर्बल नौकर पशु पर भारी, भार लादना रोज व्यथा,
छेदन भेदन पीड़न करना, देना कम ही भोज तथा ।
अहिंसाणुव्रत के पाँचों ये, अतीचार हैं त्याज्य रहें,
तजता वह, भजता सुर सुख औ, क्रमशः शिव-साम्राज्य गहें ॥५४॥

स्थूल झूठ ना स्वयं बोलता, तथा न पर से बुलवाता,
तथा सत्य से बच, बचवाता, पर-पर यदि संकट आता ।
स्थूल सत्यव्रत यही रहा है, श्रावक पाले मन हरखे,
पर उपकारों में रत गणधर, इस विध कहते सुख बरसे ॥५५॥

कभी धरोहर डकार जाना, अहित पथ को "हित" कहना,
नर-नारी के गुप्त प्रणय को, प्रकटाना चुगली करना ।
ईर्षावश, नहिं किये कहे को, किये कहे यों लिख देना,
स्थूल-सत्यव्रत के ये दूषण, रस इनका न चख लेना ॥५६॥

रखी हुई या गिरी हुई या, कभी भूल से कहीं रही,
औरों की जो वस्तु रही हो, दी न गई हो निजी नहीं ।
उसे न लेना, अन्य किसी को तथा न देना भूल कभी,
'अचौर्य अणुव्रत' यही रहा है, रहा सौख्य का मूल यही ॥५७॥

चोरी करने प्रेरित करना, चौर्य द्रव्य पर से लेना,
काम मिलावट का करना औ, सत्ता का कर नहिं देना ।
मापतोल में बढ़न-घटन कर लेन-देन करते रहना,
अचौर्य अणुव्रत के ये पाँचों, दोष इन्हें हरते रहना ॥५८॥

पाप कर्म से डरते हैं जो, पर-वनिता का भोग नहीं,
स्वय तथा पर को प्ररित नहिं, करते हैं बुध लोग कभी ।
पर वनिता का त्याग रूप वह, ब्रह्मचर्य अणुव्रत भाता,
तथा उसी का अपर नाम ह "स्वदार सन्तोषित" साता ॥५९॥

पर के विवाह करना, अनुचित अग-सग मैथुन करना,
गाली गलौच देना, इच्छा काम-भोग की अति करना ।
व्याभिचारिणी के घर जाना, आना वार्तादिक करना,
ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाँचों दूषण हैं इनसे डरना ॥६०॥

दशविध परिग्रह धान्यादिक का, समुचित सीमित कोष करे,
सग्रह उससे अधिक संग का, नहीं करे, मनतोष धरे ।
"परिमित परिग्रह" पचम अणुव्रत यही रहा सुन सही जरा,
"इच्छा परिमाणक" भी प्यारा नाम इसी का तभी परा ॥६१॥

बहुत भार को ढोना संग्रह, व्यर्थ संग का अति करना,
पर धन लख विस्मित होना अतिलोभी बहु वाहन रखना ।
परिमित परिग्रह पंचम अणुव्रत, के पाँचों ये दोष रहे,
इस विध कहते जिनवर हमको, वीतराग गत दोष रहे ॥६२॥

अतीचार से रहित रही है, सारी अणुव्रत की निधियाँ,
नियम रूप से शीघ्र दिखाती, स्वर्गों की स्वर्णिम गलियाँ ।
अणिमा महिमादिक आठों गुण अवधिज्ञान से सहित मिले,
भव्य-दिव्य मणिमय-सी काया छाया से जो रहित मिले ॥६३॥

आदिम में मातङ्ग रहा है, दूजे में धनदेव रहें,
वारिषेण नीली जय क्रमशः अन्य व्रतों में, देव कहें ।
इस विध अणुव्रत पालन में ये, दक्ष रहें निष्णात हुए,
पूजा अतिशय यश पाया है, भविक जनों में ख्यात हुए ॥६४॥

सुनो ! सुनो ! हिंसा में कुशला रही धनश्री सेठानी,
असत्य में तो सत्यघोष वह चोरी में तापस नामी ।
काम पाप में यमपालक था और स्मश्रु-नवनीत रहा,
पाँचों पापों में यों पाँचों ख्यात यही अघ-गीत रहा ॥६५॥

मद्य-माँस-मधु मकार त्रय का प्रथम पूर्ण वारण करना,
अहिंसादि अणुव्रत पाँचों का सादर परिपालन करना ।
गृही जनों के अष्टमूल-गुण श्रमणवरों ने बतलाया,
पाला जिसने पाया उसने पावन-पद शाश्वत काया ॥६६॥

गुणव्रत हैं त्रय दिग्व्रत आदिम अनर्थदण्डक व्रत प्यारा,
भोगोपभोग परिमाण तथा रहा तीसरा व्रत सारा ।
विमल बनाते सबल बनाते सकल मूलगुण के गण को,
सार्थक इनका नाम इसी से आर्य बताते भविजन को ॥६७॥

मरण काल तक दशों दिशाओं की मर्यादा अपनाना,
उससे बाहर कभी न जाऊँ यों सङ्कल्पित हो जाना ।
चूँकि ध्येय है सूक्ष्म पाप से भी पूरण बचकर रहना,
यही रहा है दिग्व्रत इस विध पूज्य गणधरों का कहना ॥६८॥

सागर सरिता सरवर भूधर पुर गोपुर औ नगर महा,
यथा प्रयोजन, योजन आदिक वन-उपवन गिरि शिखर महा ।
दशों दिशाओं की मर्यादा गुणव्रत धरके की जाती,
इन्हीं स्थलों को हेतु बनाते जिनवाणी यों बतलाती ॥६९॥

मर्यादा के बाहर जबसे सूक्ष्म पाप से रहित हुए,
पापभीत हो यथा प्रयोजन सभी दिग्व्रतों सहित हुए ।
तभी महाव्रत पन को पाते सागारों के अणुव्रत हो,
पाप त्याग की महिमा न्यारी अकथनीय है अनुगत हो ॥७०॥

कषाय प्रत्याख्यानावरणा मन्द-मन्दतर हुए जभी,
चरित मोह परिणाम सभी वे मन्द-मन्दतर हुए तभी ।
मोहादिक के भाव यदपि हैं सहज पकड़ में नहीं आते,
तभी गृही उपचार मात्र से महाव्रती वे कहलाते ॥७१॥

हिंसादिक पाँचों पापों को तन से वच से औ मति से,
पूर्ण त्यागना भूल राग को कृतकारित से अनुमति-से ।
महामना मुनि महाराज का रहा महाव्रत सुधा वही,
संग सहित हो स्वयं आपको मुनि माने जो मुधा वही ॥७२॥

ऊपर-नीचे आजू-बाजू सीमा उल्लंघन करना,
किसी प्रलोभनवश निर्धारित, सीमा संवर्धन करना ।
प्रमादवश कृत सीमा की स्मृति विस्मृत करना, मूढ़ रहे,
आगम कहता सुनो ! पाँच ये दिग्व्रत के हैं शूल रहे ॥७३॥

दशों दिशाओं की मर्यादा के भीतर भी वच तन को,
बिना प्रयोजन पाप कार्य से रोक लगाना निज मन को ।
अनर्थ दण्डक व्रत यह माना, व्रत धरके गुरु बतलाते,
जिसके जीवन में यह उतरा तरा भवोदधि वह तातैं ॥७४॥

रुचि से सुनना पाप कथायें और सुनाना औरों को,
प्रमाद करना, प्रदान करना हिंसा के उपकरणो को ।
अनर्थ-दण्डक पाँच पाप ये दुश्चिंतन में रत रहना,
इन दण्डों को नहीं धारते गणधर देवो का कहना ॥७५॥

पशुओं को पीड़ा हो जिनसे कृषि आदिक हिंसाधिक हो,
जिन उपदेशों से यदि बढसे प्रचलित प्रवचनादिक हो ।
उन्हीं कथायें बार-बार बस, सतत सुनाते जो रहना,
वही रहा पापोपदेश है अनर्थ जड़ है भव गहना ॥७६॥

हिंसा के जो कारण माने फरसा भाला हाला को,
खड्ग कुदारी तथा शृंखला जलती ज्वाला जाला को ।
प्रदान करना, अनर्थ दण्डक यह है हिंसा दान रहा,
बुध कहते, दुःख प्रदान करता भव-भव मे दुःख खान रहा ॥७७॥

द्वेषभाव से कभी किसी के बंधन छेदन का वध का,
रागभाव के वशीभूत हो परवनितादिक का धन का ।
मन से चिंतन करना हो तो दुःख हेतु दुर्ध्यान रहा,
जिन शासन के शासक कहते सौख्य हेतु शुभ ध्यान रहा ॥७८॥

कृषि आदिक का वशीकरण का, सग वृद्धि का वर्णन हो,
वीर रसों का मिश्रण जिनमें द्वेषभाव का चित्रण हो ।
कुमत मदन के पोषक हैं, उन शास्त्रों का श्रवण रहा,
मन कलुषित करता, 'दुःश्रुति' यह इसका फल भवभ्रमण रहा ॥७९॥

अनल जलाना अनिल चलाना सलिल सिंचना वृथा कभी
धरा खोदना, धूल उछालन लता तोड़ना तथा कभी
बिना प्रयोजन स्वयं घूमना और घुमाना परजन को,
प्रमाद नामक अनर्थ दण्डक यह कारण भव-बंधन को ॥८०॥

बहु बकना अति राग भाव से, असभ्य बातें भी करना,
भोग्य वस्तुयें अधिक बढ़ाना कुत्सित चेष्टायें करना
किसी कार्य का ऽऽरम्भ अधिक भी पूर्व भूमिका बिन करना,
अनर्थ दण्डक व्रत के पांचों दोष रहें ये, नहिं करना ॥८१॥

विषय राग की लिप्सा को जब और क्षीणतम करना हैं,
विषयो की सीमा को उसके भीतर भी कम करना है
आवश्यक पंचेन्द्रिय विषयों की सीमा सीमित करना,
भोगोपभोग परिमाण यही हैं गुणव्रत धरना हित करना, ॥८२॥

भोग वही जो भोग काम में एकबार ही आता है,
किन्तु रहा उपभोग काम में बार-बार जो आता हैं
अशन सुमन आसन वसनादिक पचेन्द्रिय के विषय रहें,
श्रावक इनमे रचे-पचे नहिं निज व्रत मे नित अभय रहें ॥८३॥

जिसने जिनवर के जग तारण-तरण-चरण की शरण गही,
कहा जा रहा उसका, निश्चित बनना है आचरण सही
त्रसहिंसा से जब बचना है मांस तथा मधु तजता है,
तथा साथ ही प्रमाद तजने मद्य-पान भी तजना है ॥८४॥

मूली, लहसुन, प्याज, गाजरा, आलू, अदरक आदिक को,
नीम कुसुम नवनीत केवड़ा गुलाब गुलन्दादिक को
साधु जनों ने त्याज्य बताया इसका कारण यह श्रोता !
जीव घात तो अधिक, अल्प फल इनके भक्षण से होता ॥८५॥

रोग जनक प्रतिकूल अन्न हो भक्ष्य भले ही त्याज्य रहे,
प्रासुक हो पर अनुपसेव्य भी व्रतीजनों को त्याज्य रहें
क्योंकि ग्रहण के योग्य विषय को, इच्छापूर्वक तजना ही,
व्रत हैं इस विध आगम कहता, मोह राग को तज राही ॥८६॥

भोगोपभोग परिमाण द्विविध है कहता जिन आगम प्यारा,
नियम नाम का एक रहा हैं, रहा दूसरा 'यम' वाला
तथा काल की सीमा करना, वही नियम से नियम रहा,
आजीवन जो धारा जाता यम कहलाता परम रहा ॥८७॥

अशन पान का शयन स्नान का तथा काम के सेवन का,
श्रवण गान का सुमन माल का ललित काय के लेपन का
पचन पान का वसन मान का शोभन भूषण धारण का,
वाद्य गीत संगीत प्रीति हा हयगय अतिशय वाहन का ॥८८॥

घटिका में या दिनभर में या निशि में निशिवासर में या,
पक्ष मास ऋतु एक अयन में पूरण संवत्सर में या
यथा शक्ति इन्द्रिय विषयों का जो तजना हैं ''नियम'' रहा,
इसका पालन करने वाला सुख पाता अप्रतिम रहा ॥८९॥

विषम-विषमतम विष सम विषयों को अनपेक्षित नहिं करना,
विगत काल में भोगे-भोगों, की स्मृति भी पुनि-पुनि करना
भावी भोगों की अति तृष्णा, लोलुपता अति अपनाना,
भोगोपभोग परिमाण दोष ये, भोगों में अति रम जाना ॥९०॥

प्रथम देश अवकाशिक प्यारा दूजा है सामयिक तथा,
रहा प्रोषधा उपवासा है, ''वैयावृत्य, श्रमिक-कथा''
मुनिव्रत शिक्षा मिलती इनमें शिक्षा व्रत ये चार रहें
मुनि बनने की इच्छा रखते श्रावक इनको धार रहें ॥९१॥

बहुत क्षेत्र की दशों दिशाओं, में सीमा आजीवन थी
उसे काल की मर्यादा से, कम-कम करना प्रतिदिन भी
यही देश अवकाशिक व्रत है, अणुव्रत पालक श्रावक का,
यही देशनामृत मृतिनाशक जिन शासन के शासक का ॥९२॥

ग्राम तथा आराम धाम निज पुर गोपुर औ भवन महा,
यथा प्रयोजन योजन-योजन नद नदिका वन गहन अहा
सुनो ! देश अवकाशिक व्रत में, इनकी सीमा की जाती,
गणी कहें, भवतीर लगाती वीर भारती भी गाती ॥९३॥

एक स्थान पर रहूँ वर्ष या एक अयन ऋतु पक्ष कभी,
चार मास या मास बनाना नियम कभी नक्षत्र कभी
यही देश अवकाशिक व्रत की कालावधि मानी जाती,
ज्ञानी ध्यानी कहते हैं औ जिनवर की वाणी गाती ॥९४॥

देश काल की सीमायें जब, निर्धारित कर पाने से,
उनके बाहर स्थूल सूक्ष्म अघ पाँचों ही मिट जाने से
स्वयं देश अवकाशिक व्रत भी अणुव्रत होकर महा बने,
व्रत की महिमा यही रही है दुःख बनता सुख सुधा बने ॥९५॥

कभी भेजना सीमा बाहर पर को अथवा बुलवाना,
कंकर आदिक फेंक सूचना करना ध्वनि देकर गाना
सीमा के अन्दर रहना पर रूप दिखाना बाहर को,
दोष, देश अवकाशिक व्रत के ये हैं; तज अघ-आकर को ॥९६॥

सीमा के भीतर बाहर पांचों पापों का त्याग करो,
तन से मन से और वचन से आतम में अनुराग करो
यही रहा सामयिक नाम का शिक्षाव्रत अघहारक हैं,
ऐसे कहते गणधर आदिक अगाध आगम धारक हैं ॥९७॥

केशबन्ध का मुष्टिबन्ध का वस्त्र बन्ध का काल रहा,
तथा बैठने स्थित होने का जो आसन का काल रहा
वही रहा सामयिक समय है कहते आगम ज्ञाता हैं,
जो करता सामयिक नियम से बोधि समागम पाता है ॥९८॥

व्यभिचारी महिलाजन पशु से रहित रहे एकान्त रहे,
सभी तरह की बाधाओं से रहित रहे पै, शान्त रहे
निजी भवन में वन उपवन में चैत्य भवन या जंगल में,
व्रती सदा सामयिक करे वह प्रसन्न मन से मंगल में ॥९९॥

देहाहिक की दूषित चेष्टा प्रथम नियन्त्रित भी करके,
संकल्पों औ विकल्प जल्पों का निग्रह कर भीतर से ।
अनशन के दिन करना अथवा एकाशन के दिन में भी करना,
व्रती पुरुष सामयिक यथा विधि अन्य दिनों में भी करना ॥१००॥

यथाविधी एकाग्र चित्त से श्रावकजन नित प्रतिदिन भी,
अहोभाग्य सामयिक करें वे अनुत्साह आलस बिन ही ।
क्योंकि अहिंसादिक अणुव्रत हो पूर्ण इसी से सफल रहें,
गीत इसी के निशिदिन गाते मुनिगण नायक सकल रहें ॥१०१॥

सुनो ! व्रती सामयिक करेगा जब करता आरम्भ नहीं,
पास परिग्रह नहिं रखता है पर का कुछ आलम्ब नहीं ।
तभी गृही वय यतिपन को है पाता दिखता है ऐसा,
हुआ कहीं उपसर्ग वस्त्र से वेष्ठित मुनि लगता जैसा ॥१०२॥

श्रावक जब सामयिक कार्य को करने संकल्पित होता,
बाँधी सीमा तक अपने में पूर्णरूप अर्पित होता ।
मच्छर आदिक काट रहे हों शीत लहर हो अनल दहे,
सहे परीषह उपसर्गों को मौन योग में अचल रहे ॥१०३॥

अशरण होकर अशुभ रहा है सार नहीं दुःख क्षार रहा,
पर है परकृत तथा रहा है क्षणभंगुर संसार रहा ।
किन्तु शरण है शुभ है सुख है स्वयं मोक्ष ध्रुव सार रहा,
यह चिंतन सामयिक काल में करता वह भव पार रहा ॥१०४॥

मन वच तन के योग तीन ये पाप सहित जो बन जाना,
तथा अनादर होना-होना सहसा विस्मृत अनजाना ।
ये पांचों सामयिक नाम के शिक्षाव्रत के दोष रहें,
दोष रहित जिनदेव बताते गुण-गण के जो कोष रहें ॥१०५॥

सदा अष्टमी चतुर्दशी को भोजन का बस त्याग करें,
अशन पान को खाद्य लेह्य को, याद करे ना राग करें ।
यही "प्रोषधा उपवासा" है व्रतीजनों का ज्ञात रहें,
किन्तु मात्र व्रत पालन करना सत्य प्रयोजन साथ रहे ॥१०६॥

लोचन अंजन नासा रजन दाँतन मंजन स्नान नहीं,
नास तमाखु अलंकार ना फूल-माल का मान नहीं ।
असि मशि कृषि आदिक षटकर्मो पापों का परिहार करें,
निराहार उपवास दिनों में निज का ही शृंगार करें ॥१०७॥

पूर्ण चाव से निज श्रवण मे धर्मामृत पा पान करें,
बने अन्य को पान करावे सहधर्मी का ध्यान करें ।
ज्ञानाराधन द्वादशभावन धर्म ध्यान में लीन रहें,
किन्तु व्रती उपवास दिनों में प्रमाद-भर से हीन रहें ॥१०८॥

अशन पान का खाद्य लेह्य का पूर्ण-त्याग उपवास रहा,
एक बार ही भोजन करना प्रोषध उसका नाम रहा ।
तथा पारणा के दिन भोजन एक बार ही जो गहना,
रहा "प्रोषधा उपवासा" वह बार-बार गुरु का कहना ॥१०९॥

देख-भाल बिन शोधे बिन ही पूजन द्रव्यों को लेना,
जहाँ कहीं भी दरी बिछाना मल-मूत्रों को तज देना ।
तथा अनादर होना, होना विस्मृति भी वह कभी-कभी,
दोष प्रोषधा उपवासा के हैं कहते हैं सुधी सभी ॥११०॥

तपोधनी हैं गुण के निधि हैं गृह-त्यागी संयम-धर हैं,
उनको अन्नादिक देना यह "वैयावृत्या" व्रतवर हैं ।
पर प्रतिफल की मन्त्र-तन्त्र की इच्छा बिन हो दान खरा,
यथाशक्ति से तथा यथाविधि धर्म-भाव पर ध्यान धरा ॥१११॥

संयमधर पर आया संकट उसे मिटाना कार्य रहा,
पैर थके हों पीड़ा हो तो उन्हें दबाना आर्य महा ।
गुण के प्रति अनुराग जगा हो अन्य-अन्य उपकार सभी,
वैयावृत्या कहलाता है लाता है भवपार वही ॥११२॥

पाप कार्य सब चूली चक्की आदिक सूने त्याग दिये,
आर्य रहें अनिवार्य कार्यरत संयम में अनुराग किये ।
उन्हें सप्त गुण युत शुचि श्रावक नवविध भक्ति है करता,
प्रासुक अन्नादिक देता वह दान कहाता दुःख हरता ॥११३॥

अगार तज अनगार बने हैं अतिथि रहें नहिं तिथि रखते,
उन पात्रों को दाता देते दान यथोचित मति रखते ।
गृह-कार्यों से अर्जित दृढ़तम अघ भी जिससे धुलता है,
रुधिर नीर से जिस विध धुलता, आती अति उज्ज्वलता हैं ॥११४॥

तपोधनों को नमन करो तो सुफल निराकुल सुकुल मिले,
उपासना से पूजा मिलती भोग दान से विपुल मिले ।
भक्त बनो गुरु-भक्ति करो तो सुभग-सुभगतम तन मिलता,
गुरु-गुण-गण की स्तुति करने से यश फैले जन मंजुलता ॥११५॥

सही पात्र को भाव-भक्ति से समयोचित हो दान रहा,
अल्पदान भी अनल्प फल दे भविजन को वरदान रहा ।
उचित धरा पर वपन किया हो, हो अणु-सा वट बीज भले,
घनी छाँव फल देता तरु बन भाव भले, शुभ चीज मिले ॥११६॥

प्रथम रहा आहार दान है दूजा औषध दान रहा,
शास्त्रादिक उपकरणदान जो वही तीसरा दान रहा ।
चौथा है आवासदान यों भेद दान के चार रहे,
वैयावृत्या अत: चतुर्विध सुधी कहे आचार्य कहें ॥११७॥

प्रजापाल श्रीषेण नाम का प्रथम दान में ख्यात रहा,
हुई वृषभसेना वह औषध महादान में ख्यात महा ।
तथा रहा उपकरण-दान में नामी है कौण्डेश अहा,
सूकर वह आवास-दान में यह गुरु का उपदेश रहा ॥११८॥

देवों से भी पूज्य देव ''जिन'' जिनके सुरपति दासक हैं,
प्रभु पद पंकज कामधेनु हैं कामभाव का नाशक हैं ।
सविनय सादर जिनपद पूजन बुधजन प्रतिदिन करे अत:,
सब दुख मिटता मिलता निज सुख क्रमशः शिव को वरे स्वत: ॥११९॥

अरहन्तों के चरण कमल की पूजा की महिमा न्यारी,
शब्दों में वह बंध नहिं सकती थकती रसनायें सारी ।
इस महिमा को राजगृही में भविक जनों के सम्मुख रे,
प्रमुदित मेण्ढक दिखलाया है फूल-पाँखुड़ी ले मुख में ॥१२०॥

अतिथिजनों को दाता देते भोजन जो यदि ढका हुआ,
कदली के पत्रों से अथवा कमल-पत्र पर रखा हुआ,
तथा भाव मात्सर्य अनादर विस्मृति होना दोष रहें,
वैयावृत्या व्रत के पाँचों कहते गुरु गतदोष रहें ॥१२१॥

जरा-दशा दुर्भिक्ष-काल या उपसर्गों का अवसर हो,
रोग भयंकर तथा हुआ हो दुर्निवार हो दु:खकर हो ।
धर्म-भावना रक्षण करने तन तजना तब कार्य रहा,
सल्लेखन वह है इस विध ये कहते गुरुवर आर्य महा ॥१२२॥

अन्त समय संन्यास सहारा लेना होता है प्राणी !
सकल तपों का सुफल रहा वह विश्व-विज्ञ की यह वाणी ।
इसीलिए अब यथाशक्ति बस पाने समाधि मरण-अरे,
सतत यतन करते रहना है तुम्हें मुक्ति तब वरण करे ॥१२३॥

प्रेम भाव को बैर भाव को तथा अंग की ममता को,
सकल सङ्ग को तजकर, धरकर निर्मल मनमें समता को ।
विनय घुला हो प्रिय सम्वादों मिश्री वचनों से,
आप क्षमाकर क्षमा माँगकर पुरजन परिजन स्वजनों से ॥१२४॥

सर्व पाप का आलोचन कर कृत से कारित अनुमति से,
सभी तरह का कपट भाव तज सरल सहज निश्छल मति से ।
पंच पाप का त्याग करे वह जब तक घट में प्राण रहे,
पंच महाव्रत ग्रहण करें पर आत्म-तत्त्व का भान रहे ॥१२५॥

शोक छोड़ना भीति छोड़ना पूर्ण छोड़ना खेद तथा,
स्नेह छोड़ना द्वेष छोड़ना अरतिभाव मनभेद व्यथा ।
अहो ! धैर्य भी तथा जगाना उत्साहित निज को करना,
गम्य श्रुतामृत पिला पिलाकर तृप्त शान्त मनको करना ॥१२६॥

दाल भात आदिक को क्रमशः कम-कम करते त्याग करें,
दुग्धादिक का पान करे अब नहीं अन्न का राग करे ।
दुग्धादिक को भी क्रमशः फिर निज इच्छा से त्याग करें ।
नीरस कांजी नीरादिक का केवल बस अनुपान करें ॥१२७॥

नीरस प्रासुक जलपानादिक भी क्रमशः फिर तज देना,
तन कृश हो उपवास करे पर प्रथम निजी बल लख लेना ।
पूज्य पंच नवकार मंत्र को निशिदिन मन से जपना है,
पूर्ण यत्न से जागृत बनकर तजना तन को अपना है ॥१२८॥

जीवन की वांछा करना मैं शीघ्र मरूँ मन में लाना,
तथा मित्र की स्मृति हो आना भय से मन भी घिर जाना।
भोग मिले यों निदान करना पाँच दोष ये कहलाते,
सल्लेखन के जिनवर कहते दोष टाल बुध सुख पाते ॥१२९॥

सल्लेखन से कुछ धर्मात्मा भवसागर का तट पाते,
अन्तरहित शिव सुखसागर को तज नहिं भव पनघट आते।
किन्तु भव्य कुछ परम्परा से शिवसुख भाजन हो जाते,
तन के मन के दुःख से रीता दीर्घकाल सुर सुख पाते ॥१३०॥

जनन नहीं है मरण नहीं है जरा नहीं है शोक नहीं,
दुःख नहीं है भीति नहीं है किसी तरह के रोग नहीं।
वही रहा निर्वाण धाम है नित्य रहा अभिराम रहा,
निःश्रेयस है विशुद्धतम सुख ललाम आतम राम रहा ॥१३१॥

अनन्त विद्या अनन्त दर्शन अनन्त केवल शक्ति रही,
परम स्वास्थ्य आनन्द परम औ परम शुद्धि परितृप्ति सही।
जो कुछ उघड़े घटे-बढ़े नहिं अमित काल तक अमिट रहे,
निःश्रेयस निर्वाण वही है सुख से पूरित विदित रहे ॥१३२॥

एक-एक कर कल्प-काल भी बीत जाय शत-शत भाई,
या विचलित त्रिभुवन हो ऐसा वज्रपात हो दुखदाई।
सिद्ध शुद्ध जीवों में फिर भी विकार का वह नाम नहीं,
उनका सुखकर नाम इसी से लेता मैं अविराम सही ॥१३३॥

निःश्रेयस् निर्वाण धाम में सुचिर काल ये बसते हैं,
तीन लोक की शिखामणी की मंजुल छवि ले लसते हैं।
कीट कालिमा रहित कनक की शोभा पाकर भासुर हैं,
सिद्ध हुए हैं शुद्ध हुए हैं जिन्हें पूजते आसुर हैं ॥१३४॥

आज्ञापालक सेवक मिलते मिलती पूजा पद-पद है,
सभी तरह की विलासताएँ मिलती महती सम्पद हैं ।
परिजन मिलते योग्य भोग्य बल काम धाम आराम मिले,
जग-विस्मित हो अद्‌भुत सुख दे सत्य धर्म से शाम टले ॥१३५॥

प्रतिमाएँ वे कहलाते हैं ग्यारह श्रावक पद भाते,
उत्तर पद गुण पूर्व पदों के गुणों सहित ही बढ़ पाते
उचित रहा यह करोड़पति ज्यों लखपति पन से युक्त रहे,
ऐसा जिनवर का कहना है जनन मरण से मुक्त रहें ॥१३६॥

विषय भोग संसार देह से अनासक्त हो जीता है,
समीचीन दर्शन का नियमित मधुर सुधारस पीता है ।
पाँचों परमेष्ठी गुरुजन के चरणों में जा शरण लिया,
दर्शन-प्रतिमा का धारक वह तत्त्वपंथ को ग्रहण किया ॥१३७॥

पांचो अणुव्रत धारण करता अतीचार से रहित हुआ,
तीनों गुणव्रत चउशिक्षाव्रत इन शीलों से सहित हुआ ।
वही रहा व्रत प्रतिमाधारक किन्तु शल्य से रीता हो,
महाव्रती गणधर आदिक यों कहते हैं भवभीता हो ॥१३८॥

तीन-तीन कर चार-चार जो आवर्तों को करते हैं,
दिग्‌अम्बर हो स्थित हो प्रणाम, चार बार औ करते हैं ।
तीन सन्ध्याओं में वन्दन बैठ नमन दो बार करे,
श्रावक वे सामयिक नाम पद पा ले भव को पार करें ॥१३९॥

चतुर्दशी दो तथा अष्टमी प्रतिमास में आते हैं,
उन्हीं दिनों में यथाशक्ति सब काम-काज तज पाते हैं ।
प्रसन्न हो एकाग्र चित्त हो प्रोषध नियमों कर पाते,
प्रोषध उपवासा प्रतिमा के धारक श्रावक कहलाते ॥१४०॥

कच्चे जब तक रहते हैं वे कन्द रहो या मूल रहो,
करीर हो या शाक पात फल शाखा हो या फूल रहो ।
उनको तब तक खाते नहिं हैं दयामूर्ति जो श्रावक हैं,
सचित्त-विरता प्रतिमा के वे पूर्णरूप से पालक हैं ॥१४१॥

अन्न पान औ खाद्य लेह्य यों रहा चतुर्विध भोजन है,
उसका सेवन निशि में करते नहीं व्रतीजन भो ! जन हैं ।
जग में सब जीवों के प्रति जो करुणा धारण करते हैं,
निशि भोजन के त्याग नाम की प्रतिमा पालन करते हैं ॥१४२॥

मल का कारण, बीज रहा है मल का मल झरवाता है,
अशुचि धाम दुर्गन्ध रहा है तथा घृणा करवाता है ।
ऐसे तन को लखकर श्रावक मैथुन सेवन तजता है,
वही ब्रह्मचारी कहलाता धर्म-भाव बस भजता है ॥१४३॥

असि मसि कृषि सेवा शिल्पादिक प्रमुख यही आरम्भ रहें,
प्राणघात के कारण, कारण पापों के संबंध रहें ।
इस आरंभों को तजता है पाप-भीत करुणाधारी,
वही रहा आरम्भ त्यागमय प्रतिमाधारी आगारी ॥१४४॥

दाम धाम आदिक सब मिलकर बाह्य परिग्रह दशविध हो,
उसकी ममता तज जो श्रावक निरीह निर्मम बस बुध हो ।
तथा बना संतोष कोष, हो निज कार्यो में निरत सही,
स्वामीपन ले मन में बैठे सकल संग से विरत वही ॥१४५॥

असि मसि कृसि आदिक आरंभो में तो ना अनुमति देता ।
किन्तु संग में विवाह कार्यो में भी न मति देता,
यद्यपि घर में रहता फिर भी समता-धी से सहित रहा,
वही रहा दशवीं प्रतिमा का पालक अनुमति-विरत रहा ॥१४६॥

श्रावक घर को तजता है फिर मुनियों के वन में जाता,
गुरुओं से सानिध्य प्राप्त कर करे ग्रहण सब व्रत साता ।
भिक्षाचर्या से भोजन पा तप तपता सुखकारक है,
श्रावक वह उत्कृष्ट रहा है खण्ड वस्त्र का धारक है ॥१४७॥

पाप रहा जो वही शत्रु है धर्म-बन्धु है रहा सगा,
यदि आगम को जान रहा है ऐसा निश्चय रहा जगा
वही श्रेष्ठ है ज्ञानी अथवा अपने हित का है ज्ञाता,
जिसको हित की चिन्ता नहिं है ज्ञानी कब वह कहलाता ? ॥१४८॥

मिथ्यादर्शन आदिक से जो निज को रीता कर पाया,
दोषरहित विद्या दर्शनव्रत रत्नकरण्डक कर पाया ।
धर्म अर्थ की काम मोक्ष की सिद्धि उसी को वरण करे,
तीन लोक में पति-इच्छा से स्वयं उसी में रमण करे ॥१४९॥

सुखद कामिनी कामी का ज्यों सुखी मुझे कर दुरित हरे,
शीलवती माँ सुत की जिस विध मम रक्षा यह सतत् करे ।
कुल को कन्या सम गुणवाली यह मुझको शुचि शान्त करे,
दृग् लक्ष्मी मम जिन-पद पद्मों में रहती सब ध्वान्त हरे ॥१५०॥

मंगल कामना

विहसित हो जीवन लता, विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूँघता, महक उठी आमूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को, हरूँ ताप बन शान्त ।
गति आगति रति मति मिटे, मिले आय निज प्रान्त ॥२॥

रग-रग से करुणा झरे, दुःखी जनों को देख ।
विश्व सौख्य में अनुभवँ, स्वार्थ सिद्धि की रेख ॥३॥

सर रूपादिक है नहीं, मुझ मे केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ, चिर औ हूँ, हूँ निज के बल जान ॥४॥

तन मन से और वचन से, पर का कर उपकार
रवि सम जीवन बस बने, मिलता शिव उपहार ॥५॥

यम-दम-शम-सम तुम धरो, क्रमशः कम श्रम होय
नर से नारायण बनो, अनुपम अधिगम होय ॥६॥

मंगल जग जीवन बने, छा जावे सुख छाँव
जुड़े परस्पर दिल सभी, टले अमंगल भाव ॥७॥

शाश्वत निधि का धाम हो, क्यों बनता तू दीन
है उसको बस देख ले, निज में होकर लीन ॥८॥

रचना काल एवं समय परिचय

खुद पर्वत यो गा रहा, ले कुण्डल आकार ।
कुण्डलगिरि में हूँ खड़ा, कौन करे नाकार ? ।।१।।

सार्थक कुण्डलगिरि रहा, सुखकर कोनी क्षेत्र ।
एक झलक में खुल गये, मन के मौनी नेत्र ।।२।।

व्यसन गगन गति गन्ध' की, चैत्र अमा का योग ।
पूर्ण हुआ यह ग्रन्थ है, ध्येय मिटे भव रोग ।।३।।

(व्यसन-७, गगन-० गति-५, गंध-२, ७०५२ 'अकांना वामतो गतिः' के अनुसार वीरनिर्वाण संवत २५०७, वि. सं. २०३७, चैत कृष्ण अमावस्या. ४ अप्रैल ८१ ई. को श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, कुण्डलगिरि (कोनी जी) पाटन, जबलपुर (म.प्र.) में रयण मंजूषा का पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।)

आप्त-मीमांसा

मूल : आप्त मीमांसा (संस्कृत)

रचनाकार आचार्य समन्तभद्र स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

आप्त-मीमांसा

मङ्गलाचरण

सन्मति को मम नमन हो, मम मति सन्मति होय ।
नर-सुर-पशु गति सब मिटे, पंचम गति होय ॥१॥

चन्दन चन्दर-चान्दनी, से जिन-धुनी अतिशीत ।
उसका सेवन मैं करूँ, मन वच तन कर नीत ॥२॥

सुर, सुर-गुरु तक गुरु चरण, रज सर पर सुचढाय
यह मुनि, मन-गुरु-भजन में, निशिदिन क्यों न लगाय ॥३॥

कुन्दकुन्द को नित नमूँ, हृदय-कुन्द खिल जाय ।
परम सुगन्धित महक में, जीवन मम धुल जाय ॥४॥

गुण-निधि समन्तभद्रगुरु, महके अगुरु सुगंध ।
अर्पित जिनपद में रहे, गन्ध-हीन मम छन्द ॥५॥

तरणि ज्ञानसागर गुरो, तारो मुझे ऋषीश ।
करुणाकर ! करुणा करो, कर से दो आशीष ॥६॥

देवागम का मैं करूँ, पद्यमयी अनुवाद ।
मात्र प्रयोजन मम रहा, मोह मिटे परमाद ॥७॥

सर पर फिरते छतर चँबर वर स्वर्णासन पर अधर लसे ।
ऊपर से सुर उतर उतर कर तुम पद में मम भ्रमर बसे ॥
इस कारण से पूज्य हमारे बने प्रभो यह बात नहीं ।
इस विध वैभव माया-जाली भी पाते क्या ? ज्ञात नहीं ॥१॥

जरा-रहित है रोग-रहित है उपमा से भी रहित रहा ।
तव तन अकालमरणादिक से रहित रहा द्युति सहित रहा ॥
इस कारण से भी तुम प्रभु तो पूज्य हमारे नहीं बने ।
देवों की भी दिव्य देह है देव सुखों में तभी सने ॥२॥

आगम, आगमकर्ता अनगिन तीर्थंकरों की कमी नहीं ।
किन्तु किसी की कभी किसी से बनती नहिं है कमी यही ॥
कौन सही फिर कौन सही ! इसीलिए सब आप्त नहीं ।
किन्तु एक ही इन सब मे ही "गुरु चेता" यह बात रही ॥३॥

कहीं किसी में मोहादिक की तरतमता वह विलस रही ।
अतः ईश तुम, तुम में जड से अघ की सत्ता विनस रही ॥
यथा कनक-पाषाण, कनक हो समुचित साधन जब मिलता ।
चरित बोध दृग आराधन से बाह्याभ्यन्तर मल मिटता ॥४॥

सूक्ष्म रहें कुछ, दूर रहे कुछ, बहुत पुराने तथा रहे ।
पदार्थ सब प्रत्यक्ष रहे हैं किसी पुरुष के, पता रहे ॥
अनलादिक अनुमान-विषय हैं, स्पष्ट किसी को यथा रहें ।
इसीलिए सर्वज्ञ-सिद्धि हो साधु-सन्त सब बता रहे ॥५॥

"सो" तुम ही "सर्वज्ञ" रहे प्रभु, दोष-कोष से मुक्त रहे ।
बोल, बोलते युक्ति-शास्त्र से युक्त रहें उपयुक्त रहे
विसवाद तव मत में नहि है पक्षपात से दूर रहा ।
अन्य मतो से बाधित भी ना क्षमता से भरपूर रहा ॥६॥

अपने को सर्वज्ञ मानकर मान-दाह में दग्ध हुये ।
सदा सर्वथा मतैकान्त के क्षार-स्वाद में दग्ध हुये ॥
सुधा-सार है तव मत, जिसके सेवन से तो वंचित हैं ।
बाधित हो प्रत्यक्ष-ज्ञान से उनका मत अघ रंजित है ॥७॥

पोषक हैं एकान्त मतों के अनेकान्त से दूर रहें ।
निजके निज ही शत्रु रहें वे औरों के भी क्रूर रहें
उनके मत में पुण्य, पुण्य-फल, नहीं पापफल, पाप नहीं ।
नाथ ! मोह नहिं, मोक्ष नहीं हो, इह भव, परभव आप नहीं ॥८॥

पदार्थ सारे भावरूप ही होते यदि यूं मान रहे ।
सभी अभावों का फिर क्या हो निश्चित ही अवसान रहे ॥
सब के सब फिर विश्वरूप हो आदि नहीं फिर अन्त नहीं ।
आत्मरूप का विलय हुआ "यूं" तुम मत में भगवन्त नहीं ॥९॥

प्रागभाव का मन से भी यदि करो अनादर घोर कहीं ।
घट पट आदिक कार्यद्रव्य हो अनादि फिर तो छोर नहीं ॥
अभाव जो प्रध्वंस रूप है उसका स्वागत नहिं करते ।
कार्यद्रव्य ये नियम रूप से अनन्तता को है धरते ॥१०॥

रहा "परस्पर अभाव" घट पट आदिक में जो एक खरा ।
उसे न माना, विशेष बिन, सब एक रूप हों, देख जरा ॥
अभाव जो अत्यन्त रूप है द्रव्य अचेतन चेतन में ।
जिस बिन चेतन बने अचेतन चेतनता आती तन मे ॥११॥

अभाव को एकान्त रूप से मान रहे वे भूल रहे ।
भावपक्ष को पूर्ण रूप से उड़ा रहे प्रतिकूल रहे ॥
प्रमाणता को आगम, अधिगम कभी नहिं फिर धर सकते ।
निजमत पोषण, परमत शोषण फिर किस विध हैं कर सकते ॥१२॥

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
पदार्थ भावाभावात्मक हो ऐसा कहते तने हुये ।
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥१३॥

भाव रूप ही रहा कथंचित् पदार्थ को जिनमत जानो ।
वही इष्ट फिर अभावमय हो रहा कथंचित पहिचानो ।।
उभय रूप भी, अवाच्य सो है, नहीं सर्वथा तथा रहा
विविध नयों का लिया सहारा छन्द यहां यह बता रहा ।।१४।।

अपने अपने चतुष्टयों से सत्त्व रूप ही सभी रहें ।
किन्तु सभी परचतुष्टयों से असत्त्व ही गुरु सभी कहें ।।
ऐसा यदि तुम नहीं मानते चलते पथ विपरीत कहीं ।
बिना अपेक्षा "सदसत् सब" यूं कहना यह बुध-रीत नहीं ।।१५।।

अस्तिरूप औ नास्ति रूप भी उभय रूप यों तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी, तीन रूप भी शेष भंग, मय सत्त्व रहा ।
अनेकान्तमय वस्तुतत्त्व यह स्याद्वाद से अवगत हो ।
विसंवाद सब मिटते इससे सुधी जनों का अभिमत हो ।।१६।।

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे ।
अस्तिपना वह नियम रूप से नास्तिपना के साथ रहे ।।
कारण सुन लो, एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते ।
"सो" सहभावी ज्यों वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ।।१७।।

किसी एक जीवादि वस्तु में बात तुम्हें यह ज्ञात रहे ।
नास्तिपना वह नियम रूप से अस्तिपना के साथ रहे ।
कारण सुन लो, एक वस्तु में कई विशेषण हैं रहते ।
"सो" सहभावी ज्यों वैधर्मी सहधर्मी का, गुरु कहते ।।१८।।

शब्दो का जो विषय बना है विशेष्य उसकी यह गाथा ।
विधि और निषेध वाला होता छन्द यहा है यह गाता
यथा अनल हो साध्यधर्म जब धूम्र हेतु हो वहाँ सही ।
किन्तु नीर जब साध्य-धर्म हो धूम्र-हेतु तब रहा नहीं ।।१९।।

इसी तरह ही शेष भंग भी साधित हो गुरु समझाते ।
समुचित नय के प्रयोग द्वारा सब उलझन को सुलझाते ॥
कारण इसमें किसी तरह भी विरोध को कुछ जगह नहीं ।
हे मुनिनायक ! तव शासन में मुनि यह रमता वजह यही ॥२०॥

इसविध निषेध-विधिवाली यह पद्धति स्वीकृत जब होती ।
बुधस्वीकृत वह वस्तुव्यवस्था कार्यकारिणी तब होती ॥
ऐसा यदि ना मान रहे तुम अर्थशून्य सब कार्य रहें ।
बाह्याभ्यन्तर साधन भी वे व्यर्थ रहें यू आर्य कहें ॥२१॥

अनन्त धर्मों का आकर ही प्रति पदार्थ का बाना हो ।
उन उन धर्मों में पदार्थ का भिन्न भिन्न ही भाना हो ॥
एक धर्म जब मुख्य बना "सो" शेष धर्म सब गौण हुये ।
स्यादवाद का स्वाद लिया जो विवाद सारे मौन हुये ॥२२॥

एक रहा है अनेक भी है, उभय रूप भी तत्त्व रहा ।
अवक्तव्य भी शेष भंग मय विविध रूप यूं सत्त्व रहा
संशय-मथनी सप्तभंगिनी का प्रयोग यूं सुधी करें ।
उचित नयों से, नय विधान में कुशल रहें, सुख सभी वरें ॥२३॥

द्वैत नहीं, अद्वैत तत्त्व है मतैकान्त का यह कहना ।
अपने वचनों से बाधित है विरोध-वहाव में बहना ॥
क्योंकि कारकों तथा क्रियाओं में दिखता वह भेद रहा ।
और एक खुद, खुद का किस विध जनक रहा, यह खेद महा ॥२४॥

मानो तुम अद्वैत विश्व को पाप पुण्य दो कर्म नहीं ।
कर्म-पाक फिर सुख, दुख दो ना इह भव, परभव धर्म नहीं ।
ज्ञान तथा अज्ञान नहीं दो द्वैत-भाव का नाश हुआ ।
बन्ध मोक्ष फिर कहां रहे दो यह कहना निज हास हुआ ॥२५॥

यदि तुम मानो किसी हेतु से सिद्ध हुआ अद्वैत रहा ।
हेतु साध्य दो मिलने से फिर सिद्ध हुआ वह द्वैत रहा
अथवा यदि अद्वैत सिद्ध हो बिना हेतु यूं मान रहे ।
बिना हेतु फिर द्वैत सिद्ध हो इसविध क्यों ना मान रहे ॥२६॥

बिना हेतु के अहेतु ना हो जैसा सब को अवगत है ।
बिना द्वैत अद्वैत नहीं हो वैसा ही यह बुधमत है ।
निषेध-वाचक वचन रहें जो विधि-वाचक के बिना नहीं
निषेध उसका ही होता जो निषेध्य, जिसके बिना नहीं ॥२७॥

पृथक् पृथक् ही पदार्थ सारे ऐसा यदि एकान्त रहा ।
गुणी तथा गुण अभिन्न होते पता नहीं ? क्या भ्रान्त रहा
पृथक् नाम का गुण यदि न्यारा गुणी तथा गुण से होता ।
बहु अर्थों में "सो" है कहना विफल आपपन से होता ॥२८॥

द्रव्य रूप एकत्व भाव को नहीं मानते यदि बुध हो ।
जनन मरण आदिक किसके हो प्रेत्यलोक फिर किस विध हो ॥
और नहीं समुदाय गुणों का सजातीयता बने नहीं ।
तथा नहीं संतान शृंखला और दोष बहु घने यहीं ॥२९॥

ज्ञान ज्ञेय से भिन्न रहा यदि चिदात्म से भी भिन्न रहा
असत् ठहरते ज्ञान ज्ञेय दो सत्वत फिर क्या ? प्रश्न रहा ॥
अभाव जब हो ज्ञान-भाव का ज्ञेय-भाव फिर कहाँ टिके ।
बाह्याभ्यन्तर ज्ञेय शून्य फिर हे जिन ! परमत-कहाँ टिके ॥३०॥

"समान जो सामान्य मात्र को विषय बनाते वचन सभी ।
"विशेष वचनातीत वस्तु है बौद्धों का है कथन यही
अतः नहीं सामान्य वस्तुतः वचन सत्य से वंचित हो ।
ऐसे वचनों से फिर कैसे कथन कथ्य श्रुति संगत हो ॥३१॥

पृथकपना एकत्वपना मय पदार्थ कहते तने हुये ।
स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बना रही ॥३२॥

पृथकपना एकत्वपना यदि भ्रातपना को छोड़ रहें ।
दोनों मिटते क्योंकि परस्पर दोनों का वह जोड़ रहें ॥
लक्षण से तो भिन्न भिन्न हों किन्तु द्वयात्मक द्रव्यकथा ।
अन्वय आदिक भेद भले हो तन्मय साधन भव्य यथा ॥३३॥

सत सबका सामान्य रूप है इसीलिए बस एक सभी ।
निज निज गुण लक्षण धर्मों से पृथक परस्पर एक नहीं ॥
कभी विवक्षित भेद रहा हो अभेद किंवा रहा कभी ।
बिना हेतु के नहीं महेतुक बुध साधित है रहा सही ॥३४॥

यथार्थ हे यह प्रति पदार्थ मे अमित गुणों का वास रहा ।
वर्णन उनका युगपत ना हो वर्णो से विश्वास रहा ॥
इसीलिए वक्ता पर आश्रित मुख्य गौणता रहती है ।
मुख्य गौण भी सत ही होता असत नहीं श्रुति कहती है ॥३५॥

भेद तथा है अभेद दोनों नहि हे ऐसा मत समझो ।
प्रमाण के ये विषय रहे हे कुछ सोचो तुम मत उलझो
एक वस्तु में इनका रहना नहीं असंगत. विदित रहे ।
मुख्य गौण की यहीं विवक्षा जिनमत में ही निहित रहें ॥३६॥

नित्य रूप एकान्त पक्ष का यदि तुम करते पोषण हो ।
पदार्थ में परिणमन नहीं हो क्रिया मात्रका शोषण हो ॥
कर्त्ता किसका पहले से ही कारक का वह नाम नहीं
प्रमाण फिर क्या ? रहा बताओ प्रमाण-फल का काम नहीं ॥३७॥

प्रमाण कारक से यदि मानो पदार्थ भासित होते है ।
जैसे इन्द्रियगण से भिन्न निज्ज विषय प्रकाशित होते हैं
नित्य रहे हैं वैसे वे भी विकार किस में किस विध हो ।
जिन मत से जो विमुख रहें हो सुख तुम मत में किस विध हो ॥३८॥

साख्य पुरुष सम सदा सर्वथा कार्य रहे सद्रूप रहे ।
यदि यूँ कहते, किसी कार्य का उदय नहीं मुनि भूप कहे ।
फिर भी यदि तुम विकारता की करो कल्पना वृथा रही ।
नित्य रूप एकान्त पक्ष की वही बाधिका व्यथा रही ।।३९।।

पुण्य क्रिया नहि पाप क्रिया नहिं औ सुखं दुख फल नहीं रहे ।
जन्मान्तर फिर कैसा होगा मूल बिना फल नहीं रहे ।
कर्म-बन्ध की गंध नहीं जब मोक्षतत्त्व की बात नहीं ।
ऐसे मत के नायक नहिं जिन ! मुमुक्षुओ के नाथ सही ॥४०॥

क्षणिक रूप एकान्त पक्ष के आग्रह का यदि स्वागत हो ।
प्रेत्यभाव का अभाव होगा शिवसुख भी ना शाश्वत हो
स्मरणादिक ज्ञानों का निश्चित क्यों ना "सो" अवसान रहा ।
किसी कार्य का सूत्रपात नहिं फल का फिर अनुमान कहाँ ? ॥४१॥

कार्य सर्वथा असत ही हो ऐसा तव मत मूल रहा ।
कार्य सभी आकाशकुसुम सम कभी न जनमे भूल अहा ॥
उपादान कारण सम होता कार्य नियम यह नहीं रहा ।
किसी कार्य के होने में फिर संयम भी वह नहीं रहा ॥४२॥

तथा कार्य-कारणभावादिक क्षणिक पथ में रहे कदा ।
आपस में ना अन्वय रखते अन्य अन्य ही रहे सदा ।
जिस विध है सन्तानान्तर से भिन्न रूप सन्तान रही ।
एकमेक सन्तान नहीं है सन्तानी से जान सही ॥४३॥

पृथक्-पृथक् सब यदपि रहा पर अनन्य सा टिमकार रहा।
और वहीं उपचार कहो यूं क्यों न झूठ उपचार रहा ॥
तथा मुख्य जो अर्थ रहा है कभी नहीं उपचार रहा।
बिना मुख्य उपचार नहीं हो सन्तों का उद्गार रहा। ४४॥

सदसत् उभयानुभयात्मक जो वस्तु धर्म का कथन रहा।
सब धर्मों के साथ उचित ना सुगत पन्थ का वचन रहा
सन्तानी सन्तान भाव से अन्य रहा या अन्य नहीं
कह नहिं सकते अवक्तव्य है इसीलिए बुध मान्य नहीं ॥४५॥

सन्तानी सन्तानन में यदि सदादि चहुविध कथन नहीं।
अवक्तव्य मय वस्तु धर्म में सदादि किस विध वचन सही ॥
किसी तरह भी किसी धर्म का कथन नहीं फिर वस्तु नहीं।
तुम्हे विशेषण विशेष्य रीता वस्तु इष्ट ही अस्तु कहीं ॥४६॥

अपन मन से होकर परमन मे पदार्थ ओझल होता।
जिस की सत्ता विद्यमान ह निषेध उस ही का होता ॥
किन्तु यहाँ पर किसी भाँति भी यदि जिसका अस्तित्व नहीं।
उसका विधान निषेध ना हो सुनो जरा वस्तुत्व यही ॥४७॥

सभी तरह क धर्मों से यदि पूर्ण रूप से रहित रहा।
अवक्तव्य वह वस्तु नहीं हो मतेकान्त से सहित रहा ॥
आप पने से वस्तु वही पर अवस्तु पर पन से होती।
अनेकान्त की पूजा फलतः हम से तन मन से होती ॥४८॥

अवक्तव्य हो प्रति पदार्थ में धर्म रहे कुछ औ न रहे।
ऐसा यदि है बोल रहे क्यो बन्द रहे मुख मौन रहे ॥
यदि मानो हम बोल रहे "सो" मात्र रहा उपचार अहा।
मृषा रहा उपचार सत्य से दूर रहा बिन सार रहा ॥४९॥

अवक्तव्य, क्यों अभाव है या उसका ही नहिं बोध रहा ।
कथन शक्ति का या अभाव है जिस कारण अवरोध रहा ॥
जब कि सुगत अति विज्ञ बली है तुम सबकी दृग खोल रहा
मायावी बन बोल रहा क्या ? लगता यह सब पोल रहा ॥५०॥

हिंसा का संकल्प किया वह कभी न हिंसा करता है ।
भाव किये बिन हिंसा करता चित्त दूसरा मरता है ॥
इन दोनों को छोड़ तीसरा चित्त बन्ध में है फँसता ।
फँसता मुक्त नहिं और मुक्त हो क्षणिक पथ पर जग हँसता ॥५१॥

कभी किसी का नाश हुआ "सो" रहा अहेतुक सुगत कहे ।
हिंसक से हिंसा होती है यह कहना फिर गलत रहे ॥
और चित्त की सन्तति का यदि नाश मोक्ष का मूल रहा ।
समनादिक वसु साधन से हो मोक्ष मानना भूल रहा ॥५२॥

कपाल आदिक उदभव मे तो हेतु अपेक्षित रहता हो ।
घट आदिक के किन्तु नाश मे हेतु उपेक्षित रहता हो ॥
इन दोनो मे विशेषता कुछ रही नहीं कुछ भेद नहीं ।
कहने भर को भेद रहा है हेतु एक है खेद यही ॥५३॥

रूपादिक की नामादिक की विकल्प की जो सन्तति है ।
कार्य नहीं 'सो' औपचारिकी कहती सौगत की मति है ॥
विनाश विकास फिर किसके हो तथा सततता किसकी हो ।
भला बता ! आकाशकुसुम की आँख देखती किसकी ओ ॥५४॥

स्यादवादमय न्यायमार्ग के महा विरोधक बने हुये ।
पदार्थ नित्यानित्यात्मक ही ऐसा कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्तवाद में आते हैं श्रुति बता रही ॥५५॥

स्मृति पूर्वक प्रत्यक्ष ज्ञान वह बिना हेतु का नहिं होता ।
अतः प्रवाहित तत्त्व कथंचित् नित्य रहा यह सुन श्रोता ॥
क्षणिक कथंचित् क्योंकि उसी की प्रतिपल मिटती पर्यायें ।
कदागृही के यह ना बनता है जिन तव मत समझायें ॥५६॥

सभी दशाओं में ज्यों-का-त्यों द्रव्य सदा यह लसता है ।
द्रव्य कभी समान्यरूप से नहीं जनमता नशता है ॥
पर्यायों से किन्तु जनमता क्रमशः मिटता रहता है ।
एक द्रव्य में जनन मरण स्थिति घटती, जिनमत कहता है ॥५७॥

नियम रहा यह कारण मिटता दिखा कार्य का मुख प्यारा ।
कारण, कारण लक्षण न्यारा तथा कार्य का भी न्यारा
किन्तु कार्य कारण दोनों की जाति एक ही है भाती ।
जाति क्षेत्र भी भिन्न रहे तो गगनकुसुम की स्थिति आती ॥५८॥

एक पुरुष तो कलश चाहता, एक मुकुट को, देख दशा ।
कलश मिटा जब मुकुट बनाया एक रुलाया एक हँसा ॥
निरख कनक की स्थिति कनकार्थी शोक किया ना नहीं हँसा ।
मिटना बनना स्थिर भी रहना रहा सहेतुक, नहीं मृषा ॥५९॥

केवल दधि का त्याग किया है दुग्ध-पान वह करता है ।
दुग्ध-पान का त्याग किया है दधि का सेवन करता है ॥
दोनों का सेवन ना करता जो है गोरस का त्यागी ।
तत्त्व त्रयात्मक रहा इसी से गुरु कहते यूं बड़भागी ॥६०॥

कार्य तथा कारण ये दोनों रहें परस्पर न्यारे हैं ।
तथा गुणी से गुण भी होते न्यारे न्यारे सारे हैं ॥
विशेष से सामान्य सर्वथा सदा भिन्न ही रहता है ।
ऐसा यदि एकान्त रूप से वैशेषिक मत कहता है ॥६१॥

एक कार्य के अनेक कारण होते यह फिर नहिं रहता ।
क्योंकि एक में भाग नहीं हैं बहुरूपों में वह बहता ॥
एक कार्य यदि बहु भागों में भाजित हो फिर एक कहाँ ?
कार्य-विषय में पर-मत में यूं दोषों का अतिरेक रहा ॥६२॥

कार्य तथा कारण ये न्यारे देश-काल वश भी न्यारे ।
घट पट मे ज्यो भेदात्मक व्यवहार रहा है सुन प्यारे ॥
तथा मूर्त सब कार्य कारणों की स्थिति पूरी जुदी रही ।
उसमें फिर वह एक देशता कभी न बनती सही रही ॥६३॥

कार्य तथा कारण में होता आश्रय-आश्रयि भाव रहा ।
समवायी-समवाय-बन्ध तब स्वतंत्र ना यह भाव रहा ।
बन्ध-रहित संबंध रहा यह तुम मे सब निर्बन्ध अरे ।
समवायी-समवाय निरे जब आपस में कब बन्ध करे ॥६४॥

नित्य एक सामान्य रहा है उसी भाँति समवाय रहा ।
एक एक अवयव में व्यापे यह जिन का व्यवहार रहा ॥
आश्रय के बिन रह नहिं सकते फिर इनकी क्या कथा रही ।
मिटती बनती क्षणिकाओं में कौन व्यवस्था बता सही ॥६५॥

भिन्न रहा समवाय सर्वथा तथा भिन्न सामान्य रहा ।
आपस में फिर बन्धन इनका किस विध कब वह मान्य रहा ।
इनसे फिर गुण पर्ययवाले पदार्थ का भी बन्ध नहीं ।
फिर क्या कहना, गगनकुसुम सम तीनों की ही गन्ध नहीं ॥६६॥

अणु अणु मिलकर स्कन्ध बने ना चूंकि सभी वे निरे निरे
स्कन्ध बने तो अविभागी ना रह सकते अणु निरे परे ॥
अवनि अनल औ सलिल अनिल ये भूतचतुष्टय भ्रान्ति रही ।
अन्यपना या अनन्यपन मय मतैकान्त में शान्ति नहीं ॥६७॥

कार्य-मात्र की भ्रान्ति रही तो अणु स्वीकृति भी भ्रान्ति रही ।
क्योंकि कार्य का दर्शन ही तो कारण का अनुमान सही ॥
भूत चतुष्टय और अणु का जब अभाव निश्चित होता हो ।
उनके गुण-जात्यादिक का वह वर्णन क्यों ना ? थोथा हो ॥६८॥

एकमेक यदि कार्य करम हो एक मिटे इक शेष रहा ।
इनमें अविनाभाव रहा "सो" रहा शेष निश्शेष अहा ॥
दो की संख्या भी नहिं टिकती यदि मानो वह कल्पित है ।
कल्पित सो मिथ्या मानी है मात्र सांख्य-मत जल्पित है ॥६९॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
गुण, गुणधर आदिक उभयात्मक ऐसा कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥७०॥

द्रव्य तथा पर्यायो में वह रहा कथंचित् ऐक्य सही ।
कारण ? दोनो का प्रदेश है एक रहा व्यतिरेक नहीं ॥
परिणामी परिणाम रहे हैं द्रव्य तथा ये पर्यायें ।
शक्तिमान यदि द्रव्य रहा तो रही शक्तियाँ पर्यायें ॥७१॥

इसी तरह इन दोनों का बस भिन्न-भिन्न ही नाम रहा ।
संख्या इनकी निरी निरी है न्यारे लक्षण काम रहा ॥
यथार्थ मे यह अनेकान्त से बनता सुन नानापन है ।
परन्तु हा ! एकान्त पक्ष में तनता मनमानापन है ॥७२॥

गुणी गुणादिक सदा सर्वदा आपेक्षिक यदि साधित हों ।
दोनों कल्पित होने से वे सिद्ध नहीं हो बाधित हों ॥
अनपेक्षिक ही सिद्धि उन्हीं की ऐसा यदि तुम मान रहे ।
विशेषता सामान्य पना ना सहचर का अवसान रहे ॥७३॥

स्याद्वाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
आपेक्षिक अनपेक्षिक द्वयमय ''पदार्थ'' कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते हैं श्रुति बता रही ॥७४॥

धर्म बिना धर्मी नहिं धर्मी के बिन भी वह धर्म नहीं ।
रहा परस्पर अन्वय इनका आपेक्षित है मर्म यही ॥
स्वरूप इनका किन्तु स्वत: है ज्ञापक कारक अंग यथा ।
ज्ञान स्वत: तो ज्ञेय स्वत: है कर्म-करण निजरंग कथा ॥७५॥

हेतु मात्र से तत्त्व ज्ञात हो सिद्ध हो रहे काम सभी ।
इन्द्रिय आगम आप्तादिक फिर व्यर्थ रहे कुछ काम नहीं ॥
या आगम से तत्त्व ज्ञात हो सबके आगम मौलिक हो ।
उनमें वर्णित पदार्थ-सारे लौकिक भी पर-लौकिक हो ॥७६॥

स्यादवादमय न्यायमार्ग के महाविराधक बने हुये ।
तत्त्व ज्ञात हो शास्त्र, हेतु से ऐसे कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत मे अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष सभी एकान्त पक्ष मे आते ह श्रुति बता रही ॥७७॥

वक्ता यदि वह आप्त नहीं तो वस्तु तत्त्व का बोध न हो ।
मात्र हेतु से साधित जो है बोध नहीं वह बोझ अहो !
परन्तु वक्ता आप्त रहा तो वचन उन्हीं के शास्त्र बने ।
उन शास्त्रों से तत्त्व ज्ञात कर भविक सभी सुख-पात्र बने ॥७८॥

भीतर के निज-ज्ञान मात्र से जाने जाते अर्थ रहें ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो मनस वचन सब व्यर्थ रहें ॥
उपदेशादिक प्रमाण नहिं फिर सभी प्रमाणाभास रहे ।
एकान्ति आग्रह करने से अपना ही उपहास रहे ॥७९॥

साध्य तथा साधन का जब भी ज्ञान हमें जो होता है ।
मात्र रहा वह ज्ञान एक है और नहीं कुछ होता है ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो कहाँ साध्य फिर साधन हो ।
और, पक्ष में साध्य-दर्शिका निजी-प्रतिज्ञा बाधक हो ॥८०॥

बाह्य अर्थ परमार्थ रहे हैं अंतरंग कुछ खास नहीं ।
ऐसा यदि एकान्त रहा तो रहा प्रमाणाभास नहीं ॥
वस्तु-तत्त्व का कथन यदपि जो यद्वा तद्वा करते हैं ।
उन सब के सब कार्य सिद्ध हों वितथ सत्यता वरते हैं ॥८१॥

स्याद्वादमय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
बाह्याभ्यन्तर उभय रूप है 'पदार्थ' कहते तने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥८२॥

बना ज्ञान जब ज्ञेय स्वयं का अन्तरंग में रहता है ।
रहा प्रमाणाभास लुप्त तब यही जिनागम कहता है ॥
किन्तु ज्ञान जब बाह्य अर्थ को ज्ञेय बनाता तनता है ।
बने प्रमाणाभास वही तब प्रमाण भी बस बनता है ॥८३॥

कहां, 'जीव' यूँ शब्द रहा यह बाह्य अर्थ से सहित रहा ।
हेतु शब्द ज्यों नाम रहा है निजी अर्थ से विहित रहा ॥
अर्थ शून्य मायादिक का ही नामकरण हो नहिं ऐसा ।
प्रणाम का भी नाम रहा है सार्थक मायादिक वैसा ॥८४॥

बुद्धि तथा वह शब्द, अर्थ ये संज्ञायें हैं गुरु कहते ।
बुद्ध्यादिक के वाच्यभूत जो वाचक बन करके रहते ॥
उन उन सम हो बुद्ध्यादिक ये बोधरूप भी तीन रहें ।
उनको भासित करते दर्पण में पदार्थ आ लीन रहें ॥८५॥

वक्ता श्रोता ज्ञाता के जो बोध वचन है ज्ञान तथा ।
न्यारे न्यारे रहे कथंचित् क्रमशः सुन तू मान तथा ॥
यदि मानो वे रहीं भ्रान्तियाँ प्रमाण भी फिर भ्रान्त रहा ।
बाह्याभ्यन्तर भ्रान्त रहे तो अन्धकार आक्रान्त रहा ॥८६॥

शब्दों में भी तथा बुद्धि में प्रमाणता तब आ जाती ।
बाह्य अर्थ के रहने पर ही, नहीं अन्यथा, श्रुति गाती ॥
तथा सत्य की असत्यता की रही व्यवस्था यही सही ।
अर्थ-लाभ में अलाभ में यों क्रमशः, वरना ! कभी नहीं ॥८७॥

दैव दिलाता सभी सिद्धियाँ ऐसा कहता पता चला ।
पौरुष किसविध दैव-विधाता हो सकता तू बता भला ॥
दैव दैव को मनो बनाता मोक्ष कभी फिर मिले नहीं ।
व्यर्थ रहा पुरुषार्थ सभी का मोह कभी फिर हिले नहीं ॥८८॥

पौरुष से ही सभी सिद्धियाँ मिलती कहता तू ऐसा ।
भला बात दैवानुकूल ही पौरुष चलता यह कैसा ॥
पौरुष से ही सदा सर्वथा पौरुष आगे यदि चलता ।
सभी जीव पुरुषार्थशील हैं सबका पौरुष कब फलता ॥८९॥

स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ।
दैव तथा पौरुष दोनों का आग्रह करते तने हुये ॥
अवाच्यमत में अवाच्य कहना भी अनुचित, सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९०॥

अबुद्धि पूर्वक जीवात्मा का पौरुष जब वह चलता है ।
सुख दुख का जो भी मिलना है वही दैव का फलना है ॥
किन्तु बुद्धिपूर्वक जीवात्मा पौरुष जब वह करता है ।
तब जो सुख दुःख मिलता, समझो, पौरुष से वह झरता है ॥९१॥

पर को दु:ख देने भर से यदि पापकर्म ही बँधता है ।
पर को सुख पहुँचाने से यदि पुण्य कर्म ही बँधता है ॥
कई अचेतन विष आदिक औ कषाय विरहित मुनि त्यागी ।
निमित्त दु:ख सुख में होने से पाप पुण्य के हों भागी ॥९२॥

जिससे निज को सुख होता सो पाप-बन्ध का कारण है ।
जिससे निज को दु:ख होता सो पुण्य-बन्ध का कारण है ॥
ऐसा यदि एकान्त रहा तो विराग मुनि औ बुध जन भी ।
क्यों ना होंगे दोनों क्रमशः पुण्य-पाप के भाजन ही ॥९३॥

उभय रूप एकान्त मान्यता स्वयं बना कर तने हुये ।
स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ॥
अवाच्य मत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९४॥

यदा कदा अपने में या पर में जो सुख दु:ख हो जाते ।
क्रमशः विशुद्धि सक्लेशों के सुनो अंग वे कहलाते ॥
यही एक कारण पा आस्रव पुण्य पाप का हो जाता ।
वरना आस्रव तत्त्व कहाँ हो अरहन्तों का "मत" गाता ॥९५॥

कर्मबन्ध अज्ञानमात्र से होता यूं यदि मान रहा ।
ज्ञेय रहें "सो अनन्त" फिर क्यों होगा केवलज्ञान महा ॥
अल्प ज्ञान से मोक्ष मिले यदि ऐसा कहता "अन्ध" अहा ।
बहुत रहा अज्ञान, इसी से मोक्ष नहीं, विधि-बन्ध रहा ॥९६॥

उभयरूप एकान्त मान्यता स्वयं बना कर तने हुये ।
स्यादवाद मय न्यायमार्ग के महाविरोधक बने हुये ॥
अवाच्यमत में अवाच्य कहना भी अनुचित सब वृथा रही ।
दोष घने एकान्त पक्ष में आते हैं श्रुति बता रही ॥९७॥

मोह-लीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह होता है ।
मोह-हीन अज्ञान भाव से कर्मबन्ध वह खोता है ॥
अल्पज्ञान भी मोहरहित जो मोक्ष-महल में ले जाता ।
वरना, विधि-बन्धन ही भाई मोह-गहल में क्यों जाता ॥९८॥

कामादिक ये जहाँ उपजते सुनो वही संसार रहा ।
जिसका संचालन होता है कर्म-बन्ध अनुसार रहा ॥
कर्मों का कारण जीवों का अपना-अपना भाव रहा ।
जीव भाव्य ये अभव्य भी हैं चिर से बस भटकाव रहा ॥९९॥

भव्यपना औ अभव्यपन ये जीवों के बस ! आप रहें ।
मूंग मोट कुछ पकते, कुछ नहिं, भले अनल का ताप सहें ॥
भव्यपने की व्यक्ति सादि हो अभव्यपन की अनादिनी ।
स्वभाव को कब तर्क छू सकी ? श्रुति गाती सुख-सुदायिनी ॥१००॥

लोकालोकालोकित करता युगपत् केवलज्ञान रहा ।
वही आपका तत्त्वज्ञान जिन ! प्रमाण है वरदान रहा ॥
तथा नयात्मक ज्ञान रहा जो स्याद्वाद से है भाता ।
विषय बनाता क्रमशः सबको 'प्रमाण' फलतः कहलाता ॥१०१॥

आदिम प्रमाण का फल सुन लो विरागपन है अमल रहा ।
त्याज्य-त्याग में ग्राह्य-ग्रहण में प्रीति इतर का सुफल रहा ।
या विनाश अज्ञानभाव का स्यादवाद का फल माना ।
किसमें हित औ अहित निहित है आत्मबोध का बल पाना ॥१०२॥

सही अर्थ से बात कराता स्यात्पद शाश्वत सार रहा ।
अनेकान्त को साथ कराता दिखा वस्तु का पार अहा ॥
रहा ज्ञेय जो उसके प्रति ही सदा विशेषण धार रहा ।
सो श्रुतिधर के हे जिनवर ! तव वचनों का शृंगार रहा ॥१०३॥

दूर रहा, एकान्तवाद से स्यादवाद वह कहलाता ।
मूल रहा सापेक्षवाद का तभी कथंचित विधि-दाता ।
सप्तभंग-मय कथन-प्रणाली समयोचित ही अपनाता ।
त्याज्य ग्राह्य क्या ? तथा बताता, रखूँ उसी से भव नाता ॥१०४॥

स्यादवाद मय ज्ञान रहा औ पूरण केवल ज्ञान रहा ।
सकल-ज्ञेय को विषय बनाते दोनों सो परमाण अहा ॥
परोक्ष और प्रत्यक्ष रहें इनमें से यदि एक रहा ।
वस्तुतत्त्व का कथन नहीं हो बोध नहीं कुछ नेक रहा ॥१०५॥

साध्य-धर्म को विपक्ष से तो सदा बचाने दक्ष रहा ।
किन्तु साथ ही साध्य-सिद्धि में लेता अपना पक्ष रहा ॥
स्यादवाद मय प्रमाण का जो सुनो अर्थ है विषय रहा ।
उसी अर्थ की विशेषता को विषय बनाता सुनय रहा ॥१०६॥

कई भेद उपभेद कई हैं, सुनो, नयों के, जता रहे ।
भिन्न भिन्न एकान्तरूप से विषय नयों के तथा रहे ॥
त्रैकालिक उन विषयों का ही एकतान यह द्रव्य रहा ।
और द्रव्य भी अनेक विध है उपादेय निज द्रव्य रहा ॥१०७॥

भिन्न भिन्न नय-विषयों का वह समूह मिथ्या नहिं होता ।
क्योंकि सुनो तो हठागृही ना जिनमत के नय हे ! श्रोता ॥
रहें परस्पर निरपेक्षित जो, मिथ्या नय हैं कहलाते ।
सापेक्षित नय समीचीन हो वस्तु, जनाते वह तातैं ॥१०८॥

वस्तुतत्त्व का प्रतिपादन जब, जब वचनों से होता है ।
विधान का या निषेध का तब आलम्बन होता है ॥
निजवश ही तो वस्तु रही है परवश सो वह रही नहीं ।
यही व्यवस्था रही अन्यथा सूनी सब कुछ रही नहीं ॥१०९॥

वस्तुतत्त्व यह तदनत् होता यह कहना तो समुचित है ।
किन्तु वस्तु तो तत् ही है बस ! यह प्रलाप तो अनुचित है ॥
असत्य वचनों से फिर भी यदि तत्त्वदेशना होती हो ।
कैसी हित करने वाली "सो" दुःख लेश ना हरती हो ॥११०॥

नियम रहा प्रत्येक वचन वह निजी अर्थ का पक्ष धरे ।
अन्य वचन के किन्तु अर्थ का निषेध करने दक्ष अरे ॥
सुगत कहें सामान्य स्वार्थ को इसी भाँति बस हम माने ।
तो फिर सब को गगनपुष्प सम जाने माने पहिचाने ॥१११॥

यदि मानो सामान्य वचन वह विशेष के प्रति मौन रहा ।
मिथ्या सो एकान्त रहा है सत्य वचन फिर कौन रहा ।
सुनो इष्ट के परिचय देने में सक्षम "स्यातकार" रहा ।
सत्य अर्थ का चिंह यही है, सो उसका सत्कार रहा ॥११२॥

विधेय है प्रतिषेध्य वस्तु का अविरोधी सुन आर्य महा ।
कारण, है वह इष्ट कार्य का अंग रहा अनिवार्य अहा ॥
आपस में आदेयपना औ हेयपना का पूरक है ।
स्यादवाद बस यही रहा सब वादों का उन्मूलक है ॥११३॥

विराग का उपदेश सही है सराग का उपदेश नहीं ।
यही ज्ञान बस ध्येय रहा है और आस कुछ लेश नहीं ॥
लिखी आप्तमीमांसा फलतः शास्त्रबोध अनुसार रहा ।
आत्महितैषी बनो सुनो यह मात्र बोध निस्सार रहा ॥११४॥

पद्यानुवादक-प्रशस्ति

लेखक कवि मैं हूँ नहीं मुझमें कुछ नहिं ज्ञान ।
त्रुटियाँ होवें यदि यहाँ, शोध पढ़ें धीमान ॥१॥

निधि-नभ-नगपति-नयनका सुगन्ध-दशमी योग ।
लिखा ईसरी में पढ़ो, बनता शुचि उपयोग ॥२॥

मंङ्गल-कामना

विहसित हो जीवनलता विलसित गुण के फूल ।
ध्यानी मौनी सूंघता महक उठी आ-मूल ॥१॥

सान्त करूँ सब पाप को हरूँ ताप बन शान्त ।
गति-अगति रति मिटे मिले आप निज प्रान्त ॥२॥

रग रग से करुणा झरे दुखी जनों को देख ।
विषय-सौख्य में अनुभवूं स्वार्थ-सिद्धि की रेख ॥३॥

रस-रूपादिक हैं नहीं मुझ में केवल ज्ञान ।
चिर से हूँ चिर औ, हूँ जिनके बल जान ॥४॥

तन मन से औ वचनसे पर का कर उपकार ।
यह जीवन रवि सम बने मिलता शिव-उपहार ॥५॥

हम, यम दम शम सम धरे क्रमशः कम श्रम होय ।
देवों में भी देव हो अनुपम अधिगम होय ॥६॥

बात बहे मंगल मयी छा जावे सुख छाँव ।
गति सब की सरला बने टले अमंगल भाव ॥७॥

मना ध्रुव निधि का धाम हो क्यों ? बनता तू दीन ।
है उसको बस देख ले होकर निज में लीन ॥८॥

इष्टोपदेश
एवं
द्रव्य संग्रह

इष्टोपदेश

मूल इष्टोपदेश (संस्कृत)
रचानाकार आचार्य पूज्यपाद
पद्यानुवाद आचार्य विद्यासागर

इष्टोपदेश (१)

(वसन्ततिलका छन्द)

दुष्टाष्ट कर्म दल को करके प्रनाश,
पाया स्वभाव जिनने, परित: प्रकाश,
जो शुद्ध है अमित, अक्षय बोधधाम,
मेरा उन्हे विनय से शतश: प्रणाम ॥१॥

ज्यों ही यहाँ वर रसायण-योग होता,
पाषाण जो कनक-मिश्रित, हेम होता
त्यों द्रव्य क्षेत्र अरु काल सुयोग पाता,
संसारि-जीव परमात्मपना गहाता ॥२॥

चारित्र से अमर हो वह श्रेष्ठ ही है,
होना कुनारक असंयम से बुरा है ।
तो भेद भी इन व्रताऽव्रत में अहा ! है,
'छायासुधूप' इनमें जितना रहा है ॥३॥

जो आत्म भाव शिव सौख्य यदा दिलाता,
स्वर्गीय सौख्य वह क्या न तदा दिखाता ।
दो कोस भार सहसा जब जो निभाता,
क्यों अर्द्ध कोस तक ले उसको न जाता ? ॥४॥

है दीर्घ काल रहता, पल में न जाता,
आतंकहीन अरु जो महिमें न पाता ।
ओ नाकवासिसुख है मन-मोहनीय,
क्या क्या कहूँ अमर सौख्य अवर्णनीय ॥५॥

जो दु:ख ? और सुख है तन धारियों का,
है व्याज मात्र तृण-बिन्दु, सुखेच्छुकों का ।
जैसे भगंदर, जलोदर, कुष्ट, रोग,
वैसे नितान्त दुखदायक हाय ! भोग ॥६॥

विज्ञान जो अतितिरोहित मोह से है,
ना जानता वह निजीय स्वभाव को है।
जैसा यहीं मदक, भंग शराब को पी,
ना जानता मनुज भक्ष्य अभक्ष्य को भी ॥७॥

माता, पिता बहिन और सुता व गेह।
औ मित्र, पुत्र, सुकलत्र व अर्थ देह।
ये आत्म से सकल भिन्न सुसर्वथा है.
पै मूढ स्वीय कहता इनको वृथा है ॥८॥

पक्षी अहो ! दश-दिशागत जो यहाँ पे,
प्रत्येक वृक्ष पर वे बसते, जहाँ से।
है स्वीय कार्य वश हो उड़ते उषा में,
स्वच्छंद होकर असीम दशो-दिशा मे ॥९॥

क्यों मूढ श्वान सम हे करताति क्रोध,
हंता जनों पर, अतः उसमें न बोध।
जो खोदता अवनिकों जब फावडा से,
नीचे झुके वह तदैव निसर्गता से ॥१०॥

जो राग द्वेष करता, वसु कर्म ढोता,
संसारि-जीव भव को अति ही बढाता।
अज्ञान से सुचिर है दुख ही उठाता,
है नित्य दौड़ भव-कानन में लगाता ॥११॥

आपत्ति एक टलती जब लौं अहा ! है
दूजी अहो ! चमकती तब लौं वहाँ है।
स्वामी ! यहाँ स्थिति सदा घटियंत्र की सी
संसार सागर निमज्जित जीव की भी ॥१२॥

है नश्यमान व परिश्रम प्राप्त अर्थ,
रक्षार्थ नेक बनते इसके अनर्थ ।
संतुष्ट हाय ! इससे निज को मनुष्य
पी मानता घृत यथा ज्वरवान अवश्य ॥१३॥

धिक्कार ! मूर्ख लखता न निजापदा को,
क्यों देखता वह सदा परकी व्यथा को ।
दावा सुव्याप्त वन में मृगयूथ को जो,
रे देखता वह तरुस्थ मनुष्य है ज्यों ॥१४॥

हैं अर्थ को समझते निज से अमूल्य
सम्पत्ति हीन वह जीवन पर्ण तुल्य ।
श्रीमंत मानव सदा इस भांति गाते,
आदर्श जीवन धनार्जन में बिताते ॥१५॥

जो अर्थ हीन वह मानव सर्वदा ही,
दानार्थ अर्थ चुनता व सुखार्थ मोही ।
मैं स्नान हूँ कर रहा इस भांति बोले,
ओ पंक से स्वतन को निज हाथ धोले ॥१६॥

प्रारंभ में परम ताप अहो दिलाते,
तो प्राप्ति में विषम आकुलता बढ़ाते ।
है अंत में कठिन त्याज्य कुभोग ऐसे !!!
भोगे सकाम इनको बुध लोग कैसे ? ॥१७॥

सौगंध्य पूर्ण वह चंदन है पवित्र,
ज्यों देह संग करता, बनताऽपवित्र ।
काया घृणास्पद अनीव तथा विनाशी,
सेवा करे न इसकी ऋषि जो उदासी ॥१८॥

जो श्रेष्ठ मित्र उपकारक जीव का है,
होता वही अनुपकारक देहका है ।
होती नितांत जिससे जड़ देह पुष्टि,
होती कभी न उससे पर जीव पुष्टि ॥१९॥

है एक हाथ खल-खंड अहो दिखाता,
तो रत्न अन्य करमें वर सौख्य दाता ।
दोनों मिले स्वपरिणामतया यहाँ पे,
विद्वान का फिर समादर हो कहाँ पे ? ॥२०॥

है देह के वह बराबर सौख्यधाम,
आत्मा अमूर्त, निज नित्य उसे प्रणाम ।
जो देखता सकल लोक अलोक को है,
विज्ञान गम्य नहिं इन्द्रिय गम्य जो है ॥२१॥

एकाग्र चित्त-बल से सब इंद्रियों का,
व्यापार बन्द करके दुख दायकों का ।
आत्मा स्वकीय घर में रह आत्म को ही,
ध्यावे निजीय बल से तज मोह मोही ॥२२॥

सत्संग से परम बोध यहाँ कमाते
दुस्संग से अबुध हो, हम दुःख पाते ।
जो गंध छोड़ वह चन्दन और क्या है ?
जो पास हो उचित है वह ही सदा है ॥२३॥

ना जानता परिग्रहादिक को विरागी,
होता न आस्रव जिसे वह मोक्ष मार्गी ।
अध्यात्म योग बल से फलतः उसी की,
होती सही ! निशम से निज निर्जरा ही ॥२४॥

म हूँ यहाँ परम निर्मल वस्त्र कर्ता, .
एसा पदार्थ युग मे विधि बध भाता,
आत्मा हि ध्यान अरुध्येय यदा व ध्याता,
तो कौनसा फिर तदा पर सग नाता ? ॥२५॥

जो जीव मोह करता, वसु कर्म ढाता,
निर्मोह भाव गहता, द्रुत मुक्त होता ।
शुद्धात्म को इसलिए दिनरैन ध्याओ
आ ! वीतराग मय भाव स्व-चित्त लाओ ॥२६॥

मै एक हूँ परम शुद्ध प्रबुद्ध ज्ञानी
व ही मुझे निरखत, मुनि जो अमानी
ये राग, रोष ममकार, विकार भाव,
सयोग जन्य, जड़ है मम ना स्वभाव ॥२७॥

सयोग पाकर तनादिकका यहाँ रे
ससारि जीव दुख भाजन हो रहा है ।
तो कायसे वचन से मन से तजूँ मै
समोह को इसलिए निज को भजू मै ॥२८॥

मेरा नहीं मरण है फिर भीति कैसी ?
रोगी नहीं, फिर व्यथा किसकी हितैषी ।
मै हूँ नहीं परम वृद्ध युवा न बाल,
ये है यहाँ सकल पुद्गल के बबाल ॥२९॥

भोगे गये निखिल पुद्गल बार बार,
ससार-मध्य मुझसे, दुख है अपार ।
भोगू उन्हे !! अब पुन: यह निंद्य कार्य !!
उच्छिष्ट सेवन करे जग मे अनार्य ॥३०॥

है कर्म, कर्म सखिको निज पास लाता
तो जीव आत्म हित को नित चाहता था।
हो जाय स्वीय पद पे बलवान कोई।
इच्छा निजीय हितकी किसको न होई ? ॥३१॥

हे ! मित्र त्याग कर शीघ्र परोपकार,
हो स्वोपकार रत तू जग को विसार।
होता विमूढ़ परके हितमें सुलीन,
मोही दुखी इसलिए मति हीन दीन ॥३२॥

सत् शास्त्र के मनन से गुरु भाषणों से,
विज्ञान रूप स्फुट नेत्र सहायता से।
जो जानते स्वपर अन्तर को यहाँ है,
जाने सदैव शिवको सब वे अहा ! है ॥३३॥

विज्ञान रूप गुण से निजको जनाता,
औ आप में रमण की अभिलाष लाता।
धाता निजीय सुख का जग में तथा है,
आत्मा वही 'गुरु' अत: निज आत्म का है ॥३४॥

पाता अभिज्ञ न कभी इस अज्ञता को,
तो अज्ञ भी न गहता उस विज्ञता को।
धर्मास्तिकाय जग ज्यों गति हेतु मात्र,
त्यों ही अभव्य जनको गुरु और शास्त्र ॥३५॥

विद्वेष, राग रति, मोह विकार रिक्त,
औ तत्व-बोध स्थित है जिसका सुचित्त।
आलस्य हास्य तज औ निजगीत गावे,
एकांत में वह निजात्म स्वभाव ध्यावे ॥३६॥

ज्यों विश्वसार परमोत्तर आत्म तत्व,
विज्ञान में उतरता, वह साध्य तत्व ।
अच्छे नहीं विषय त्यों लगते यहाँ पे,
जो प्राप्त हैं सहज यद्यपि रे ! धरा पे ॥३७॥

ज्यों ज्यों नहीं विषय है निजको सुहाते,
जो जीवको भव सरोवर में गिराते ।
त्यों त्यों अहो परम उत्तम साध्य तत्त्व,
विज्ञान में उतरता वह आत्म तत्व ॥३८॥

आत्मा यदा निजनिरंजन रूप ध्याता,
है इन्द्रजाल सम विश्व उसे दिखाता ।
अन्यत्र है मन कभी यदि स्वल्प जाता,
तो क्या कहूँ वह तदा अति दुःख पाता ॥३९॥

प्यारा जिसे विपिन जो लगता यहाँ है,
एकान्त वास करता वह तो सदा है ।
आत्मीय कार्य वश हो यदि बोलता है,
तो शीघ्र ही तज उसे निज साधता है ॥४०॥

विद्वेष, राग, रति से अति दूर जो हैं,
वे बोलते यदि तथापि न बोलते है ।
ना देखते अपरको लखते हुए भी,
जाते नहीं गमन वे करते हुए भी ॥४१॥

कैसे कहाँ व किसका यह कौनसा है,
यों प्रश्न भी करता निज में बसा है ;
है जानता न अपने तनको विरागी,
जो राग लीन निज ह पर वस्तु त्यागी ॥४२॥

जो जीव वास करता सहसा जहाँ है,
निर्भ्रान्त लीन रहता वह जो वहाँ है ।
जो भी जहाँ रमें मुद में सदैव,
अन्यत्र ना गमन हो उनका वृथैव ॥४३॥

ज्ञाता, अचेतन मयी तनका नहीं है,
जो देह का स्मरण भी करता नहीं है ।
ज्ञानी वही, विविध कर्म न बांधता है,
होता प्रमुक्त उनसे, शिव साधता है ॥४४॥

देहादि तो पर अतः सब दुःख रूप,
आत्मा निजीय सुखधाम, सुधास्वरूप ।
सारे अतः मनन सादर सन्त लोग,
आत्मार्थ ध्यान धरते, तज सर्व भोग ॥४५॥

जो आत्म सौख्य तज इन्द्रिय भोग लीन,
महात्म है जगत में वह भाग्य हीन ।
पाता अतः दुख सदा भव में नितांत,
यों बार बार तनधार अपार क्लांत ॥४६॥

शुद्धात्म को हि वह केवल ध्येय मान
सारे विकल्प तजता, इत हेय, जान ।
योगी सुयोग बल से अति श्लाघनीय,
पाता सुसौख्य जग जो बुध शोधनीय ॥४७॥

जो नित्य कर्ममय-इन्धन को जलाता,
है आत्म जन्य सुख तो शिव रूप भाता ।
योगी अतः परिषहादिक से यहां पे,
हैं खेदता न गहते, नित तोष पाते ॥४८॥

अज्ञान रूप तम को झट जो नशाती,
है ज्ञान-ज्योति शिवमार्ग हमें दिखाती ।
आराधनीय वह है निज दर्शनीय,
स्वामी ! मुमुक्षु जनसे जग शोधनीय ॥४९॥

है अन्य जीव जड़ पुद्गल अन्य भाता,
है 'तत्व सार' यह यों जिन शास्त्र गाता ।
जो भी अहो कथन अन्य यहाँ दिखाता,
विस्तार मात्र इसका, इसमें समाता ॥५०॥

इष्टोपदेश पढ आदर से सुभव्य,
'मानापमान' इनमें धर साम्य दिव्य ।
एकान्तवाद तज, ग्राम अरण्य में वा,
धारे चरित्र, जिससे शिव-मिष्ट-मेवा ॥५१॥

थे भव्य-पंकज-प्रभाकर पूज्य पाद,
था आपमें अति प्रभावित साम्यवाद ।
वन्दूँ उन्हें विनयसे मनसे त्रिसंध्या,
'विद्या' मिले, सुख भले, पिघले अविद्या ॥५२॥

इष्टोपदेश (२)

(ज्ञानोदय छंद)

सुर-नर ऋषि-वर से सदा, जिनके पूजित-पाद ।
पूज्य-पाद को नित नमूं, पाऊं परम-प्रसाद ।।मंगलाचरण।।

जिस जीवन में पूर्ण रूप से, सब कर्मों का विलय हुआ,
उसी समय पर सहज रूप से, स्वभाव रवि का उदय हुआ ।
जिसने पूरण पावन परिमल, ज्ञानरूप को वरण किया,
बार-बार बस उस परमातम, को इस मन ने नमन किया ।।१।।

स्वर्ण बने, पाषाण-स्वर्ण का, स्वर्ण-कार का हाथ रहा,
अनल-मिलन से जली मलिनता, समुचित-साधन साथ रहा ।
योग्य-द्रव्य हो योग्य-क्षेत्र हो, योग्य-भाव के योग मिले,
आतम-परमातम बनता है, भव-भव का संयोग टले ।।२।।

व्रत-पालन से सुरपुर में जा, सुर-पद पाना इष्ट रहा,
पर व्रत बिन नरकों में गिरना, खेद ! किसे वह इष्ट रहा ।
घनी छाँव में, घनी धूप में, स्थित हो अन्तर पहिचानो,
अरे ! हितैषी व्रताव्रतों में कितना अन्तर तुम मानो ।।३।।

जिन-भावों से नियम रूप से, मिलता है जब शिवपुर है,
उन भावों से भला ! बता दो, क्या ? ना मिलता सुर-पुर है ।
द्रुतगति से जो वाहन यात्रा, कई योजनों की करता,
अर्ध-क्रोश की यात्रा करने, में भी क्या ? वह है डरता ।।४।।

पंचेन्द्रिय-सुख हो कर भी जो, आतंकों से दूर रहा,
युग-युग तक अगणित वर्षों तक, लगातार भर-पूर रहा ।
सुर-सुख तो बस सुरसुख जिसको, अनुभवते सुर-पुर-वासी,
कहें कहां तक ? किस विध ? किसको ? आखिर हम तो वनवासी ।।५।।

तन-धारी जीवों का सुख तो, मात्र वासना का जल है,
दुख ही दुख है सुख-सा लगता, मृग-मरीचिका का जल है।
संकट की घड़ियों में जिस विध, रोग-भयंकर, उस विध हैं,
भोग सताते भोक्ताओं को, भोग हितंकर किस विध हैं ? ॥६॥

पुरुष यहां उन्मत्त बना हो, जिसने मदिरा पान किया,
निज-का पर-का हिताहितों का, उसे कहां ? हो ज्ञान जिया।
मोह-भाव से घिरा हुआ यदि, जिसका भी वह ज्ञान रहा,
स्वभाव को फिर नहीं जानता, यथार्थ में अज्ञान रहा ॥७॥

धन तन के तन वतन उपावन, मात-पिता सुत-सुता अरे !
परिजन पुरजन सहचर अनुचर, अग्रेचर रिपु तथा रहें।
सुन-सुन सब ये आतम से अति भिन्न-स्वभावी ज्ञात रहे,
मूढ़ इन्हें नित निजी मानते, भव में भटके भ्रान्त रहें ॥८॥

दिशा-दिशा से देश-देश से, उड़-उड़ पक्षी दल आते,
डाल-डाल पर पात-पात पर, पादप पर निशि बस जाते।
अपने अपने कार्य साधने, उषा काल में फिर उड़ने,
दिशा-दिशा में देश-देश में, कहां देखते फिर मुड़के ॥९॥

हत्यारा यदि हत्या करता, तुम क्यों ? उस पर क्रोध करो,
हत्यारे तो तुम भी हो फिर, कुछ तो मन में बोध धरो।
त्र्यंगुल को निज पगों से जो, कोई मानव गिरा रहा
उसी समय पर उसी दण्ड से, स्वयं धरा पर गिरा अहा ! ॥१०॥

दधि मन्थन के काल मथानी, मन्थन-भाजन में भ्रमती,
कभी इधर तो कभी उधर ज्यों, क्षण भर भी ना है थमती।
राग-द्वेष की लम्बी-लम्बी, डोरी से यह बँधा हुआ,
ज्ञान बिना त्यों भव में भ्रमता, रुदन करे गल रुंधा हुआ ॥११॥

भरे रीतते कुछ भरते घट, तब तक यह क्रम चलता है,
घटी-यन्त्र का परिभ्रमण वह, जब तक रहता चलता है ।
इसी भांति भवसागर में भी, एक आपदा टलती है,
कई आपदायें आ सन्मुख, मोही जन को छलती हैं ॥१२॥

जिनका अर्जन बहुत कठिन है, संरक्षण ना सम्भव है,
स्वभाव जिनका मिटना ही है, ये धन-कंचन-वैभव हैं ।
फिर भी निज को स्वस्थ मानते, धनपति धन पाकर वैसे,
ज्वर से पीडित होकर जो जन, घृत-मय भोजन कर जैसे ॥१३॥

वन में तरु पर बैठा जैसा, मन में चिंतन करता है,
वन्य-जन्तु अब जले मरे सब, आग लगी वन जरता है ।
पर की चिन्ता जैसी करता, अपनी चिन्ता कब करता ?
मूढ़ बना तन पुनि-पुनि धरता, मरता है पुनि-पुनि डरता ॥१४॥

काल बीतता ज्यों-ज्यों त्यों-त्यों, आयु कर्म वह घटे बढ़े,
धन का वर्धन धनी चाहते, प्रति दिन हम तो बनें बड़े ।
कहें कहां तक धनी लोग तो, जीवन से भी जड़ धन को,
परम-इष्ट परमेश्वर कहते, धन्यवाद धन-जीवन को ॥१५॥

निर्धन धन अर्जित करता है, दान हेतु यदि वह नाना,
दान कर्म का ध्येय बनाया, कर्म खपाना शिव पाना ।
कार्य रहा यह ऐसा जैसा, अपने तन पर करता है-
लेप पंक का कोई मानव, "स्नान करुंगा कहता है" ॥१६॥

प्राप्त नहीं हो जब तक, तब तक, महा ताप कर काम-सभी,
किन्तु प्राप्त हो जाने पर तो, कभी तृप्ति का नाम नहीं ।
अन्त-अन्त में तो क्या कहना ? जिनका तजना सरल नहीं,
सुधी रचे फिर काम-भोग में ? जिन का मन हो तरल कहीं ॥१७॥

मलयाचल का चन्दन चूरण, चमन चमेली चातुरता,
कुन्द पुष्प मकरन्द सुगन्धी, गन्ध-दार मन्दारलता ।
पदार्थ सब ये तन संगति से, गन्ध-पूर्ण भी गन्दे हों,
सदा अहित कर तन का यदि तुम, राग करो तो, अन्धे हो ॥१८॥

तन का जो उपकारक है वह, चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है ।
सब शास्त्रों का सार यही है, चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो ॥१९॥

एक ओर तो चिन्तामणि है, दिव्य रही, मन हरती है,
और दूसरी ओर कांच की, मणिका जग को छलती है ।
ध्यान-साधना से ये दोनों, मानो भ्राता ! मिलती हैं,
आदर किसका बुधजन करते ? आंखें किस पर टिकती हैं ॥२०॥

अपने-अपने संवेदन में, अमूर्त हो आतम भाता,
रहा रहेगा त्रिकाल में है, अतः अनश्वर है भ्राता !
तात्कालिक तन प्रमाण होता, अनन्त सुख का निलय रहा,
लोकालोका-लोकित करता, सदा लोक का उदय रहा ॥२१॥

चपल-स्वभावी सभी इन्द्रियाँ, इनको संयत प्रथम करो,
मनो योग से मन माना मन, को भी मंत्रित तुरत करो ।
अपने में स्थित हो अपने को, अपनेपन से आप तथा,
ध्याओ अपने आप भला फिर, ताप मिटे संताप व्यथा ॥२२॥

अज्ञानी की शरण गहो तो, सुनो तुम्हें अज्ञान मिले,
ज्ञानी-जन की उपासना से, ज्ञान मिले वरदान फले ।
जिसका स्वामी जो होता है, प्रदान उसको करता है,
लोक नीति यह सुनी सभी ने, प्रमाण विरला करता है ॥२३॥

योगी जन अध्यात्म योग से, चेतन में आबाध रहे,
मनो-योग को वचन-योग को, काय-योग को साध रहे ।
परीषहों को, उपसर्गों को, सहते विचलित कब होते ?
कर्म-निर्जरा आस्रव-रोधक, संवर प्रचलित सब होते ॥२४॥

यु हि परस्पर दो दो में तो, होता है सम्बन्ध रहा,
कर्म रहा मम कर्ता', कर्ता का मैं, कर्ता हूं प्रतिबन्ध रहा ।
एकमेक जब ध्यान-ध्येय हो, आतम का ही आतम ओ !
फिर किस विध सम्बन्ध बन्ध हो, दोपन ही जब स्वातम हो ॥२५॥

इसीलिए तुम पूर्ण यत्न से, निर्ममता का मनन करो,
चिन्तन-मन्थन-आराधन भी, तथा उसी को नमन करो ।
जीव कर्म से बंधता तब है, ममता में जब मण्डित हो,
बन्धन से भी मुक्त वही हो, निर्ममता में पण्डित हो ॥२६॥

एक अकेला निर्मम हूँ मैं, योगी को ही दिखता हूं,
शुद्ध-शुभ्र हूं ज्ञानी होता, ज्ञानामृत को चखता हूं ।
माया, ममता, मोह, मान, मद, सयोगज ये भाव अरे !
भिन्न सर्वथा मुझसे है यु, इनमें हम समभाव धरे ॥२७॥

असहनीय दुःखों का फल है, यह संसारी बना हुआ,
सयोगज भावों का फल है, रागादिक में सना हुआ ।
इसी बात को जान मान कर, उपकृत हूं गुरुवचनों से,
रागादिक को पूर्ण त्यागता, तन से, मन से, वचनों से ॥२८॥

मरण नहीं है मेरा मुझको, कहां भीति हो ? किससे हो ?
व्याधि नहीं है मुझमें, मुझको, वृथा व्यथा फिर किससे हो ?
बाल नहीं हूं, युवा नहीं हूं, वृद्ध नहीं हूं ज्ञात रहे,
ये पुद्गल की रहीं दशायें, चेतन मेरा साथ रहे ॥२९॥

मोह-भाव से विगत-काल में, मुझ से ये पुद्गल-सारे,
बहुत बार भी, बार-बार भी, भोगे, छोड़े, उर धारें ।
वमनरूप-सम भोगों में अब, मेरा मन यदि फिर जाता,
विज्ञ बना मुझको शोभा क्या ? देता उत्तर लजवाता ॥३०॥

कर्म चाहता तभी कर्म-हित, कर्म कर्म से जब बंधता,
जीव चाहता तभी जीवहित, जीवन जिससे है सधता ।
अपने-अपने प्रभाव के वश, बलशाली हैं जब होते,
स्वार्थ सिद्धि में कौन-कौन फिर, तत्पर ना हो ? सब होते ॥३१॥

पर को उपकारों का अब ना, पात्र बनाओ भूल कभी,
निज पर ही उपकार करो अब, पात्र रहा अनुकूल यही ।
करते दिखते सदा परस्पर, लौकिक जन उपकार यथा,
करते दिखते अज्ञ निरन्तर, पर पर ही उपकार तथा ॥३२॥

गुरु का उपदेशामृत निज को, सर्वप्रथम तो पिला दिया,
तदनुसार अभ्यास बढाया, प्रयोग करता चला गया ।
निजानुभव से निज-पर अन्तर, तभी निरन्तर जान रहा,
जान रहा वह मोक्ष सौख्य भी, अब तक जो अनजान रहा ॥३३॥

प्रशस्त-तम है अपनेपन में, जो उसका अभिलाषक है,
स्वयं किसी उपदेश बिना भी इष्ट-तत्व का ज्ञापक है ।
जो कुछ अब तक मिला मिलेगा, निज हित का भी भोक्ता है,
अतः समझ तूं आतम का तो, आतम ही गुरु होता है ॥३४॥

अज्ञ रहा तो अज्ञ रहेगा, नहीं विज्ञता पा सकता,
विज्ञ रहा तो विज्ञ रहेगा, नहीं अज्ञता पा सकता ।
केवल निमित्त धर्म द्रव्य है, गति में जैसा होता है,
एक अन्य के कार्य विषय में, समझो वैसा होता है ॥३५॥

रागादिक लहरें ना उठतीं, जिनका मानस शान्त रहा,
हेय तथा आदेय विषय में, तत्व-ज्ञान निर्भ्रान्त रहा ।
योगी-जन निर्जन वन में जा, निद्रा विजयी तथा बने,
प्रमाद तज निज साधन कर ले, कालजयी फिर सदा बने ॥३६॥

तत्वों में तो परम तत्व है, आत्म तत्व जो सुख-दाता,
जैसे-जैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता ।
वैसे-वैसे भविकजनों को रुचते ना हैं भले-भले,
पुण्योदय से सुलभ हुए हैं, भोग सभी पीयूष घुले ॥३७॥

पुण्योदय से सुलभ हुये हैं, भोग सभी पीयूष घुले,
जैसे-जैसे भविकजनों को, रुचते ना हैं भले-भले ।
वैसे-वैसे अपने-अपने, संवेदन में है आता,
तत्वों में परम तत्व है, आत्मतत्व जो सुख दाता ॥३८॥

इन्द्र-जाल सम स्वभाव वाला, पल-पल पलटन शीला है,
सार-शून्य-संसार सकल है, नील-निशा की लीला है ।
इस विध चिन्तन करता योगी, आत्म-लाभ का प्यासा है,
पल-भर भी यदि बाहर जाता, खेद खिन्न हो खासा है ॥३९॥

जन, मन, तन-रंजन में जिस को, किसी भांति ना रस आता,
अत: सदा एकान्त चाहता, मुनि बन वन में बस जाता ।
निजी कार्य वश कभी किसी से, कुछ कहना हो कहता है,
कह कर भी झट विस्मृत करता, अपनेपन में रहता है ॥४०॥

यदपि बोलते हुए दीखते, तदपि बोलते कभी नहीं,
चलते जाते हुए दीखते, फिर भी चलते कभी नहीं ।
आत्म तत्व स्थिर जिनका उनकी, जाती महिमा कही नहीं,
दृश्य देखते हुए दीखते, किन्तु देखते कभी नहीं ॥४१॥

यह सब क्या है ? क्यों है ? किस विध ? कब से ? किसका ? है किससे ?
इस विध चिन्तन करता-करता, जो निज चिति में फिर-फिर से !
अपनी काया की भी सुध-बुध, भूल कहीं खो जाता है,
योग परायण योगी वह तो, एकाकी हो जाता है ॥४२॥

जो भी मानव निवास करता, जहां कहीं भी पाया है,
नियम रूप से उसने अपना, वहां राग दिखलाया है ।
भाव-चाव से जहां रम रहा, जीवन अपना बिता रहा,
उसे छोड़ कर कहीं न जाता, छन्द यहां यह बता रहा ॥४३॥

बाहर योगी जब ना जाता, बाहर का फिर ज्ञान कहां ?
बाहर का जब ज्ञान नहीं है, विषयों का फिर नाम कहां ? ।
विषयों का जब नाम नहीं है, रागादिक का काम कहां ?
रागादिक का काम नहीं तो, बन्ध कहां ? शिवधाम वहां ॥४४॥

पर तो पर है समझो भ्राता !, पर से अति दुख मिलता है,
आतम तो आतम है भाता, आतम से सुख मिलता है ।
यही जानकर यही मानकर, महामना ऋषि सन्त यहां-
आत्म-साधना में रत रहते, सुख पाते गुणवन्त महा ॥४५॥

कभी स्व-पर को नहीं जानता, रहा अचेतन यह तन है,
फिर तन का अभिनन्दन करता, मूढ़ बना तूं चेतन है ? ।
साथ चलेगा तुझ को फिर ना, चउगतियों में छोड़ेगा,
पापों से जोड़ेगा तुझको, भव-भव में तू रोयेगा ॥४६॥

बाहर के व्यवहार कृत्य से, तन-मन-वच से मुड़ता है,
भीतर के अध्यात्म वृत्त से, चेतन-पन से जुड़ता है ।
फलतः परमानन्द जागता, राग-भाग्य अब भाग चला,
योगी का यह योग योग है, वीतराग पथ लाग चला ॥४७॥

योग साधना में कब दुख हो, योगी का उद्योग यही,
योगी भीतर बाहय दु:ख में, देता कब उपयोग सही ? ।
आतम में आनन्द उदित हो, साधक को सन्तुष्ट करे,
कर्मरूप ईन्धन को अविरल, जला जलाकर नष्ट करे ।।४८।।

जिसे अविद्या देख कांपती, पल-भर में बस नस जाती,
महा-बलवती ज्ञान-ज्योति वह, कहलाती है, सुख लाती ।
बात करो तो करो उसी की, चाह उसी की करो सदा,
मुमुक्षु हो तुम उसी दृश्य को, देखो उर में धरो सदा ।।४९।।

जीव सदा से अन्य रहा है, अन्य रहा तन पुद्गल है,
तत्व ज्ञान बस यही रहा है, माना जाता मंगल है ।
फिर भी जो कुछ और कथन यह, सुनने सन्तों से मिलता,
मात्र रहा विस्तार उसी का, तत्व-ज्ञान से तम मिटता ।।५०।।

सुधी सही इष्टोपदेश का, ज्ञान करे अवधान करे,
मानपने अपमानपने का, समान ही सम्मान करे ।
निराग्रही मुनि बन वन में या, उचित भवन में वास करे,
पाले निरुपम मुक्ति सम्पदा, भव्य भवों का नाश करे ।।५१।।

जहा अनेको पूज्य जिन, धाम एक से एक ।
रवि निज किरणों से करे, प्रतिदिन सो अभिषेक ।।१।।

रामटेक को देखते, प्रकटे स्व-पर विवेक ।
विराम स्वातम में करो, विघटे विपद अनेक ।।२।।

ऋषि रसना रस गन्ध, की पौष शुक्ल गुरु तीज ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, भुक्ति मुक्ति का बीज ।।३।।

गोमटेश अष्टक (गोमटेश-थुदि)

गोमटेश अष्टक

मूल : गोमटेश थुदि (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य नेमिचन्द सिद्धांत चक्रवर्ती

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

गोमटेश अष्टक

ज्ञानोदय छन्द (तर्ज-मेरी भावना)

नील कमल के दल-सम जिन के युगल-सुलोचन विकसित हैं,
शशि-सम मनहर सुख कर जिनका मुख-मण्डल मृदु प्रमुदित हैं।
चम्पक की छवि शोभा जिनकी नम्र नासिका ने जीती,
गोमटेश जिन-पाद-पद्म की पराग नित मम मति पीती ॥१॥

गोल-गोल दो कपोल जिन के उजल सलिल सम छवि धारे,
ऐरावत-गज की सुण्डा सम बाहुदण्ड उज्ज्वल-प्यारे।
कन्धों पर आ, कर्ण-पाश वे नर्तन करते नन्दन हैं,
निरालम्ब वे नभ-सम शुचि मम गोमटेश को वन्दन हैं ॥२॥

दर्शनीय तव मध्य भाग है गिरि-सम निश्चल अचल रहा,
दिव्य शंख भी आप कण्ठ से हार गया वह विफल रहा।
उन्नत विस्तृत हिमगिरि-सम है स्कन्ध आपका विलस रहा
गोमटेश प्रभु तभी सदा मम तुम पद में मन निवस रहा ॥३॥

विंध्याचल पर चढ़ कर खरतर तप में तत्पर हो बसते,
सकल विश्व के मुमुक्षु जन के शिखामणी तुम हो लसते।
त्रिभुवन के सब भव्य कुमुद ये खिलते तुम पूरण शशि हो,
गोमटेश तुम नमन तुम्हें हो सदा चाह बस मन वशि हो ॥४॥

मृदुतम बेल लताएँ लिपटी पग से उर तक तुम तन में,
कल्पवृक्ष हो अनल्प फल दो भवि-जन को तुम त्रिभुवन में
तुम पद-पंकज में अलि बन सुर-पति गण करता गुन-गुन है
गोमटेश प्रभु के प्रति प्रतिपल वन्दन अर्पित तन-मन है ॥५॥

अम्बर तज अम्बर-तल थित हो दिग अम्बर नहिं भीत रहे,
अम्बर आदिक विषयन से अति विरत रहे, भव भीत रहे ।
सर्पादिक से घिरे हुए पर अकम्प निश्चल शैल रहे,
गोमटेश स्वीकार नमन हो धुलता मन का मैल रहे ॥६॥

आशा तुम को छू नहि सकती समदर्शन के शासक हो,
जग के विषयन में वांछा नहिं दोष मूल के नाशक हो ।
भरत-भ्रात में शल्य नहीं अब विगत-राग हो रोष जला,
गोमटेश तुम में मम इस विध सतत राग हो, होत चला ॥७॥

काम-धाम से धन-कंचन से सकलसंग से दूर हुए
शूर हुए मद मोह-मार कर समता से भर-पूर हुए ।
एक वर्ष तक एक थान थित निराहार उपवास किये,
इसीलिए बस गोमटेश जिन मम मन में अब वास किये ॥८॥

- दोहा -

नेमीचन्द्र गुरु ने किया प्राकृत में गुण-गान,
गोमटेश थुति अब किया भाषा-मय सुख खान ॥१॥

गोमटेश के चरण में नत हो बारंबार,
विद्यासागर फिर बनूँ भवसागर कर पार ॥२॥

॥ इति शुभं भूयात ॥

कल्याण मंदिर स्तोत्र

मूल : कल्याण मंदिर स्तोत्र (संस्कृत)

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

कल्याणमन्दिर स्तोत्रम्

कल्याण-खाण-अघनाशक औ उदार,
हैं जो जिनेश-पद-नीरज विश्वसार ।
संसारवार्धि वर पोत ! स्वयक्षधार,
उन्हें यहां नमन मैं कर बार-बार ॥१॥

रे ! रे ! हुवा स्तवन ना जिनदेव जी का,
धीमान से जब वृहस्पति से प्रभु का ।
तो मैं उसे हि करने हत जा रहा हूं,
क्यों धृष्टता अहमता दिखला रहा हूं ॥२॥

मेरे समान लघु-धी कवि लोग सारे,
सामान्य से तव सुवर्णन भी विचारे ।
कैसे करे अहह ! नाथ ! नहीं करेंगे,
उल्लू दिवान्ध रवि को न यथा लखेंगे ॥३॥

है आपको विगतमोह मनुष्य जाना,
भो ! किन्तु जो तव गुणों उसने गिनाना ।
तूफान से जलविहीन समुद्र हो तो,
वार्धिस्थ रत्नचय का अनुमान है क्या ? ॥४॥

मैं स्तोत्र को तव विभो ! करने चला हूं,
हैं आप नैक-गुणधाम, व मन्द-धी हूं ।
तो बाल भी जलधि की सुविशालता को,
फैला स्वहस्त युग को कहता नहीं क्या ? ॥५॥

गाये गये तव न भो ! गुण योगियों से,
मेरा प्रवेश उनमें फिर हन्त कैसे ?
है हो गई इक यहां स्थिति जो अनोखी,
गाते स्व वाणि बल से फिर भी विहंग ॥६॥

जो स्तोत्र है ! जिन ! सुदूर रहे महात्मा !,
तेरा हि नाम जग को दुख से बचाता ।
संतप्त भी पथिक जो रवि ताप से यों,
होता सुशान्त जलमिश्रित वायु से है ॥७॥

होते हि वास, तव भव्य सुचित्त में त्यों,
होते प्रभो शिथिल हैं घनकर्मबन्ध ।
आते हि चन्दन-सुवृक्ष-सुबीच मोर ;
हैं दौड़ते सकल ज्यों अहि एक ओर ॥८॥

हो देखते झट जिनेन्द्र ! तुझे मनुष्य,
होते सुदूर सहसा दुःख से अवश्य ।
गंभीर शूर वसुधा पति को यहां जो,
हैं चोर देख सहसा द्रुत भागते यों ॥९॥

कैसे जिनेश तुम तारक हो जनों के,
जो आपको हृदय से धर, पार होते ।
वा चर्मपात्र जल में तिरता परन्तु,
पात्रस्थ वायु बल है उस कर्म में ही ॥१०॥

ब्रह्मा महेश मद को नहि जीत पाये,
भो ! आप किन्तु उसको क्षण में जलाये ।
है ठीक ! अग्नि बुझती जल से यहाँ पे,
पीया गया न जल क्या ? बड़वाग्नि से पै ॥११॥

स्वामी ! महान गरिमायुत आपको वे,
संसारि जीव गह, धार स्व-वक्ष में औ ।
कैसे सु आशु भवसागर पार होते,
आश्चर्य ! साधु जन की महिमाअचिन्त्य ॥१२॥

भो ! क्रोध नष्ट पहले जब की बता दो,
कर्मौघ नष्ट तुमसे फिर बाद कैसे ?
है ठीक ही हरित परित भूरुहों को,
शीतातिशीत हिम क्या ? न यहां जलाता ॥१३॥

शुद्धात्मरूप ! तुमको जिन ! ढूंढ़ते हैं,
योगी सदा हृदय नीरज कोश में वे ।
है ठीक ही, कमल बीज प्रसूतस्थान,
अन्यत्र क्या मिलत है ? तजकर्णिका को ॥१४॥

छद्मस्थ जीव तव देव ! सुध्यान से ही,
यों शीघ्र देह तज वे परमात्म होते ।
पाषाण जो कनक मिश्रित ईश ! जैसा,
संयोग पा अनल का द्रुत हेम होता ॥१५॥

भो नित्य भव्य उर में जिन ! शोभते हो,
कैसे सुनाश करते ? उस काय को क्यों ?
ऐसा स्वभाव रहता समभावियों का,
जो है महापुरुष विग्रह को नशाते ॥१६॥

616

जो आपको जिन ! अभेद विचार से है,
आत्मा सुध्यान करता, तुम-सा हि होता ।
जो नीर को अमृत मान, उसे हि पीता,
क्या नीर जो न उसके विष को नशाता ? ॥१७॥

हे वीतराग ! तुमको परवादि लोग,
ब्रह्मा-महेश-हरि रूप वि जानते हैं ।
है ठीक काचकमलामय रोग वाले,
क्या शंख को विविध वर्णमयी न जानें ? ॥१८॥

धर्मोपदेश जब हो जन दूर होवे,
सानिध्य से हि तब, वृक्ष अशोक होते ।
है भानु के उदय से जन मोद पाते,
उत्फुल्ल क्या तरु-लता दल हो न पाते ॥१९॥

वर्षा यहां सुमन की करते हि देव,
आश्चर्य ! वे कुसुम सर्व अधोमुखी क्यों ?
है ठीक ही, सुमन बंध सभी हि जाते,
नीचे मुनीश ! तुमको लख के सदैव ॥२०॥

गंभीर वक्ष जलराशि विनिर्गता जो,
हे भारती, तव उसे करते सुपान ।
हैं भव्य, जीव फलतः मुदमोद होते ;
औ शीघ्र ही जनन मृत्युविहीन होते ? ॥२१॥

स्वामी मनो ! नम सुभक्ति सुभाव से ज्यों,
स्वर्गीय चामर कलाप हि बोलता है ।
जो भी करें नमन साधु वराग्र को भो !
होगा हि निर्मल तथा वह उर्ध्वगामी ॥२२॥

गंभीर भारति-विधारक आपको त्यों,
औ श्याम ! हेममणिनिर्मित आसनस्थ !
आमोद से निरखते सब भव्य मोर,
स्वामी ! सुमेरु पर मोर पयोद को ज्यों ॥२३॥

भो ! आपके हि शित मण्डल ज्योति से जो,
देखो हुवा छबि विहीन अशोक वृक्ष ।
सानिध्य से फिर विभो तब वीतराग !
क्या भव्य चेतन न रागविहीन होते ? ॥२४॥

ये आपके अमर दुन्दुभि हैं बताते,
आके करो अलस छोड़ जिनेन्द्र सेवा ।
जो आप हैं वह शिवालय सार्थवाह,
इत्थं विचार मम है अरु ठीक भी है ॥२५॥

जाज्वल्यमान तुमसे त्रय लोक देख,
नष्टाधिकार वह चन्द्र हताश होके ।
यों तीन छत्र मिष से तुम पास आके,
सेवा प्रभो शशि यहां करता हि तेरी ॥२६॥

संपत्ति से भरितलोक समान आप,
कान्ति प्रताप यश का अरु हैं सुधाम ।
हेमाद्रि दिव्य मणि निर्मित साल से ज्यों,
शोभायमान भगवन इह हो रहे हैं ॥२७॥

देवेन्द्र की जिन ! यहां नमते हुए की,
माला, सुमोच मणिमंडित मौलियों की ।
लेती सुआश्रय सदा तव पाद का है,
अन्यत्र ना सुमन वासव, ठीक भी है ॥२८॥

हैं नाथ ! आप भववारिधि से सुदूर,
तो भी स्वसेवक जनाऽऽकर को तिराते ।
है आपको उचित पार्थिव भूप सा भी,
आश्चर्य कर्मफल शून्य तथापि आपि ॥२९॥

त्रैलोक्यनाथ जिन हैं ! धनहीन भी हैं !
हैं आप अक्षर विभो ! लिपिहीन भी हैं ।
ना आप में करण बोध शतांश में भी,
विज्ञान है विशद किन्तु जगप्रकाशी ॥३०॥

धूली अहो कमठ ने नभ में उड़ा दी,
तो भी ढकी तव विभो ! उससे न छाया ।
देखो ! जिनेश वह ही फलतः दुरात्मा,
धिक् धिक् महान दुःख को बहुकाल पाया ॥३१॥

भो ! दैत्य से कमठ से घनघोर वर्षा,
अश्राव्य गर्जनमयी तुमपें हुई भी ।
पै आप पे असर तो उसका पड़ा ना,
पै दैत्य को नरक में रू पड़ा हि जाना ॥३२॥

धारे हुए सकल थे गलरुन्ड माला,
जो त्यागते अनल को मुख से निराला ।
भेजा कुदैत्य तव पास पिशाच ऐसे,
पै दैत्य के हि दुखकारण हो गए वें ॥३३॥

वे जीव धन्य महि में त्रयलोकनाथ !
प्रातः तथा च अपराह्नविभो ! सु सन्ध्या ।
उत्साह से मुदित हो वर भक्ति साथ,
शास्त्रानुकूल तव पाद सु पूजते हैं ॥३४॥

ना आप आज तक भी श्रुतिगम्य मेरे,
मानूँ मुनीश ! भववारिधि में हि ऐसा ।
आ जाय मात्र सुनने तव नाम मन्त्र,
आता समीप फिर भी विपदा फणी क्या ? ॥३५॥

तेरी न पादयुग पूजन पूर्व में की,
जो हैं यहां सुखद ईप्सित-वस्तु-दाता ।
ऐसे विचार मम है फलतः मुनीश ।
देखो हुवा अब अनादर पात्र में हूं ॥३६॥

मोहान्धकार सुतिरोहित लोचनों से,
देखा न पूर्व तुमको जिन ! एक बार ।
ऐसा न हो यदि विभो ! मुझ को बतादो ;
क्यों पाप कर्म दिन रैन मुझे सताते ॥३७॥

देखे गये श्रवणगम्य हुवे व पूजे ;
पै भक्ति से न चित में तुमको बिठाया ।
हूं दुःख भाजन हुवा फलतः जिनेश !
रे ! भावहीन करणी सुख को न देती ॥३८॥

संसार-त्रस्त-जन-वत्सल औ शरण्य,
हे नाथ ! ईश्वर ! दया-वर-पुण्य-धाम !
हूं भक्ति से नत, दया मुझ में दिखा के ;
उद्युक्त हो दुरित अंकुर को जलाने ॥३९॥

हैं आप जीत वसुकर्म सुकीर्तिधारी,
पा, पाद कंज युग को यदि आपके मैं ।
स्वामी ! सुदूर निज चिंतन से रहूं तो ;
हूं भाग्यहीन, व मरा, अयि तात ! वन्द्य ॥४०॥

श्री पार्श्वनाथ ! भवतारक ! लोकनाथ !
सर्वज्ञदेव ! व विभो ! सुरनाथ वन्द्य !
रक्षा अहो ! मम करो, करुणासमुद्र ;
संसारत्रस्त मुझको, उस छोर भेजो ॥४१॥

पादारविन्द युग-भक्ति-सुपाक, कोई,
है तो यहां तव विभो भववार्धिपोत !
मेरे लिये इह तथा परजन्म में भी ;
हैं आप ही व शरणागत पाल स्वामी ॥४२॥

नंदीश्वर-भक्ति

मूल : नंदीश्वर-भक्ति (संस्कृत)
रचनाकार : आचार्य पूज्यपाद
पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

रोमांचितांगयुत जो तव भव्य जीव,
एकाग्र हो तव मुखांबुज में अली से ।
हैं स्त्रोत की सुरचना करते यहां पे ;
ऐसे यथाविधि जिनेन्द्र ! विभो ! शरण्य ॥४३॥

जननयन कुमुदचन्द्र !, परमस्वर्गीय भोग को भोग।
वे वसुकर्म नाशकर, पाते शीघ्र मोक्ष को लोग ॥४४॥

ग्रंथकार एवं गुरु स्मरण

सुरासुरों से है सदा, पूजित जिनके पाद
'पूज्यपाद' को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार हैं मम गुरु मधुर अपार ।
नमूँ ज्ञानसागर गहूँ, भवसागर का पार ॥२॥

नदीश्वर-भक्ति

(ज्ञानोदय-छन्द)

जय, जय, जय, जय जयवन्त जिनालय, नाश रहित हैं शाश्वत हैं
जिनमें जिनमहिमा से मण्डित, जैन-बिम्ब हैं भास्वत हैं ।
सुरपति के मुकुटों की मणियाँ झिल-मिल, झिल-मिल करती हैं
जिनबिम्बों के चरण-कमल को धोती हैं, मन हरती हैं ॥१॥

सदा सदा से, सहज रूप से, शुचितम, प्राकृत छवि वाले;
रहें जिनालय धरती पर ये, श्रमणों की संस्कृति धारे ।
तीनों संध्याओं में इनको, तन से, मन से, वचनों से;
नमन करूँ धोऊँ अघ-रज को, छूटूँ भव-बन-भ्रमणों से ॥२॥

भवनवासियों के भवनों में, तथा जिनालय बने हुये;
तेज-कान्ति से दमक रहे हैं, और तेज सब हने हुये ।
जिन की संख्या जिन-आगम में, सात कोटि की मानी है;
साठ-लाख, दस-लाख और दो-लाख बताते ज्ञानी हैं ॥३॥

अगणित द्वीपों में अगणित हैं, अगणित गुण गण मण्डित हैं;
व्यंतर देवों से नियमित जो, पूजित संस्तुत वंदित हैं ।
त्रिभुवन के सब भविकजनों के, नयन मनोहर सुन प्यारे !
तीन-लोक के नाथ जिनेश्वर-मंदिर हैं शिव-पुर द्वारे ॥४॥

सूर्य-चन्द्र-ग्रह-नक्षत्रादिक, तारकदल गगनांगन में;
कौन गिने वह अनगित हैं ये, अनगिन जिनगृह हैं जिनमें ।
जिन का वन्दन प्रतिदिन करते, शिव-सुख के वे अभिलाषी;
दिव्य-देह ले देव-देवियाँ, ज्योतिर्मण्डल अधिवासी ॥५॥

नभ-नभ-स्वर-रस-केशव-सेना मद[1] हो सोलह कल्पों में;
आगे पीछे तीन बीच दो[2]-, शुभतर कल्पातीतों में ।
इस विध शाश्वत ऊर्ध्वलोक में, सुखकर ये जिन-धाम रहें;
अहो भाग्य हो नित्य निरन्तर, होठों पर जिन-नाम रहे ॥६॥

अलोक का फैलाव कहाँ तक, लोक कहाँ तक फैला है ?
जाने जो जिन हैं जय-भाजन, मिटा उन्हीं का फेरा है ।
कही उन्हीं ने मनुज-लोक के, चैत्यालय की गिनती है;
चार शतक अट्ठावन ऊपर, जिन में मन रम विनती है ॥७॥

आतम-मद-सेना-स्वर-केशव-अंग-रंग फिर याम[3] कहे;
ऊर्ध्व-मध्य औ अधोलोक में, यूँ सब मिल जिन-धाम रहे ॥८॥

१ नभ=०, नभ=०, स्वर-७, रस (षड्रस)-६, केशव (नारायण)-९, सेना (चतुरंगिनी)-४, मद-८ 'अंकानां वामतो गतिः' के अनुसार ८४, ९६, ७००

२. ३२३ कुल=८४, ९६, ७००+३२३=८४, ९७, ०२३

३ आतम-१, मद-८, सेना-४, स्वर-७, केशव-९, अंग (षड्काय)-६, रंग-५, याम (प्रहर)-८ यानी कुल = ८५६९४८१

किसी ईश से निर्मित ना हैं, शाश्वत हैं स्वयमेव सदा;
दिव्य-भव्य जिन-मंदिर देखो, छोड़ो मन अहमेव मुधा ।
जिनमें आर्हत, प्रतिभा मंडित प्रतिमा न्यारी प्यारी हैं;
सुरासुरों से सुरपतियों से, पूजी जाती सारी हैं ॥९॥

रुचक कुण्डलों कुलाचलों पर, क्रमशः चउ चउतीस रहें,
वक्षारोंगिरि विजयार्द्धों पर, शत, शत सत्तर ईश कहें ।
गिरि-इषुकारों, उत्तर-गिरियों, कुरुओं में चउ, चउ, दश हैं;
तीन-शतक छह-बीस जिनालय, गाते इनके हम यश हैं ॥१०॥

द्वीप रहा जो अष्टम जिसने, "नन्दीश्वर" वर नाम धरा;
नन्दीश्वर-सागर से पूरण, आप घिरा अभिराम खरा ।
शशि-सम शीतल जिसके अतिशय-यश से बस ! दश दिशा खिली;
भूमण्डल ही हुआ प्रभावित, इस ऋषि को भी दिशा मिली ॥११॥

इसी द्वीप में चउ दिशियों में, चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं;
इक इक अंजनगिरि संबंधित, चउ चउ दधिमुख गिरिवर हैं ।
फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो-दो रतिकर गिरि चर्चित हैं ;
पावन, बावन गिरि पर, बावन-जिनगृह हैं सुर अर्चित हैं ॥१२॥

एक वर्ष में तीन बार शुभ, अष्टाह्निक उत्सव आते;
एक प्रथम आषाढ़ मास में, कार्तिक, फाल्गुन फिर आते ।
इन मासों के शुक्ल पक्ष में, अष्ट दिवस अष्टम तिथि से ;
प्रमुख बना सौधर्म इन्द्र को, भूपर उतरे सुर मति से ॥१३॥

पूज्य द्वीप नन्दीश्वर आकर, प्रथम जिनालय वन्दन ले;
प्रचुर पुष्प मणिदीप धूप ले, दिव्याक्षत ले चन्दन ले ।
अनुपम अद्‌भुत जिन-प्रतिमा की, जगकल्याणी गुरुपूजा;
भक्ति-भाव से करते हे मन ! पूजा में खोजा तू जा ॥१४॥

बिम्बों के अभिषेक कार्यरत हुआ इन्द्र सौधर्म महा;
"दृश्य बना" उसका क्या वर्णन, भाव-भक्ति सो धर्म रहा।
सहयोगी बन उसी कार्य में, शेष इन्द्र जयगान करें;
पूर्ण-चन्द्र-सम निर्मल यश ले, प्रसाद-गुण का पान करें ॥१५॥

इन्द्रों की इन्द्राणी मंगल-कलशादिक लेकर, सर पै;
समुचित शोभा और बढ़ातीं, गुणवन्ती इस अवसर पै।
छां-छुम, छां-छुम नाच नाचतीं, सुर-नटियाँ हैं सस्मित हो;
सुनो! शेष अनिमेष सुरासुर, दृश्य देखते विस्मित हो ॥१६॥

वैभवशाली सुरपतियों के, भावों का परिणाम रहा;
पूजन का यह सुखद-महोत्सव, दृश्य बना अभिराम रहा।
इसके वर्णन करने में जब, सुनो! बृहस्पति विफल रहा;
मानव में फिर शक्ति कहाँ वह? वर्णन करने मचल रहा ॥१७॥

जिन-पूजन-अभिषेक पूर्णकर, अक्षत केसर चन्दन से;
बाहर आये देव दिख रहे, रँगे-रँगे से तन-मन से।
तथा दे रहे प्रदक्षिणा हैं, नन्दीश्वर जिनभवनों की;
पूज्य-पर्व को पूर्ण मनाते, स्तुति करते जिन-श्रमणों की ॥१८॥

सुनो! वहाँ से मनुज-लोक में, सब मिलकर सुर आते हैं;
जहाँ पाँच शुभ मंदर-गिरि हैं, शाश्वत चिर से भाते हैं।
भद्रशाल, नन्दन, सुमनस औ, पांडुक वन ये चार जहाँ-
प्रति मंदर पर रहे, तथा प्रति-वन में जिनगृह चार महा ॥१९॥

मन्दर पर भी प्रदक्षिणा दे, करें जिनालय वन्दन हैं;
जिन-पूजन-अभिषेक तथा कर, करें शुभाशय नन्दन हैं।
सुखद पुण्य का वेतन लेकर, जो इस उत्सव का फल है;
जाते निज-निज स्वर्गों को सुर, यहाँ धर्म ही सम्बल है ॥२०॥

तरह-तरह के तोरण-द्वारे, दिव्य-वेदिका और रहें;
मानस्तम्भों याग-वृक्ष और उपवन चारों ओर रहें ।
तीन-तीन प्राकार बने हैं, विशाल मण्डप ताने हैं;
ध्वजा-पंक्ति का दशक लसे चउ-गोपुर गाते गाने हैं ॥२१॥

देख सकें अभिषेक बैठकर, धाम बने नाटक गृह हैं;
जहाँ सदन संगीत-साध के, क्रीड़ागृह कौतुकगृह हैं ।
सहज बनीं इन कृतियों को लख, शिल्पी होते अविकल्पी;
समझदार भी नहीं समझते, सूझ-बुझ सब हो चुप्पी ॥२२॥

थाली सी हैं गोल वापिका, पुष्कर हैं चउ-कोन रहें;
भरे लबालब जल से इतने, कितने गहरे कौन कहे ?
पूर्ण खिले हैं महक रहे हैं, जिन में बहुविद कमल लसें;
शरद-काल में जिस विध नभ में, शशि-ग्रह-तारक विपुल लसें ॥२३॥

झारी-लोटे-घट-कलशादिक, उपकरणों की कमी नहीं;
प्रति जिनगृह में शत-वसु, शत-वसु, शाश्वत मिटते कभी नहीं ।
वर्णाकृति भी निरी-निरी है, जिन की छवि प्रति-छवि भाती;
जहाँ घंटियाँ झन-झन, झन-झन बजती रहती ध्वनि आती ॥२४॥

स्वर्णमयी ये जिन-मंदिर यूँ, युगों-युगों से शोभित हैं;
गंध कुटी में सिंहासन भी, सुन्दर सुन्दर घोतित हैं ।
नाना दुर्लभ वैभव से ये, परिपूरित हैं रचित हुये;
सुनो ! कहीं त्रिभुवन के वैभव, जिन-पद में आ प्रणत हुये ॥२५॥

इन जिन-भवनों में जिन-प्रतिमा, ये हैं पद्मासन वाली;
धनुष पंच-शत प्रमाणवाली, प्रति प्रतिमा, शुभ छवि वाली ।
कोटि, कोटि दिनकर आभा तक, मन्द-मन्द पड़ जाती है;
कनक रजत मणि निर्मित सारी, झग-झग, झग-झग भाती है ॥२६॥

दिशा-दिशा में अतिशय शोभा, महा तेज यश धार रहें;
पाप-मात्र के भंजक हैं ये, भव-सागर के पार रहें ।
और, और फिर भानुतुल्य इन, जिन-भवनों को नमन करूँ;
स्वरूप इनका कहा न जाता, मात्र मौन हो नमन करूँ ॥२७॥

धर्म-क्षेत्र ये एक शतक औ, सत्तर हैं षट्-कर्म जहाँ;
धर्म-चक्र-धर तीर्थकरों से, दर्शित है जिन-धर्म यहाँ ।
हुये, हो रहे, होंगे उन सब, तीर्थकरों को नमन करूँ;
भाव यही है 'ज्ञानोदय' में, रमण करूँ भव-भ्रमण हरूँ ॥२८॥

इस अवसर्पिणि में इस भूपर, वृषभ-नाथ अवतार लिया;
भर्ता बन युग का पालन कर, धर्म-तीर्थ का भार लिया ।
अन्त-अन्त में अष्टापद पर, तप का उप-संहार किया;
पाप-मुक्त हो मुक्ति सम्पदा प्राप्त किया उपहार, जिया ! ॥२९॥

बारहवें-जिन वासुपूज्य हैं, परम पुण्य के पुंज हुये;
पाँचों कल्याणों में जिनको, सुरपति पूजक, पूज गये ।
चंपापुर में पूर्ण रूप से, कर्मों पर बहु मार किये;
परमोत्तम पद प्राप्त किये औ, विपदाओं के पार गये ॥३०॥

प्रमुदित मति के राम-श्याम[1] से, नेमिनाथ जिन पूजित हैं;
कषाय-रिपु को जीत लिये हैं, प्रशम-भाव से पूरित हैं ।
ऊर्जयन्त गिरनार शिखर पर, जाकर योगातीत हुये;
त्रिभुवन के फिर चूड़ामणि हो, मुक्ति वधू के प्रीत हुये ॥३१॥

वीर' दिगम्बर श्रमण गुणों को, पाल बने पूरण ज्ञानी;
मेघ-नाद सम दिव्य-नाद से, जगा दिया जग, सद्ध्यानी ।
'पावापुर', वर सरोवरों के, मध्य तपों में लीन हुये;
विधि गुण विगलित कर अगणित गुण, शिव पद पा स्वाधीन हुये ॥३२॥

जिसके चारों ओर वनों में, मद वाले गज बहु रहते;
'सम्मेदाचल' पूज्य वही है, पूजो इसको गुरु कहते ।
शेष रहें 'जिन बीस-तीर्थंकर, इसी अचल पर अचल हुये;
अतिशय यश को, शाश्वत सुख को, पाने में वे सफल हुये ॥३३॥

मूक तथा उपसर्ग अन्तकृत, अनक विध केवल ज्ञानी;
हुये विगत में यति मुनि गणधर, कु-सुमत ज्ञानी विज्ञानी ।
गिरि वन तरुओं गुफा कंदरों, सरिता सागर तीरों में;
तप साधन कर मोक्ष पधारें, अनल शिखा मरु टीलों में ॥३४॥

मोक्ष साध्य के हेतुभूत ये, स्थान रहें पावन-सारे;
सुरपतियों से पूजित हैं सो, इन की रज शिर पर धारें ।
तपो भूमि ये, पुण्य क्षेत्र ये, तीर्थ क्षेत्र ये अघहारी;
धर्म-कार्य में लगे हुए हम, सब के हों मंगलकारी ॥३५॥

दोष रहित हैं, विजितमना हैं, जग में जितने जिनवर हैं;
जितनी जिनवर की प्रतिमायें, तथा जिनालय मनहर हैं ।
समाधि साधित भूमि, जहाँ मुनि-साधक के हो चरण परें;
हेतु बने ये भविक-जनों के, भव-लय में, हम चरण पड़ें ॥३६॥

उत्तम यश-धर जिनपतियों का, स्तोत्र पढ़े निज-भावों में;
तन से, मन से, और वचन से, तीनों सन्ध्या कालों में ।
श्रुतसागर के पार गये उन, मुनियों से जो संस्तुत हैं;
यथा शीघ्र वह अमित पूर्ण पद, पाता सम्मुख-प्रस्तुत है ॥३७॥

मल मूत्रों का कभी न होना, रुधिर क्षीर-सम श्वेत रहे;
सर्वांगों में सामुद्रिकता, सदा सदा ना स्वेद रहे ।
रूप सलोना सुरभित होना, तन-मन में शुभ लक्षणता;
हित-मित-मिश्री मिश्रितवाणी, सुन लो ! और विलक्षणता ॥३८॥

अतुल-वीर्य का सम्बल होना, प्राप्त आद्य संहननपना,
ज्ञात तुम्हें हो ख्याल रहे हैं, स्वतिशय दश ये गुणनपना ।
जन्म-काल से मरण-काल तक, ये दश अतिशय, 'सुनते हैं',
तीर्थंकरों के तन में मिलते, अमितगुणों को गुनते हैं ॥३९॥

कोश चार शत सुभिक्षिता हो, अधर गगन में गमन सही;
चउ विध कवलाहार नहीं हो, किसी जीव का हनन नहीं ।
केवलता या श्रुतकारकता, उपसर्गों का नाम नहीं;
चतुर्मुखी का होना, तन की छाया का भी काम नहीं ॥४०॥

बिना बढे वह सुचारता से, नख केशों का रह जाना;
दोनों नयनों के पलकों का, स्पंदन ही चिर मिट जाना ।
घाति-कर्म के क्षय के कारण, अर्हन्तों में होते हैं;
ये दश अतिशय इन्हें देख बुध, पल भर सुध-बुध खोते हैं ॥४१॥

अर्ध-मागधी भाषा सुख की, सहज समझ में आती है;
समवशरण में सब जीवों में, मैत्री घुल-मिल जाती है ।
एक साथ सब ऋतुयें फलतीं, "क्रम" के सब पथ रुक जाते;
लघुतर गुरुतर बहुतर तरुवर, फूल फलों के झुक जाते ॥४२॥

दर्पण-सम शुचि रत्नमयी हो, झग-झग करती धरती है;
सुरपति नरपति यतिपतियों के, जन-जन के मन हरती है ।
जिनवर का जब विहार होता, पवन सदा अनुकूल बहे;
जन-जन परमानन्द गन्ध में, डूबे दुख-सुख भूल रहे ॥४३॥

संकटदा विषकंटक कीटों, कंकर तिनकों शूलों से;
रहित बनाता पथ को गुरुतर-उपलों से अतिधूलों से ।
योजन तक भूतल को समतल, करता बहता वह साता;
मन्द मन्द मकरन्द गन्ध से, पवन मही को महकाता ॥४४॥

तुरत इन्द्र की आज्ञा से बस, नभ मण्डल में छा जाते,
सघन-मेघ के कुमार, गर्जन करते बिजली चमकाते ।
रिम-झिम रिम-झिम गन्धोदक की, वर्षा होती हर्षाती-
जिस सौरभ से सब की नासा, सुर-सुर करती वर्शाती ॥४५॥

आगे-पीछे सात-सात, इक पदतल में तीर्थंकर के;
पंक्ति-बद्ध यों अष्ट-दिशाओं, और उन्हीं के अन्तर में ।
पद्म बिछाते सुर माणिक-सम, केशर से जो भरे हुये,
अतुल परस है सुखकर जिनका, स्वर्ण दलों से खिले हुये ॥४६॥

पकी फसल ले शाली आदिक, धरती पर सर धरती है;
सुन लो फलतः रोम-रोम से, रोमांचित सी धरती है ।
ऐसी लगती त्रिभुवनपति के, वैभव को ही निरख रही;
और स्वयं को भाग्यशालिनी, कहती-कहती हरख रही ॥४७॥

शरदकाल में विमल सलिल से, सरवर जिस विध लसता है;
बादल-दल से रहित हुआ नभ-मण्डल उस विध हँसता है ।
दशों दिशायें धूम्र-धूलियाँ, शामभाव को तजती हैं;
सहज रूप से निरावरणता, उज्ज्वलता को भजती है ॥४८॥

इन्द्राज्ञा में चलने वाले, देव चतुर्विध वे सारे;
भविकजनों को सदा बुलाते, समवशरण में उजियारे ।
उच्चस्वरों में दे दे करके, आमंत्रण की ध्वनि "ओ जी !";
"देवों के भी देव यहाँ हैं," शीघ्र पधारो आओ जी ! ॥४९॥

जिसने धारे हजार आरे, स्फुरण-शील, मन हरता है;
उज्ज्वल मौलिक मणि-किरणों से, झर-झुर झर-झुर करता है ।
जिसके आगे तेज भानु भी, अपनी आभा खोता है;
आगे-आगे सबसे आगे, धर्म-चक्र वह होता है ॥५०॥

वैभवशाली होकर भी ये, इन्द्र-लोग सब सीधे हैं;
धर्म-राग से रंगे हुये हैं, भाव भक्ति में भीगे हैं ।
इन्हीं जनों से इस विध अनुपम, अतिशय चौदह किये गये;
वसुविध मंगल पात्रादिक भी, समवशरण में लिये गये ॥५१॥

नील-नील वैडूर्य दीप्ति से, जिसकी शाखायें भाती;
लाल-लाल मृदु प्रवालआभा, जिनमें शोभा औ लाती ।
मरकत मणि के पत्र बने हैं, जिसकी छाया शाम घनी;
अशोक तरु यह अहो शोभता, यहाँ शोक की शाम नहीं ॥५२॥

पुष्प वृष्टि हो नभ से जिसमें, पुष्प अलौकिक विपुल मिले;
नील-कमल हैं लाल-धवल हैं, कुंद बहुल हैं बकुल खुले ।
गन्धदार मन्दार मालती, पारिजात मकरंद झरे;
जिन पर अलिगण "गुन-गुन" गाते, निशिगन्धा अरविन्द खिले ॥५३॥

जिनकी कटि में कनक करधनी, कलाइयों में कनक कड़े;
हीरक के केयूर हार हैं, पुष्ट कण्ठ में दमक पड़े ।
सालंकृत दो यक्ष खडे जिन-कर्णों में कुण्डल डोले,
चमर ढुराते हौले-हौले, प्रभु की जो जय-जय बोले ॥५४॥

यहाँ यकायक घटित हुआ जो, कोई सकता बता नहीं;
दिवस रात का भला भेद वह, कहाँ गया कुछ पता नहीं ।
दूर हुये व्यवधान हजारों-रवियों के वह आप कहीं ।
भामण्डल की यह सब महिमा, आँखों को कुछ ताप नहीं ॥५५॥

प्रबल पवन का घात हुआ जो, विचलित होकर तुरत मथा;
हर-हर, हर-हर सागर करता, हर मन हरता मुदित यथा ।
वीणा, मुरली, दुम-दुम दुंदुभि, ताल-ताल करताल तथा ।
कोटि-कोटि यों वाद्य बज रहे, समवशरण में सार कथा ॥५६॥

महादीर्घ वैडूर्य रत्न का, बना दण्ड है, जिस पर हैं;
तीन चन्द्र-सम तीन-छत्र थे, गुरु-लघु-लघुतम ऊपर हैं।
तीन भुवन के स्वामीपन की, स्थिति जिससे अति प्रकट रही;
सुन्दरतम हैं, मुक्ताफल की, लड़ियाँ जिस पर लटक रहीं ॥५७॥

जिनवर की गम्भीर भारती, श्रोताओं के दिल हरती;
योजन तक जो सुनी जा रही, अनुगुंजित हो नभ धरती।
जैसे जल से भरे मेघ-दल, नभ-मण्डल में डोल रहे;
ध्वनि में डूबे दिगंतरों में, घुमड़-घुमड़ कर बोल रहे ॥५८॥

रंग-विरंगी मणि-किरणों से, इन्द्रधनुष की सुषमा ले;
शोभित होता अनुपम जिस पर, ईश विराजे गरिमा ले।
सिंहा में वर बहु सिंहों ने, निजी पीठ पर लिया जिसे;
स्फटिक शिला का बना हुआ है, सिंहासन है जिया! लसे ॥५९॥

अतिशयगुण-चउतीस रहे थे, जिस जीवन में प्राप्त हुये;
प्रातिहार्य का वसुविध वैभव, जिन्हें प्राप्त है, आप्त हुये।
त्रिभुवन के वे परमेश्वर हैं, महागुणी भगवन्त रहे;
नमूँ उन्हें, अरहन्त-सन्त हैं, सदा-सदा जयवन्त रहें ॥६०॥

अञ्चलिका

नन्दीश्वर वर-भक्ति का, करके कायोत्सर्ग।
आलोचन उसका करूँ, हे प्रभु! तव संसर्ग ॥१॥

नन्दीश्वर के चउ-दिशियों मे, चउ गुरु अंजन गिरिवर हैं,
इक-इक अंजनगिरि सम्बन्धित, चउ-चउ दधिमुख गिरिवर हैं।
फिर प्रति दधिमुख कोनों में दो-दो रतिकर गिरि चर्चित हैं;
पावन, बावनगिरि पर बावन, जिनगृह हैं, सुर अर्चित हैं ॥२॥

देव चतुर्विध कुटुम्ब ले सब, इसी द्वीप में हैं आते ;
कार्तिक-फागुन-आषाढ़ो के, अंतिम वसु-दिन जब आते ।
शाश्वत जिनगृह जिन-बिम्बों से, मोहित होते बस ! तातें ;
तीनों अष्टाह्निक-पर्वों में, यहीं आठ-दिन बस जाते ॥३॥

दिव्य-गन्ध ले, दिव्य ले, दिव्य-दिव्य ले सुमन तथा ;
दिव्य चूर्ण ले, दिव्य न्हवन ले, दिव्य-दिव्य ले वसन तथा ।
अर्चन, पूजन, वन्दन, करते, नियमित करते नमन सभी;
नन्दीश्वर का पर्व मनाकर, करते निजघर गमन सभी ॥४॥

मैं भी उन सब जिनालयों का, भरत-खण्ड में रहकर भी;
अर्चन-पूजन-वन्दन करता, प्रणाम करता झुककर ही ।
कष्टदूर हो, कर्मचूर हो, बोधिलाभ हो, सद्गति हो;
वीर-मरण हो, जिनपद मुझको, मिले सामने सन्मति ओ ! ॥५॥

पद्यानुवाद रचना काल एवं स्थान परिचय

सतत सतपुड़ा कह रहा, असत त्याग, सत-धार ।
मुक्तागिरि आ देख लो, दिखता शिरपुर द्वार ॥१॥

गगन चूँमते शिखर हैं, रहें एक से एक ।
युवा-मेघ ही जल भरे, करते हैं अभिषेक ॥२॥

रवि के व्रत दो, प्रथम तो - प्रतिदिन उठे प्रभात ।
मुक्तागिरि का दर्श ले, फिर यात्रा की बात ॥३॥

मुक्तागिरि पर मुक्त मुनि, साढ़े तीन करोड़ ।
मुक्तागिरि को नित नमूँ, नत-शिर हो कर-जोड़ ॥४॥

ऋषि-आतम-रस-गन्ध[1] की, श्वेत-पचमी जेठ।
पूर्ण हुआ अनुवाद है, पढो-सुनो भरपेट ॥5॥

१. ऋषि-७, आतम-१, रस-५, गन्ध-२, "अकाना वामतो गति:" के अनुसार वीर निर्वाण संवत् २५१७ (सन १९९१ ईस्वी) की ज्येष्ठ सुदी पंचमी तिथि 'श्रुतपंचमी' विक्रम संवत २०४८, रविवार, १६ जून १९९१ ई. को दिगम्बर जैनाचार्य श्री विद्यासागर महाराज द्वारा श्री दिगम्बर जैन सिद्धक्षेत्र मुक्तागिरि (मेढ़ागिरि) बैतूल, (म.प्र.) में श्री आचार्य पूज्यपाद कृत "नन्दीश्वर-भक्ति" का यह पद्यानुवाद पूर्ण हुआ।

ग्रन्थकार एवं गुरु-स्मरण

सुरासुरों से हैं सदा, पूजित जिनके पाद।
पूज्यपाद को नित नमूँ, पाऊँ परम प्रसाद ॥१॥

सारे सागर क्षार हैं, मम गुरु मधुर अपार।
नमूँ ज्ञानसागर, गहूँ भवसागर का पार ॥२॥

समाधिसुधा शतकम्

मूल : समाधितन्त्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य पूज्यपाद

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

समाधिसुधा शतकम्

(वसन्ततिलका छन्द)

जो जानते अपरको अपरात्म रूप,
औ आत्मको सतत वे सब आत्मरूप ।
स्वामी ! अमेय अविनश्वर बोध धाम,
हो बार बार उन सिद्धन को प्रणाम ॥१॥

सम्माननीय जिनकी वह भारती है
अत्यन्त तीर्थ-कर संपति शोभती है
धाता, महेश, शिव, सौगत नामधारी
वंदू उन्हें जिनप जो जग आर्त-हारी ॥२॥

शास्त्रानुसार निज बोध-बलानुसार,
एकाग्र चित्तकर युक्तिमतानुसार ।
शुद्धात्म-तत्त्व उनको कहता यहाँ मैं,
जो चाहते सहज सौख्य प्रभो ! सदा है ॥३॥

आत्मा यहीं त्रिविध है सब देहियों में,
आदेय है परम आतम पे सबों में ।
तो अन्तरात्म शिवदायक है उपेय,
धिक्कार ! हाय ! बहिरातम निंद्य हेय ॥४॥

मेरा शरीर, धन औ सुत राजधानी,
ऐसा सदैव कहता बहिरात्म प्राणी ।
रागादि से रहित हो वह अन्तरात्मा,
है वंद्य, पूज्य, परमातम, निर्मलात्मा ॥५॥

जो बुद्ध, शुद्ध जिनके न शरीर साथ,
अत्यन्त इष्ट जिन ईश्वर विश्वनाथ ।
है सिद्ध, अव्यय तथा वसु-कर्म रिक्त,
है पूजनीय परमातम पूर्ण व्यक्त ॥६॥

जो है यहाँ सतत इन्द्रिय-भोगलीन,
निर्भ्रांत नित्य बहिरात्म स्वबोध हीन ।
है देह को इसलिए वह आत्म मान,
संसार में दुख सदा सहता महान ॥७॥

धिक्कार ! मानव-तन-स्थित आत्म को ही,
हैं मानते मनुज रूप सदा विमोही ।
तिर्यंच देह अरु देव शरीर पाते,
तिर्यंच, देव क्रमशः निज को जनाते ॥८॥

लेते जहाँ नरक में जब जन्म भी है,
तो मानते स्वयम को तब नारकी है ।
आत्मा प्रभो ! परम निश्चय से न ऐसा
विज्ञान पूर्ण, निजगम्य अहो ! हमेशा ॥९॥

जो पुद्गलात्मक तथा पर देह को ही,
स्वामी ! निर्जीय तन सादृश जान मोही ।
है मानता भ्रमित हो यह 'अन्य आत्मा'
प्रायः अतः दुरित ही करता दुरात्मा ॥१०॥

जो आत्मबोध परिशून्य सदा रहा है,
संपत्ति से मुदित तोषित हो रहा है ।
मेरी खरी मृगदृगी ललना यहाँ है,
ऐसा विचार उसका भ्रम-पूर्ण, हा ! है ॥११॥

मिथ्यात्व-जन्य उसकी इस भावना से
अज्ञान तीव्र बढ़ता, सुख हो कहाँ से, ?
तो देह को 'निज' सदा वह मानता है ।
आ ! आत्म को वह कदापि न जानता है ॥१२॥

मिथ्यात्व भाव वश हो वह मूढ जीव,
है आत्म-बुद्धि रखता तन में सदीव ।
माता, पिता, सुत, सुता वनिता व भ्राता,
ये हैं यहाँ 'मम' सभी इस भाँति गाता ॥१३॥

आभूषणादिक जडात्मक नश्यमान,
मोही इन्हें स्वयम के सुख हेतु मान ।
उत्कृष्ट स्वीय मणि को वह व्यर्थ खोता,
लो ! काँच में रम रहा, दुख बीज बोता ॥१४॥

संसार का प्रथम कारण देह-नेह
है रूढ़ हाय ! जिससे यह बोध गेह ।
व्यापार-त्याग कृत इन्द्रिय-ग्राम का रे,
हो आत्म में रत अतः यदि लोग सारे ॥१५॥

मैंने स्वभाव तज के निज भोग लीन,
संसार में दुख सहा, वृष-बोध हीन ।
मैं 'आत्म' हूँ न पहले इस भाँति जाना,
पै सर्वथा विषय को सुख हेतु माना ॥१६॥

जो अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
होता नितान्त उसका वह योग चंगा ।
उत्कृष्ट आतम प्रकाशक योग-दीप
धारो इसे, शिव लसे, फलतः समीप ॥१७॥

जो भी मुझे नयन गोचर हो रहा है,
ना जानता वह कभी जड़ तो रहा है ।
जो जानता वह न इन्द्रियगम्य आत्मा,
बोले तदा किसलिए किस संग आत्मा ॥१८॥

मैं योग्य शिष्य दल को नित हूँ पढ़ाता,
या ज्ञान को सुगुरु से सहसा बढ़ाता ।
उन्मत्त-सी यह यहाँ मम मात्र चेष्टा,
मैं निर्विकल्प, मम निश्चय से न चेष्टा ॥१९॥

चैतन्य को पर कभी तजता नहीं है,
अग्राह्य को ग्रहण भी करता नहीं है ।
जो जानता निखिल को निज ज्ञान से ही,
विज्ञान पूर्ण वह 'चेतन जीव 'मैं' ही' ॥२०॥

स्वामी ! सुदूर स्थित नीरस वृक्ष में ओ ;
जैसा सदा पुरुष का अनुमान जो हो ।
मिथ्यात्व के उदय से जड़ देह को ही
'आत्मा' पुरा भ्रमित हो समझा प्रमोही ॥२१॥

पश्चात् उसे निकट जा लख शुष्क ठूंठ,
ज्यों त्यागता वह उसे द्रुत मान झूठ ।
त्यों छोड़ता वितथ मान तनादिकों को,
निस्सार हेय पर जो दुख कारकों को ॥२२॥

ना मैं नपुंसक नहीं नर दीन स्त्री न,
दो भी न एक न अनेक तथा न तीन ।
मैं हूँ निजात्म बल से जब स्वात्म ध्याता,
इत्थं सदा न मुझमें कुछ भेद नाता ! ॥२३॥

शुद्धात्म-ध्यान बिन खेद ! अनादि सोया,
पाके उसे जग गया, बहु दुःख खोया ।
आनन्द जो मिल गया, निज-गम्य, रम्य,
स्वामी ! अतीन्द्रिय अपूर्ण न शब्द-गम्य ॥२४॥

देखूं यदा परम ब्रह्म निजात्म को मैं,
रागादि भाव दुखदा द्रुत नष्ट होते ।
होती भयानक तदा न सुतेज आग,
प्यारी नहीं कुसुम की लगती पराग ॥२५॥

ब्रह्माड ही जब मुझे नहि जानता है,
क्या शत्रु-मित्र वह हो सकता तदा है ।
या जानता यदि मुझे लखता तथा है,
तो भी न मित्र रिपु हो सकता अहा ! है ॥२६॥

शीघ्राति-शीघ्र बहिरात्म-पना विसार,
औ अंतरात्म-पन का रुचि संग धार ।
संकल्प, जल्प व विकल्प-विहीन भी हो,
पश्चात् सुपूज्य परमेश्वर रूप पाओ ॥२७॥

साधु सदैव, वह तो निज आत्म ध्याता,
सोऽहं, विशुद्ध, जिन हूँ रट यों लगाता ।
होता निवास निज में इस धारणा से,
क्यो रोष तोष तब हो, दुख हो कहाँ से ? ॥२८॥

नादान, दीन, मतिहीन, स्वबोध-हीन,
विश्वास्य धार जड़ में सुखमान लीन ।
है मान्यता यह अत: वह दुःख धाम
तो आत्म-ध्यान घर है, सुख का ललाम ॥२९॥

निश्चिन्त हो निडर, निश्चल अन्तरात्मा,
व्यापार रोक करणावलिका महात्मा ।
जो भी जभी निरखता अरु जानता है,
शुद्धात्म तत्त्व उसको वह भासता है ॥३०॥

जो मैं वही परम आतम है महात्मा,
ऐसा विचार करता वह अन्तरात्मा ।
मैं ही उपास्य मम हूँ स्तुति अन्य की क्यों ?
मैं साहुकार जब हूँ फिर याचना क्यों ? ॥३१॥

मैंने सभी विषय को विष मान त्यागा,
मेरा जिनेश ! जिस कारण भाग्य जागा ।
आनन्द-धाम मुझको अधुना मिला है,
विज्ञान-नीरज अतः उरमें खिला है ॥३२॥

दुर्गन्ध-रक्त-मल-पूरित-देह को जो,
है मानता न यति भिन्न निजात्म से ओ ।
निर्भीक यद्यपि करे तप भी करारी,
तो भी उसे न वरती वह मुक्ति-नारी ॥३३॥

जो जानता तन तथा निज आत्म-भिन्न,
होता नहीं वह कभी यति खेद-खिन्न ।
शीतानिशीत हिम से डरता नहीं है,
संतप्त चूलगिरिपे तपता वही है ॥३४॥

योगीन्द्र का मन सरोवर है निहाल,
ना हैं जहाँ कलुष राग तरंग जाल ।
स्वामी ! वही निरखता निज आत्मतत्त्व,
रागी नहीं वह कभी लखता स्वतत्त्व ॥३५॥

संक्षोभ-हीन मन आतम का स्वभाव,
संमोह-मान-मय-मानस है विभाव ।
सारे अतः मलिन मानस को धुलाओ,
आदर्श सादृश विशुद्ध उसे सजाओ ॥३६॥

मिथ्यात्व-मान ममतादिक कारणों में,
होता सुलीन मन है, विषयादिकों में ।
सिद्धान्त के मनन से मन हाथ आता,
विज्ञान के उदय से पर में न जाता ॥३७॥

उद्विग्न क्षोभमय जो नित हो रहा है,
मानापमान उसके मन में बसा है ।
सद्धर्म-लीन जब जो मुनि वीतराग,
क्यों द्रोह मोह उनमें फिर शेष राग ? ॥३८॥

अज्ञान का प्रबल कारण पा जिनेश, !
हो जाय तो यदि यदा रति राग द्वेष ।
भावे उसी समय स्वीय विशुद्ध तत्त्व,
तो राग-द्वेष मिटते, मिटता ममत्व ॥३९॥

सम्बन्ध स्वीय तन से यदि प्रेम का हो,
योगी सुदूर उससे सहसा अहा ! हो ।
विज्ञान रूप तन में निज को लगावें,
तो देह-प्रेम नशता, तब मोक्ष पावें ॥४०॥

अज्ञान-जन्य-दुख नाश स्वबोध से हो,
पीड़ा अतीव वह क्यों न अनादि से हो ।
विज्ञान के विषय में यदि आलसी है,
पाता न मोक्ष, उसका तप ' ना सही है ॥४१॥

लक्ष्मी मिले, मिलन हो, मम हो विवाह
मूढ़ात्म को विषय की दिनरैन चाह ।
ज्ञानी, वशी, विमल मानस, आत्मवादी,
मूढ़ात्म सादृश नहीं, पर अप्रमादी ॥४२॥

जो आत्म-भक्ति च्युत होकर भोगलीन,
त्यों कर्म जाल फँसता रसलीन मीन ।
जो स्नान आत्म सरमें करता तपस्वी,
निर्मुक्त कर्म-रज से वह हो यशस्वी ॥४३॥

स्त्री नपुंसक औ नर लिंग को ही,
'आत्मा' सदैव इस भाँति कहे प्रमोही ।
पै आत्म अव्यय, अवर्ण्य, अखण्ड पिण्ड,
ऐसा कहे सुबुध, ना जिनमें घमण्ड ॥४४॥

शुद्धात्म को सुबुध यद्यपि जानता है,
ध्याता उसे अलस को तज देखता है ।
मिथ्यात्व का उदय पै यदि हाय ! होता,
सद्ध्यान शीघ्र नशता, वह भ्रष्ट होता ॥४५॥

काया अचेतन-निकेतन दृश्यमान,
दुर्गन्ध-धाम पर है क्षण नश्यमान ।
तो रोष तोष किसमें मम हो महात्मा, !
मध्यस्थ हूँ इसलिए जब चेतनात्मा ॥४६॥

मूढ़ात्म केवल पटादिक छोड़ता है,
ज्ञानी कषाय घटको झट तोड़ता है ।
सर्वज्ञ तो न तजता, गहता किसी को,
तो लाख बार मम वन्दन हो उसी को ॥४७॥

शुद्धात्म के शयन पे मन को सुलाओ,
औ कायसे वचन से निज को छुड़ाओ ।
रे ! सर्व बाह्य व्यवहार तथा भुलाओ,
अध्यात्म रूप सर में निज को डुबाओ ॥४८॥

जो आत्म-बोध परि-शून्य शरीरधारी,
भाता उसे स्वतन ही कल सौख्यकारी ।
जो स्वीय बाध पय को नित पी रहा हो,
संसार क्षार जल में रुचि क्यों उसे हो ? ॥४९॥

शुद्धात्म ध्यान तज अन्तर आत्म सारे,
ना अन्य भाव मन में चिरकाल धारें ।
या अन्य भाव यदि है करते प्रवीण,
वाक्काय से कुछ करें मनसे कभी न ॥५०॥

जो भी मुझे सकल-इन्द्रिय गम्य है रे,
निर्भ्रांत भिन्न मुझसे पर है, न मेरे ।
देखूँ समोद जब में निज में, तभी यों,
है ज्योति दीख पड़ती, मम है 'वही जो' ॥५१॥

प्रारम्भ में कुछ दुखी निज ध्यान से हो,
प्राय: सुखानुभव बाहर में उसे हो ।
अभ्यस्त तापस कहै निजमें हि तोष,
ससार सागर असार विपत्ति कोष ॥५२॥

निर्ग्रन्थ होकर करो निज आत्म-गीत,
पूछो तथा निजकथा गुरु से विनीत ।
चाहो उसे सतत् हो उसमें विलीन,
अज्ञान नाश जिससे, तुम हो प्रवीण ॥५३॥

वाङ्काय में निरखता निजको हि अज्ञ,
तो देह का वचन का वह है न विज्ञ ।
ज्ञानी कहे मम नहीं यह देह भार,
होता अत: वह सुशीघ्र भवाब्धि पार ॥५४॥

संभोग में सुख नहीं कहते मुमुक्षु,
मोक्षार्थ योग" धरते सब संत भिक्षु ।
अज्ञान भाव वश हो वह सर्व काल,
संभोग में निरत हो बहिरात्म बाल ॥५५॥

अज्ञान रूप तम में चिरमूढ़ सोये,
भोगे कुयोनिगत-दु:ख अतीव रोये ।
ऐसी दशा च उनकी दयनीय क्यों है ?
वे आत्म बोध तजके परलीन क्यों है ? ॥५६॥

योगी सदा तप तपे निजमें रहेंगे,
सद्ध्यान ध्या परिषहादिक भी सहेंगे ।
'मेरा शरीर' इस भाँति नहीं कहेंगे,
कोई प्रबन्ध परसंग नहीं रखेंगे ॥५७॥

मोही नहीं समझते निज शक्ति को भी,
ओ जानते न मम उत्तम बोध से भी ।
तो क्यों अहो ! अबुध को उपदेश मेरा,
होगा नहीं उदित सूर्य नहीं सबेरा ॥५८॥

सद्बोध शिष्य-दल को जब मैं दिलाऊँ,
स्वामी ! निजानुभव मैं तब हा ! न पाऊँ ।
ना शब्दगम्य, निजगम्य, अमूर्त हूँ मैं,
कैसे ? किसे ! कब उसे ! दिखला सकूँ मैं ॥५९॥

सन्तुष्ट बाह्य धन में कुपथाभिरूढ़,
उत्कृष्ट स्वीय-धन-विस्मृति से "प्रमूढ़" ।
चारित्र धार तपते, तजते कुभोग,
पाते प्रमोद निज में "मुनि" सन्त लोग ॥६०॥

ना ! जानता वह कभी सुख दुख को है,
स्वामी ! अचेतन-निकेतन देह जो है ।
मिथ्यात्वभाव वश हो तनकी सुसेव,
मोही नितान्त करता फिर भी सदैव ॥६१॥

देहादि में निरत हैं जबलौं हि जीव,
निर्भ्रांत दुःख सहता तबलौं अतीव ।
शुद्धात्म ध्यान तुझको जब हो खुशी है,
तेरे तदा निकट ही शिव-कामिनी है ॥६२॥

ज्यों वस्त्र को पहन मार्दव स्पर्श शस्य,
हैं मानते न निजको 'बलवान् मनुष्य' ।
ना मानते सुबुध त्यों निज देह देख,
सन्तुष्ट पुष्ट निज को बलवान् सुरेख ॥६३॥

होता यदा वसन है यदि जीर्ण-शीर्ण
कोई तदा समझते निज को न क्षीण ।
काया जरा समय में यदि कांति हीन,
ज्ञानी तदा समझते निज को न क्षीण ॥६४॥

है मूल्यवान् पट भी यदि नष्ट होता,
संसार में अबुध भी न कदापि रोता ।
देहावसान यदि हो मम तो खुशी है,
मेरा नहीं मरण यों कहते वशी हैं ॥६५॥

हैं पंक मे मलिन यद्यपि शुक्ल वस्त्र,
पै मानते मनुज तो निज को पवित्र ।
तो देह में रुधिर पीव पड़े सड़े भी ।
योगी स्वलीन फिर भी, तपते खड़े ही ॥६६॥

जो आत्म-चिन्तन सदा करता नितान्त,
निस्पन्द ही जग उसे दिखता प्रशान्त ।
होता वही 'जिन' अतः गतक्लान्त विज्ञ,
मोही सदा दुख सहे बहिरात्म अज्ञ ॥६७॥

जो राग-रोष करता गहता शरीर,
तो बार बार मरता सह, दुःख पीर ।
प्रत्येक काल जिस कारण कर्म ढोता,
तो जानता न निज को भव बीच रोता ॥६८॥

प्रत्येक काल जड़ पुद्‌गल वर्गणाएं,
जाती, प्रवेश करती तन में परायें ।
तो पूर्वसा इसलिए तन दीखता है,
मोही निजीय कहता उसको वृथा है ॥६९॥

काला न मै ललित, लाल नहीं अनूप,
रागी न पुष्ट अति हृष्ट नहीं कुरूप ।
पै नित्य, सत्य अरु मैं वर बोध-धाम,
मेरा अतः विनय से मुझको प्रणाम ॥७०॥

जो ग्रन्थ त्याग, उरमें शिव की अपेक्षा,
मोक्षार्थ मात्र रखता, सबकी उपेक्षा ।
होता विवाह उसका शिवनारि-संग,
तो मोक्ष चाह यदि है बन तू निसंग ॥७१॥

संसर्ग पा अनल का नवनीत जैसा,
नोकर्म पा पिघलता बुध ठीक वैसा ।
योगी रहे इसलिए उनसे सुदूर,
एकांत में विपिन में निज में जरूर ॥७२॥

मैं जा रहूँ नगर में, वन में कभी न,
ऐसा विचार करता, बहिरात्म दीन ।
ज्ञानी न ईदृश विचार स्वचित्त लाता,
निश्चिंत हो सतत किन्तु निजात्म ध्याता ॥७३॥

निस्सार पार्थिव तनादिक काऽनुराग,
है बीज अन्य तन का द्रुत भव्य ! जाग ।
तो बीज मोक्ष द्रुम का निज भावना है,
भावो उसे, यदि तुम्हें शिव कामना है ॥७४॥

आत्मा हि कारण सदा भव का रहा है,
जाता वही नियम से शिव को तथा है ।
है आत्म का गुरु अतः स्वयमेव आत्मा,
कोई न अन्य, इस भाँति कहे महात्मा ॥७५॥

होना यदा जड़ तनादिक का वियोग,
भागी विलाप करते बहिरात्म लोग ।
मैं तो मरा, मरण !! हाय ! महा समीप,
ऐसे कहे, न जिनके उर-बोध-दीप ॥७६॥

प्राचीन वस्त्र तज, वस्त्र नवीन लेते,
स्वामी ! यथा मनुज मात्र न खिन्न होते ।
योगी तथा न डरता यदि काय जाता,
मेरा नहीं मरण है इस भाँति गाता ॥७७॥

जो भी यहाँ विषय भोग करें करावें,
शुद्धात्म ध्यान च्युत होकर कष्ट पावें ।
जो मौन सर्व व्यवहारिक कार्य में हैं,
वे ही स्वदर्शन करें, निज में रमे हैं ॥७८॥

तो देख बाह्य धन वैभव और अंग,
ओ ! आत्म को निरख के निज अन्तरंग ।
निस्सार जान जड़ को पर औ अमेध्य,
छोड़े उसे बुध सुशीघ्र बने अवद्य ॥७९॥

जो जोग धार, वन् जीवन है बिताता,
प्रारम्भ में जग उसे 'मद' सा दिखाता ।
पश्चात वही निरस-ठूंठ समा दिखाता,
अभ्यास से मुनि यहाँ निज वित्त पाता ॥८०॥

तत्वोपदेश परको दिन रैन देता
सदबोध और सुनता जिन शास्त्र वेत्ता ।
पै देह भिन्न मम जीव सदैव भिन्न,
ऐसा न बोध यदि हो शिव मात्र स्वप्न ॥८१॥

शुद्धात्म ध्यान सर में निज को डुबाओ,
दुर्गन्ध देह सर को सहसा भुलाओ ।
तो देह धारण पुनः जिससे न होवे,
पावे विशुद्धि पद औ वसु कर्म खोवे ॥८२॥

निर्भ्रांत अत्र व्रत से वह पुण्य होता,
अत्यन्त क्लांत ! व्रतहीन कुपाप ढोता ।
दोनों विलीन जब हो तब मोक्ष भिक्षु,
छोड़े व्रतेतर समा व्रत को मुमुक्षु ॥८३॥

संसार कारण व्रतेतर आद्य छोड़,
वैराग्य पा विषय से निज को सुमोड़ ।
छोड़े महाव्रत तदा मुनि मौनधारी,
होती स्वहस्तगत है जब मोक्ष नारी ॥८४॥

संकल्प, जल्प व विचित्र विकल्प वृन्द,
है दुःख मूल, जिससे वसु कर्म बन्ध ।
होता यदा जड़तया उसका विनाश,
आत्मा तदा स्वपद-दिव्य गहे प्रकाश ॥८५॥

जो अव्रती वह सुशीघ्र बने व्रती ही,
सज्ज्ञान में परम लीन रहे व्रती भी ।
संपन्न ध्यान क्रमशः स्वयमेव होगा,
विज्ञान पूर्ण मुनि यों भव-मुक्त होगा ॥८६॥

चारित्र बाहर तनाश्रित दीखता है,
तो जीव का 'भव' यही तन तो रहा है ।
जो मात्र बाह्य तप में रहता सुलीन,
होता न मुक्त निज-निर्मल-भाव-हीन ॥८७॥

ये शैव वैष्णव तथा बहु जातियाँ है,
सारी यहाँ जड़ तनाश्रित पंक्तियाँ हैं ।
जो मूढ़ जाति मद है रखता सदैव,
कैसा उसे शिव मिले अयि ! वीर देव ! ॥८८॥

मैं हूँ दिगंबर अतः शिवमार्गगामी,
कोई नहीं मम समा बुध अग्रगामी ।
इत्थं प्रमत्त मुनि हो मद धारता है,
पाता न मोक्ष पद को वह भूलता है ॥८९॥

ज्ञानी सुयोग धरते तपते शिवार्थ,
जो दूर हैं विषय से निज साधनार्थ ।
तो भोग लीन रहता दिन-रैन मोही,
है त्याग का वह सदा अनिवार्य द्रोही ॥९०॥

निर्भ्रांत देह जड़ ही नित जानता है,
मोहाभिभूत नर ईदृश मानता है ।
पंगु प्रदर्शित यथा पथ-रूढ़ अन्ध,
ना दीखता पथिक को वह हाय ! अन्ध ॥९१॥

जो अन्ध-खंज युग अन्तर जानते हैं ।
ज्यों अन्ध को नयनवान न मानते हैं ।
विज्ञान पूर्ण निज को मुनि मानते जो,
आत्मानुरूप तन को नहि जानते त्यों ॥९२॥

उन्मत्त सुप्त जनकी वह जो क्रिया हो,
मोही उसे भ्रम कहे यह अज्ञता ओ !
पै रोष तोष मय तामस-भाव को ही,
हैं मानते 'भ्रम' अहो ! गुरु जो अलोभी ॥९३॥

सिद्धांत हस्तगत यद्यपि है जिसे वो,
सद्ध्यान हीन यदि हो शिव ना उसे हो ।
शुद्धात्म का अनुभवी यदि नींद लेता,
तो भी अपार सुख पा, भव पार होता ॥९४॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी रही है,
होती नितांत उस की रुचि भी वहीं है ।
होती यदा रुचि जहाँ अयि भव्य ! मित्र,
होता सुलीन मन है वह नित्य तत्र ॥९५॥

स्वामी ! जहाँ मनुज बुद्धि लगी नहीं है,
होती वहाँ रुचि कभी उसकी नहीं है ।
होती तथा रुचि नहीं सहसा जहाँ है,
होता सुलीन मन ना वह भी वहाँ है ॥९६॥

छद्मस्थ भव्य जिसको नहिं भोग भाता,
सिद्धात्म भक्ति करके वह मुक्ति जाता ।
बत्ती यथा अलग होकर दीप से भी,
होती अहो ! द्युतिमयी उस संग से ही ॥९७॥

जो आत्म ध्यान करता दिनरैन त्यागी,
होता वही परम आतम वीतरागी ।
संघर्ष से विपिन में स्वयमेव वृक्ष,
होता यथा अनल है अयि भव्य दक्ष ! ॥९८॥

देखो ! विशुद्ध पद को निज में सही यों,
ध्याओ उसे वचन गोचर नहीं जो ।
पाओ अतः परम पावन मोक्ष-धाम,
आना नहीं इधर लौट वहीं विराम ॥९९॥

रे आत्म तत्व यदि भौतिक ही यहाँ हो,
तो मोक्ष, यत्न बिन ही सहसा अहा ! हो ।
ऐसा न हो, तब सदा तपसे सुमुक्ति,
योगी दुखी न, जब जागरती स्वशक्ति ॥१००॥

होता यथा मरण यद्यपि स्वप्न में है,
तो भी न नाश निज का परमार्थ से है ।
स्वामी ! तथा मरण हो जब आयु अन्त,
पै देह ही बदलता, नित मैं अनन्त ॥१०१॥

जो कायक्लेश बिन आर्जित आत्म ज्ञान,
शीतादि कष्ट जब हो द्रुत नश्यमान ।
कायानुसार सब ही नित काय क्लेश,
योगी सहे सतत वे धर नग्न भेष ॥१०२॥

विद्वेष राग करता यह ज्योंहि जीव,
त्योंही चले पवन भी तन मे अतीव ।
आ वायु से सकल अङ्ग उपाग सारे,
होते स्वकार्य रत नोकर से बिचारे ॥१०३॥

निस्सार दहिक विवर्त्त समूह को भी,
'आत्मा' कहे अबुध लोक सदा प्रमोही ।
स्वामी ! वशी सुबुध तो पर का विसार,
होते सुशीघ्र दुख पूर्ण-भवाब्धिपार ॥१०४॥

जोभी समाधि स्तुति को पढ आत्म, वेद
'मैं औ शरीर' इनमे कुछ भी न भेद ।
ऐसा विचार तजते बन अन्तरात्मा,
पाते निजीय सुख को, बनते महात्मा ॥१०५॥

आचार्य पूज्यपाद स्तुति

थे पूज्यपाव, वृषपाल, वशी, वरिष्ठ,
थे आपके न रिपु, मित्र, अनिष्ट, इष्ट ।
मैं पूज्यपाद यति को प्रनमू त्रिसध्या,
'विद्यादिसागर' बनूँ, तज दूँ अविद्या ॥

- इति शुभं भूयात् -

योगसार

मूल : योगसार (प्राकृत)

रचनाकार : आचार्य कुंदकुंद स्वामी

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

योगसार

(वसंत तिलका छंद)

ज्ञानी, वशी परम पावन ध्यान ध्याके,
जो अष्ट कर्म-मय-इंधन को जला के ।
सारे हुए परम आतम विश्वसार,
वंदू उन्हें नमन मैं कर बार, बार ॥१॥

जो घाति कर्म रिपुको क्षण में भगाये,
अर्हन्त होकर अनन्त चतुष्क पाये ।
तो लाख बार नम श्री जिनके पदों में,
पश्चात कहूं सरस श्राव्य सुकाव्य को मैं ॥२॥

हे भद्र ! भव्य भव से भयभीत भारी,
जो चाहते परम सुन्दर मुक्तिनारी ।
संबोधनार्थ उनको समचित्त साथ,
पद्यावली रचित है मुझसे सुखार्थ ॥३॥

जो काल है वह अनादि, अनादि जीव,
संसार सागर अनन्त व्यथा अतीव ।
मिथ्यात्व से भ्रमित हो सुख को न पाया,
संसारिजीव दुख जीवन ही बिताया ॥४॥

संसार के भ्रमण से यदि भीत है तू,
शीघ्रातिशीघ्र तज तो, पर भाव को तू ।
ध्या, स्वच्छ, अच्छ व अतुच्छ निजात्म को तू,
पाले अनन्त जिससे शिव सौख्य को तू, ॥५॥

आत्मा यहां त्रिविध हैं बहिरंतरात्मा,
आदेय ध्येय 'परमातम' है महात्मा ।
तू अंतरात्म बन के परमात्म ध्या रे ।
दे ! दे ! सुशीघ्र बहिरातम को विदा रे ! ॥६॥

मिथ्यात्वसे भ्रमित जो जिन धर्म द्रोही,
है मानता परम आतमको न मोही ।
होता वही नियम से बहिरात्म प्राणी,
गाती सदैव इस भांति सुवीर वाणी ॥७॥

जो देखता परम आतमको यहां है,
ओ रोष तोष परको तजता अहा है ।
होता सुपंडित वही अयि ! वीर नाथ !
संसार त्याग, रमता शिव नारि साथ ॥८॥

अत्यंत शांत, गतक्लांत नितांत शुद्ध,
जो है महेश, शिव, विष्णु, जिनेश, बुद्ध ।
ज्ञानी उन्हें परम आतम हैं बताते,
सिद्धांत के मननमें दिन जो बिताते ॥९॥

देहादि जो सकलभिन्न सुसर्वथा है,
'आत्मा' कहे मनुज तो उनको, व्यथा है !!
वे ही सभी अबुध हैं बहिरात्म जीव,
संसार बीच दुख को सहते अतीव ॥१०॥

जो अत्र मित्र निज पुत्र, कलत्र सारे,
ये तो कभी न मम हो सकते बिचारे ।
यों जान, ओ अयिसुजान ! तथा च मान,
तू आत्म को सतत आतम रूप जान ॥११॥

हे ! भव्य जीव यदि तू निजको लखेगा,
तो शीघ्र मुक्ति-ललना-पति तू बनेगा ।
औ अन्यको हि यदि 'आतम' तू कहेगा,
तो हा ! अगाध भवसागर में गिरेगा ।।१२।।

इच्छा विहीन बन तू यदि योग धार,
है आत्म को निरखता, जगको विसार ।
तो आशु मुक्ति रमणी तुझको वरेगी,
क्या ! क्या कहूं वह कभी न तुझे तजेगी ।।१३।।

है जीव कर्म गहता परिणाम से ही,
पाता निर्जीय पदको परिणाम से ही ।
तो भव्य जीव किससे शिव सांख्य ढोता,
तू जान ठीक ! किससे वह बंध होता ।।१४।।

धिक्कार ! हाय ! यदि आतम को विसार,
तू पुण्य का चयन हो करता अपार ।
तो हंत ! सातिशय सौख्य नहीं मिलेगा,
संक्लेश भाव करता, दुख ही सहेगा ।।१५।।

आदर्श सादृश निजातम दर्श, त्याग,
कोई न अन्य शिवकारण, भव्य ! जाग ।
ऐसा सदा समझ निश्चयसे सुयोगी !
तो शीघ्र ही सुख मिले भव-मुक्ति होगी ।।१६।।

जो मार्गणा व गुणथान विकल्पसारे
है शास्त्र से कथित वे व्यवहार से रे !
पे आत्मको समझ निश्चयसे विशुद्ध,
होगा सुखी सहज से, द्रुत सिद्ध, बुद्ध ।।१७।।

गार्हस्थ्यकार्य घर में करते हुए भी,
जो जानते सतत हेय अहेय को भी ।
ध्याते तथाऽनुदिन वीर जिनेंद्र को हैं,
पाते सुशीघ्र सब वे शिव सौख्य को हैं ॥१८॥

चिंतो विशुद्ध मन से अविराम ध्याओ,
हे ! भव्य आप जिन को निज चित्त लाओ ।
सारे अनन्त गुणधाम अहो ! बनोगे,
तो एक साथ जिससे सबको लखोगे ॥१९॥

शुद्धात्म में व जिन में कुछ भी न भेद,
ऐसा सदा समझ तू द्रुत आत्म वेद ।
संसार पार करना यदि चाहता है,
भा भावना सहज की यह साधुता है ॥२०॥

जो हैं जिनेन्द्र सुन ! आतम है वही रे !
'सिद्धांत सार' यह जान सदा सही रे !
यों ठीक जानकर तू अयि भव्य योगी !
सद्यः अतः कुटिलता तज मोह को भी ॥२१॥

जो है यहां परमआतम हूं वही मैं,
वे ही विभो ! परम आतम जो सुधी में ।
ऐसा अरे ! समझ जान सदैव योगी ?
ला चित्त में क्षण न अन्य विकल्प को भी ॥२२॥

शुद्धप्रदेश युत जो त्रयलोकपूर्ण,
आत्मा उसे समझ जान उसे न चूर्ण ।
निर्वाण प्राप्त करले जिससे मुमुक्षु !
आत्मीय सौख्य गहले अयि ! भव्य भिक्षु ! ॥२३॥

आत्मा त्रिलोक सम निश्चय से यहां है,
देह प्रमाण, व्यवहारतया तथा है ।
जो जानता सतत ईदृश आत्म को है,
पाता सुशीघ्र भव-वारिधि तीर को है ॥२४॥

चौरासि योनिगत दु:सह दु:ख पाया,
औ दीर्घ काल भव में भ्रमता बिताया ।
सम्यक्त्व दिव्य धन को इसने न पाया,
देही, जिसे धरम ना अबलों सुहाया ॥२५॥

जो है सचेतन-निकेतन और शुद्ध,
वे दिव्य ज्ञान मय श्री जिन नाथ बुद्ध ।
आत्मा उन्हें समझ, जान अरे सदा तू,
हे ! भव्य ! बोल ! शिव को यदि चाहता तू ॥२६॥

होगा तुझे न सुख ओ तबलौं न मुक्ति
सानन्द तू न करता जबलौं स्वभक्ति
जो दीखता अब तुझे वर सौख्य सार
तू धार शीघ्र उसको करके विचार ॥२७॥

जो हैं जिनेश, शिव है त्रय लोक ध्येय,
आत्मा वही व उसकी महिमा अमेय ।
ऐसा यहां कथन निश्चय से किया है,
विश्वास धार इसमें, भ्रमतो वृथा है ॥२८॥

चारित्र मूढ़ जन यद्यपि धारते हैं,
प्राय: सभी व्रत तपादिक साधते हैं ।
शुद्धात्म-ज्ञान जबलों गहते नहीं है,
ना मोक्ष मार्ग तबलों, तप व्यर्थ ही है ॥२९॥

जो भी दिगम्बर वशी बन योग धार,
शुद्धात्मको यदि लखे जग को विसार ।
संसार त्याग सब वे द्रुत मोक्ष पाते,
ऐसे सदैव सब सन्मति शास्त्र गाते ॥३०॥

चारित्र, शील व्रत औ तप भी करारी,
ये सर्व ही न तबलौं शिव सौख्य कारी ।
शुद्धात्म ध्यान जबलौं मुनि को न होता,
जो आशु साधु कुलको सुख पूर्ण देता ॥३१॥

है पुण्य से अमर हो गहता विलास,
औ पाप से नरक में करता निवास ।
पै पुण्य पाप तज जीव निजात्म ध्याता
तो शीघ्र ही परम पावन मोक्ष पाता ॥३२॥

चारित्र शील व्रत संयम जो यहां है,
वे सर्व ही कथित रे ? व्यवहार से है ।
हे ! जीव, एक वह कारण मोक्ष का है,
विज्ञान, जो परम सार त्रिलोक का है ॥३३॥

जो आत्म भाव बल से निज को जनाते,
स्वामी ! कभी न मन में परभाव लाते ।
वे सर्व मोक्ष पुर को सहसा पधारे,
धारे अनंत सुख को, सबको निहारे ॥३४॥

ये द्रव्य हैं छह यहां अरु नौ पदार्थ,
हैं सात तत्व जिनदर्शित ये यथार्थ ।
व्याख्यान तो यह हुआ व्यवहार मात्र,
तू जानले अब उन्हें बन साम्य पात्र ॥३५॥

सारे अचेतन-निकेतन बोध रिक्त,
तो जीव चेतन सुधा सम सार युक्त ।
सानन्द जान जिसको मुनि भव्य वृंद,
संसार पार करते, बनते अबंध ॥३६॥

है जानता यदि सुनिर्मल आत्म को तू,
औ छोड़ता उस सभी व्यवहार को तू ।
तो शीघ्र ही वह मिले भवका किनारा,
ऐसे जिनेश कहते, यह 'योग सारा' ॥३७॥

जो भेद संनिहित जीव अजीव में है,
जो भी मनुष्य उसको यदि जानते हैं ।
है ज्ञात निश्चित उन्हें जग तत्व सर्व,
ऐसे मुनीश्वर कहें, जिनमें न गर्व ॥३८॥

आत्मा अहो ! परम केवल-बोध-धाम,
ऐसा सुजान ! नित जान तथैव मान ।
कल्याण-खान-शिवकी यदि कामना है,
हे ! भव्य ! साधुजन की यह बोलना है ॥३९॥

तो कौन पूजन, समाधि करे करावे,
औ मित्रता हृदय में किस संग लावे ।
संघर्ष कौन किस संग करे महात्मा,
देखो जहां वह वहां दिखता निजात्मा ॥४०॥

स्वामी ! यहां सुगुरु के प्रसाद द्वारा,
जो आत्मको न लखता जबलौं सुचारा ।
हा ! हा ! कुतीर्थ करता, तबलौं अहा ! है,
तो धूर्तता, कुटिलता, करता वृथा है ॥४१॥

त्रैलोक्य संस्तुत जिनेश न तीर्थ में है,
वे सिद्ध, शुद्ध न जिनालय में बसे हैं ।
रे ? जान तू जिनप तो तन गेह में है,
ऐसा सदा श्रुतविशारद बोलते हैं ॥४२॥

है देव यद्यपि तनालय में यथार्थ,
जाते तथापि जन मंदिर दर्शनार्थ ।
वैसी विचित्र घटना यह है अभागों ?
जैसा सुसिद्ध बनने पर भीख मांगो ॥४३॥

हे ! मित्र देव जिन मंदिर में नहीं है,
पाषाण लेप लिपि कागद में नहीं है ।
वे हैं अनादि तनमंदिर में प्रशांत,
या जान, मान तज, हो जिससे न क्लांत ॥४४॥

कोई कहे जिनप तो मठ तीर्थ में है
कोई कहे गिरि जिनालय में बसे हैं ।
पै देव को बुध तनालय में बताते,
ऐसे अभिज्ञ बिरले महिमें दिखाते ॥४५॥

तू है जरा मरण से यदि भीत भारी
तो नित्य धर्म कर जो वर सौख्यकारी ।
तू धर्म रूप रसका इक घूंट लेगा
जल्दी जरा, जीवन, मृत्युविहीन होगा ॥४६॥

होता न धर्म वह पुस्तक पिच्छिका से,
ना प्राप्त हो पठन पाठन की क्रिया से ।
होता न धर्म मठ-मंदिर वास से भी,
तो प्राप्त हो न-कचलुंचन कर्म से भी ॥४७॥

जो राग रोष, परको तज योग धार,
है आत्म में ठहरता, जग को विसार ।
होता वही धरम तो शिव सौख्य देता,
ऐसे कहे जिनप जो अघ कर्म जेता ॥४८॥

है आयु तो गल रही, गलता न चित्त,
आशा तथा न गलती दिन रैन मत्त ।
व्यामोह तो स्फुरित है हित आत्म का न,
मोही सदा दुख सहे निजको न जान ॥४९॥

तल्लीन ज्यों विषय को मन भोगने में,
त्यों हो सुलीन यदि आतम जानने में ।
तो क्या कहे ? यति जनो ? वह मोक्ष पाता,
योगी समूह इस भाँति सदैव गाता ॥५०॥

जैसा सछिद्र वह जर्जर श्वभ्र गेह
वैसा अचेतन, घृणास्पद, निंद्य, देह ।
भा भावना इसलिए निज आत्म की तू,
संसार पार करके बन रे सुखी तू ॥५१॥

संसार में सकलहैं निज-कार्य व्यस्त,
ना आत्म को समझते भव दुःख त्रस्त ।
निर्भ्रांत कारण यही शिव को न पाते,
ऐसा न हो तुम सभी दुख क्यों उठाते ॥५२॥

वे मूर्ख हैं समय को पढ़ते हुए भी,
जो जानते समय मात्र न आत्म को भी ।
सारे अरे ? इसलिए बहिरात्म जीव,
पाते न मोक्ष, सहते दुख ही अतीव ॥५३॥

हो जाय विज्ञ यदि मुक्त मनेन्द्रियों से,
पृष्टव्य शेष न उन्हें कुछ भी किसी से ।
हो जाय बंद यदि राग प्रवाह सारा !
तो आत्म भाव प्रगटे स्वयमेव प्यारा ॥५४॥

मोहाभिभूत व्यवहार विपत्तिखान,
तू जीव अन्य जड पुद्गल अन्य जान ।
शुद्धात्म को गह अत: तन-मोह छोड़,
विज्ञान-लोचन जरा अब ? भव्य ? खोल ॥५५॥

जो जीव को विमल धाम न मानते हैं,
श्रद्धासमेत उसको नहि जानते हैं
होंगे न मुक्त, न मिले सुख, दु:ख पाते,
ऐसा सदैव जिनदेव हमें बताते ॥५६॥

''घी दूध उत्तम दही'' अरु दीप माला,
ज्योतिर्मयी स्फटिक औ रवि भी निराला ।
पाषाण रत्न रजतानल हेम जो हैं,
दृष्टांत वे समझ लो इस जीव के हैं ॥५७॥

आकाश सादृश तनादिक को सदैव,
जो भिन्न ही समझता अयि वीर देव !
तो शीघ्र ब्रह्म पद को वह यों गहेगा,
आलोक से जग प्रकाशित ही करेगा ॥५८॥

आकाश है अमित जो वर शुद्ध जैसा
है शास्त्र में कथित आतम ठीक वैसा ।
तू व्योम को जड़ अचेतन नित्य जान,
पै आत्म को विमल चेतन धाम मान ॥५९॥

जो जीव दृष्टि रख के निज नासिका पे,
शुद्धात्म को हृदय में लखना यहां पे ।
लज्जामयी जनन को फिर ना धरेगा,
तो देह धार स्तन पान नहीं करेगा ॥६०॥

शुद्धात्म को परम-सुन्दर-देह जानो,
दुर्गंध-धाम तन को जड़, हेय मानो,
रे ! मूर्तमान तन को अपना कहो न,
व्यामोह को तज, रहो, निज में हि मौन ॥६१॥

जो आत्म को स्वबल से जब जानता है
तो कौनसी सफलता मिलती न हा ! है
होता अहो उदित केवल बोध भानु
स्थायी मिले सुख, उसे शिर मैं नमाऊं ॥६२॥

योगीन्द्र ! आशु तजके पर रूप भाव,
जो जानते सहज से अपने स्वभाव ।
अज्ञान नाशकर, केवल बोध पावे,
सिद्धत्व छोड़ फिर वे भवमें न आवे ॥६३॥

है धन्य विज्ञ वह पंडित धैर्यवान,
जो राग रोष तज के पर हेय मान ।
है जानता, निरखता निज आत्मको ही,
जो है विशुद्धतम लोक अलोक बोधी ॥६४॥

हे ! भव्य जीव ! सुन तू मुनि हो व गेही,
जो भी निवास करता निज आत्म में ही ।
तो शीघ्र सिद्धि सुखका वह लाभ लेना,
ऐसा कहे जिनप जो शिव मार्ग नेता ॥६५॥

रे ! तत्वको विरल मानव मानते हैं,
तो तत्व का श्रवण भी विरले करे हैं ।
है लाख में इक मनुष्य सुतत्व ध्यानी,
धारे उसे विनय से बिरले अमानी ॥६६॥

माता,. पिता. सुत सुता, वनिता-कदंब,
मेरे नये, दुरित कारण ही कुटुम्ब ।
ऐसा विचार करता, यदि भव्य संत,
संसार नाश कर के बनता अनन्त ॥६७॥

योगीन्द्र ! इंद्र व नरेन्द्र फनीन्द्र सारे,
ना जीव को शरण वे सब हैं विचारे ।
ऐसे विचार, मुनि तो निजको जनाते,
आधार आत्महित का निजको बनाते ॥६८॥

देही सदा जनमता, मरता अकेला,
होता दुखी, जब सुखी तब भी अकेला ।
कोई न संग उसका जब श्वभ्रजाता,
निस्संग होकर तथा शिव सौख्य पाता ॥६९॥

हे ! मित्र बोल अब तू यदि नित्य एक,
तो अन्य भाव तज हो निज एकमेक ।
स्थायी अपूर्व सुख जो फलतः मिलेगा,
विज्ञान सूर्य तुझको द्रुत ही दिखेगा ॥७०॥

ज्यों आप पाप कहते बस पापको ही,
प्रायः परन्तु सब त्यों कहते बस विमोही ।
वे जो कुपाप कहते उस पुण्यको भी,
वैसे मनुष्य बिरले बुध भव्य कोई ॥७१॥

ज्यों बंध कारक तुझे वह लोह बेड़ी,
त्यों बंध कारक यहां यह हेम बेड़ी ।
जो भी शुभाशुभ-विभाव-विहीन होता,
होता विमुक्त भवसे, शिव सांख्य ढोता ॥७२॥

तेरा दिगम्बर यदा मन जो बनेगा,
तू भी उसी समय ग्रंथ विहीन होगा ।
तू अन्तरंग बहिरंग निसंग नंगा,
तो मोक्ष मार्ग मिलता, बन तू अनंगा ॥७३॥

सुस्पष्ट बीज दिखता वट वृक्ष में ज्यों,
होता प्रतीत वट भी उस बीज में त्यों ।
दीखे उसी तरह जो तन में जिनेश,
त्रैलोक्य पूज्य, जिनकी महिमा विशेष ॥७४॥

मैं हूँ वही जिनप जो वर बोध कोष,
यों भावना सतत भा तज क्रोध रोष ।
ना अन्य मन्त्र इसको तज, मोक्ष पंथ
संसार का विलय हो जिससे तुरन्त ॥७५॥

दो, तीन, चार, छह पांच तथैव सात,
ये सर्व लक्षण विसो गुणसार साथ ।
होते अवश्य जिनमे जब स्पष्ट रूप,
तू जान नित्य उनको परमात्म रूप ॥७६॥

जो राग रोष तज के धर नग्न भेष,
सद ज्ञान दर्शन गुणान्वित हो जिनेश !
अध्यात्म लीन रहते, शिव सौख्य पाते,
ऐसे सदैव जिनदेव हमें बताते ॥७७॥

है तीन में विकल जो मुनि मौन युक्त
अर्थात विमोह अरु राग प्रदोष रिक्त ।
सद ज्ञान आचरण दर्शन पा स्वलीन,
पाता प्रमोक्ष इस भांति कहे प्रवीन ॥७८॥

संज्ञाविहीन बन, चार कषाय मार,
जो धारता वर अनंत चतुष्क भार ।
आत्मा उसे समझ तू भवभीत भिक्षु,
होता अतः परम पावन हे ! मुमुक्षु ! ॥७९॥

जो पंच इन्द्रियजयी तज पंच पाप
औ सर्व प्राण युत है जिनमें ताप ।
होते क्षमादि दशलक्षण धर्म युक्त,
आत्मा उन्हें समझ निश्चय वीर भक्त ॥८०॥

आत्मा हि दर्शन मयी अरु ज्ञान धाम,
चारित्र का सदन है नयनाभिराम ।
औ त्याग रूप व्रत-संयम शील झील,
ऐसा सदा समझ तू बन तू सुशील ॥८१॥

जो आत्म को व पर को नित जानता है,
निर्भ्रांत शीघ्र परको वह त्यागता है ।
संन्यास धारक वही गुरु ओ महान,
ऐसे कहे जिनप केवल ज्ञान वान ॥८२॥

रत्नत्रयान्वित वशी महिमें पवित्र,
होता वही सुखद तीर्थ सदैव अत्र,
तो मोक्ष का सुगम कारण भी वही है ।
ना अन्य मन्त्र शिव हेतु न तंत्र भी है ॥८३॥

अर्थावलोकन सदा जिससे अहा ! हो
योगी उसे कहत दर्शन वे यहां थों !
विज्ञान है सहज आतम जो पवित्र,
तो बार बार निज चिंतन ही चरित्र ॥८४॥

आत्मा जहां गुण वहीं सब विद्यमान,
षट्केवली सब कहें जिनमें न मान ।
योगी अतः परम उत्तम योग धार,
है आत्म को निरखते जग को विसार ॥८५॥

व्यापार बन्द कर इन्द्रिय ग्राम का भी,
निस्संग हो तज परिग्रह नाम का भी ।
तू काय से वचन से मन शुद्धि साथ,
ध्या आत्म, शीघ्र बन जा शिव नारिनाथ ॥८६॥

है बद्ध को समझता यदि तू प्रमुक्त,
होता सुनिश्चय अतः द्रुत बंध युक्त ।
तू स्नान स्वीय सर में यदि रे ! करेगा
तो आशु मुक्ति ललना-पति तू बनेगा ॥८७॥

सम्यक्त्वभूषित सुधी न कुयोनि पाता,
या तो यदा कुगति में यदि हाय ! जाता
सम्यक्त्वका पर न दोष वहां दिखाता,
प्राचीन कर्म रिपु को वह तो नशाता ॥८८॥

जो भव्य सर्व व्यवहार विमोचता है,
औ आत्म में रमण भी करता रहा है
सम्यक्त्वमंडित वही, मुनि मौन धारी
संसार त्याग, करता, वह मोक्षनारी ॥८९॥

सम्यक्त्व में प्रथम जो बुध भी वही है,
औ तीन लोक भर में वह मुख्य भी है ।
पाता वही परम केवल ज्ञान को है,
आदेय, शाश्वत, अपूर्व प्रमाण जो है ॥९०॥

आत्मा सुमेरु सम हो जब जो ललाम,
वार्धक्य, मृत्यु परिशून्य, गुणक धाम ।
भाई ! तदेव वह कर्म न बांधता है,
प्राचीन कर्मरिपुको पर मारता है ॥९१॥

हे ! मित्र ! जो हरित पूरित पद्म-पत्र
होता न लिप्त जल से जिस भांति अत्र ।
आत्मीय भाव रत है यदि जो सदीव,
ना लिप्त कर्म रज से उस भांति जीव ॥९२॥

जो विज्ञ होकर यहां शिव सौख्य लीन,
है बार बार लखता निजको प्रवीन ।
स्वामी वही सहज से वसु कर्म नाश,
पाता अपूर्व अविनश्वर जो प्रकाश ॥९३॥

आत्मा पवित्रतम जो पुरुषानुरूप,
आलोक पूर्ण वह है, गुण मुख्य स्तूप ॥
जाज्वल्यमान अपनी वर ज्योतिगम्य,
मैं क्या कहूँ वचन से, वह दिव्य रम्य ॥९४॥

शुद्धात्म को, अशुचिधाम शरीर से जो,
है भिन्न ही समझता, निज बोध से यों ।
अत्यन्त लीन उस शाश्वत सौख्य में हो,
है जानता वह समस्त जिनागमों को ॥९५॥

जो जानता न निज निर्मल आत्म को है,
औ त्यागता दुखमयी न विभाव को है ।
होगा विशारद जिनागम में भले ही,
पाता न मोक्ष वह तो भव में रुले ही ॥९६॥

संकल्प-जल्प व विकल्प विकार हीन,
जो हैं यहाँ परम श्रेष्ठ समाधि लीन ।
आनन्द काऽनुभव वे करते नितांत,
वे ही अत: परम सिद्ध सदा प्रशांत ॥९७॥

पिंडस्थध्यान फिर दिव्य पदस्थध्यान,
रूपस्थध्यान भजनीय त्रितीय जान ।
तू रूपरिक्त उस अतिम ध्यान को भी,
निस्संग हो समझ तो भव मुक्ति होगी ॥९८॥

हे मित्र ! बोधगुण मडित जीव सारे,
जो लोग ईदृश सदा सम भाव धारे ।
सामायिक तुम सभी समझो उसी को,
ऐसा जिनेश कहते महिमें सभी को ॥९९॥

जो रोष तोष मय सर्व विकार भाव,
है, शीघ्र त्याग, धरता वर साम्य भाव ।
सामायिकी नियम से वह ही कहाता,
ऐसा निरंतर यहां ऋषि वृंद गाता ॥१००॥

हिंसादि पंच विध निंद्य कुपाप छोड़,
जो आत्म को अचल मेरु रखे अडोल ।
होता चरित्र उसका वह जो द्वितीय,
देता प्रमोक्ष, सुख जो अति श्लाघनीय ॥१०१॥

मिथ्यात्व राग विमदादि कल्याण से जो ?
सम्यक्त्व की विमलता बढ़ती उसे भी ।
जानो सदैव परिहार विशुद्धि रूप,
होता प्रमोक्ष जिससे सुखतो अनूप ॥१०२॥

जो सूक्ष्म लोभ हटने पर सूक्ष्मभाव,
है आत्म का नियम से करता बचाव ।
होता वही परम सूक्ष्म चरित्र शम्य,
है धाम नित्य सुखका शिवका अवश्य ॥१०३॥

आत्मा सुसिद्ध शिव, निश्चय से महात्मा,
होता वही विमल जो अरहत नामा ।
आचार्य वर्य, उवझाय सुपूजनीय,
स्वामी ! वही नियम से मुनि वदनीय ॥१०४॥

आत्मा हि ईश्वर वही शिव, विष्णु बुद्ध,
ब्रह्मा, महेश, परमातम, सिद्ध, शुद्ध ।
होता अनत, वृष, शकर भी जिनेश,
पूजूं नमूं स्तव करूं उसका हमेश ॥१०५॥

पूर्वोक्त सार्थक सुलक्षण यु... जो हैं,
संक्लेशहीन सुखरूप जिनेश ओ है ।
है आत्म में न उनमें कुछ भी विभेद,
निर्भ्रांत ही सतत तू इस भांति वेद ॥१०६॥

जो शुद्ध, बुद्ध अब लों जिन हो चुके हैं,
ये सिद्ध जो विमल संप्रति हो रहे हैं ।
होंगे भविष्य भर में निजदर्श से ही,
तू जान ईदृश अतः तज मोह मोही ! ॥१०७॥

एकीभाव

मूल : एकीभाव स्तोत्र (संस्कृत)

रचनाकार : आचार्य वादिराज

पद्यानुवाद : आचार्य विद्यासागर

पद्यावली रचित थी निज बोधनार्थ
योगींद्र देव यति से वर चित्त साथ ।
मैंने वसत तिलका वर वृत द्वारा
भाषामयी अब उसे कर दी सुचारा ॥१०८॥

हे योगसार श्रुतसार व विश्वसार
जो भी इसे बुध पढ सुख तो अपार ।
मे भी इसे विनय से पढ़ आत्म ध्याऊ
विद्यादिसागर जहा डुबकी लगाऊ ॥१०९॥

एकीभाव

(मदक्राताछद)

मेरे द्वारा अमित भवम प्राप्त जो कर्म सारे
तेरी प्यारी जबकि स्तुति म शीघ्र जात निवारे ।
मेरे को क्या फिर वह न हीं वेदना म बचाती ?
स्वामी ! सद्य लघु दरित को क्या नहीं रे भगाती ? ॥१॥

वे ही हर्त्ता दुख तिमिर के दिव्य भानु जिनश
ऐसे सारे गणधर कहे आपका ज्यो दिनेश ।
पै हे मेरे मुदित मन म वास तेरा हमेशा
तो कैसी ओ ! फिर हृदय मे रे ! रहे पाप दोषा ॥२॥

जा कोई भी विमल मनसे मन्त्र से स्तोत्र से या
भव्यात्मा ज्यो भजन करता आपका मोदसे या ।
श्रद्धानी के अह ? है उसके देह
सारी नाना वर विषमयी व्याधिया दौड़ती जो ॥३॥

आनेसे जो अमर पुर से पूर्व ही मेदिनी भी
स्वामी ! तेरे सुकृत बलसे हेमता को वरी थी ।
पै मेरे तो मन भवन मे वास जो आपका है
कोढी काया कनक मय हो देव ! आश्चर्य क्या है ? ॥४॥

तेरे म ही सब विषय सबधिनी शक्ति भी है
स्वामी ! जो है प्रतिहत नही लोक बन्धू तभी हैं ।
मै कोढ़ी हूँ चिर हृदय मे आप मेर बसे है
कैसे काया जनित मल दुर्गन्ध को हा ! सहे है ॥५॥

जन्मो स मै भ्रमण करता भाग्य से अत्र आया
कर्मो न ता भव विपिन मे हा ! मुझे रो रुलाया ।
म ता तेरे नय सरसि मे देव ! गोता लगाता
कस हे आ ! फिर अब मुझे द रव दावा जलाता ? ॥६॥

होता तरे चरण युग सानिध्य स पद्म दख
लक्ष्मी धामा सुरभित तथा हेम जेसा सुरेख ।
प मेरा जो मन तव करे स्पर्श सर्वागको का
ता क्या पाऊ न फिर अब मै सोख्य मोक्षादिकोका ? ॥७॥

प्याला पीया वच अमृत का आपके भक्ति से है
जो पाया भी मनुज जब आशीश को आपसे है ।
प्राय स्वामी ! अतुल सुख मे लीन भी ह यहा पे
कैस पीड़ा दुरित मय कारे उसे दे वृथा पे ॥८॥

व्यौमस्पर्शी मणिमय तथा मानका स्तम्भ भाता
आखाका ज्यो विषय बनता मानको त्यो नशाता ।
आया ऐसा सुबल उसमे आपके संग से है
स्वामी ! देखो वह इसलिए ही खड़ा ठाट से है ॥९॥

काया को * छू,
सद्य: ही है जन-निचयकी रोग धूली मिटाती ।
ध्यानी के तो उर जलज पे आप बैठे यहा हैं,
पाता है तो वह स्वधन आश्चर्य भी क्या तदा है ॥१०॥

मेरे सारे भव भव दुखों को विभो जानते हैं,
होती क्लांती सतत जिनकी याद से हा ! मुझे हैं ।
विश्वज्ञाता सदय तुमको भक्ति से आज पाया,
हूँ मैं तेरा मम हृदय में ठीक विश्वास लाया ॥११॥

स्वामी-जीवं-धरवदन से आपके मंत्र को जो,
कुत्ता पाता जबकि सुनके अंत में सौख्यको यों ।
मालाको ले सतत जपता आपके मंत्र को जो,
आशंका क्या फिर अमर हो इंद्रता को वरे तो ? ॥१२॥

कोई ज्ञानी वर चरित में लीन भी जो सदा है,
तेरी श्रद्धा यदि न उसमें तो सभी हा वृथा है ।
भारी है रे ! शिव-सदन के द्वार पे मोह ताला,
कैसे खोले, उस बिन उसे, हो सके जो उजाला ॥१३॥

तेरा होता यह यदि न वाक्दीप तत्वावभासी,
जो है स्वामी ! वरसुखद औ मोक्ष मार्ग प्रकाशी ।
छाई फैली सिवपथ जहां मोहरूपी निशा है ।
पाते कैसे फिर तब उसे हाय ? मिथ्या दिशा है ॥१४॥

आत्मा की जो द्युति अमित है मोद दात्री तथा है,
मोही को तो वह इह न ही प्राप्त हा ! यों व्यथा है ।
पे सारे ही लघु समय में आपके भक्त लोग,
वे पाते हैं तव स्तवन से जो उसे धार योग ॥१५॥

बस्ती गंगा नय हिमगिरी से समुत्पन्न जो है,
पैरो को छू तव अरुशिखा बीचि मे जा मिली है ।
मेरा स्वामी ! सुमन उसमे स्नान भी तो किया है,
तो काया मे विकृति फिर भी क्यों रही देव ! हा ! है ॥१६॥

ध्याऊं भाऊ जब अचल हो, आपकी ध्येय मान,
ऐसी मेरी वह मति तदा आप औ मै समान ।
मिथ्याही ये मम मति विभो ! कर्म का पाक रे है,
तो भी दोषी तव स्तवन से मोक्ष लक्ष्मी वरे है ॥१७॥

वाणी रूपी जलधि जग मे व्याप्त तेरा जहा पे,
हटाते ।
ज्ञानी ध्यानी मथकर उसे चित्तमदार से वे
सारे ही हैं द्रुत परम पीयूष पी तृप्त होते ॥१८॥

शृंगारो को वह पहनता जन्म से जो कुरूप,
वैरीयों से परम डरता जो धरे शस्त्र भूप ।
धाता, त्राता भुगपति तथा मोक्षकाता सुकांत
ऐसे माने तवयश यहां तो प्रशसा नितात ॥२०॥

तेरी वाणी तव चरण तू दूसरो सा न ईश,
तो कैसा हो तव स्तवन मे जो हमरा प्रवेश ।
तो भी स्वामी ! यह स्तुति सदा आपके सेवको को
होगी प्यारी अभिलषित को और देगी सुखों को ॥२१॥

रागी द्वेषी जिनवर नही, ना किसी ना किसी की अपेक्षा
मेरे स्वामी ? वर सुखद है मार्ग तेरा उपेक्षा ।
तो भी तेरी वह निकटता कर्महारी यहा है,
ऐसी भारी विषद महिमा दूसरो मे कहा है ? ॥२२॥

कोई तेरा स्तवन करता भाव से है मनुष्य
होता ना हीं शिवपथ उसे वाम स्वामी ? अवश्य ।
जाते जाते शिव सदन की ओर जो आत्म ध्याता,
मोक्षार्थी तो तब-समय में यो न संदेह लाता ॥२३॥

जो कोई भी मनुज मन में आपको धार ध्याता,
भव्यात्माओं अविरल प्रभो ? आप में लौ लगाता
जल्दी से है शिव सदन का श्रेष्ठ जो मार्ग पाता,
श्रेयोमार्गी वह तुम सुनो ! पंच कल्याण पाता ॥२४॥

ज्ञानी योगी स्तुति कर सके ना यदा वे यहाँ हैं,
तो कैसे मैं तव स्तुति करूं पै तदा रे मुधा है ।
तो भी तेरे स्तवन मिष से पूर्ण सम्मान ही है,
आत्मार्थी को विमल सुख का, स्वर्ग का वृक्ष ही है ॥२५॥

हैं वादिराज वर-लक्षण पारगामी,
है न्याय-शास्त्र सब में बुध अग्रगामी ।
हैं विश्व में नव रसान्वित काव्य धाता,
हैं आपसा न जग भव्य सहाय दाता ॥२६॥

त्रैलोक्य पूज्य यतिराज सुवादिराज,
आदर्श साधुश सदा वृष-शीक्षा-ताज ।
वंदू तुम्हें सहज ही सुखतो मिलेगा,
'विद्यादिसागर' बनूं दुख तो मिटेगा ॥२७॥